**कुछ प्रश्‍न**

**अब्दुल बहा  
द्वारा दिये गये उत्तर**

**अब्दुल बहा**

प्राक्कथन 6

लेखिका द्वारा प्रथम संस्करण की प्रस्तावना 10

**भाग 1**

**मानवजाति के विकासक्रम में ईशदूतों का प्रभाव**

1. प्रकृति एक सार्वभौम नियम से शासित है 13

2. ईश्वर के अस्तित्व विषयक प्रमाण एवं तर्क 15

3. एक शिक्षक की आवश्यकता 17

4. इब्राहीम 22

5. मूसा 24

6. ईसामसीह 26

7. मुहम्मद 28

8. बाब 34

9. बहाउल्लाह 35

10. धार्मिक ग्रन्थों से बौद्धिक प्रमाण और पारम्परिक तर्क 43

11. संत जॉन के धर्मप्रकाशन के ग्यारहवें अध्याय की समीक्षा 50

12. ईसाइया के ग्यारहवें अध्याय की समीक्षा 64

13. जॉन की धर्मप्रकाशन के बारहवें अध्याय की समीक्षा 68

14. भौतिक तथा आध्यात्मिक चक्र 73

15. सच्चा आनन्द 78

**भाग 2**

**कुछ ईसाई विषय**

16. बुद्धिगम्य यथार्थ और अनुभवगम्य स्वरूपों में उनकी अभिव्यक्ति 82

17. ईसामसीह का जन्म 85

18. ईसामसीह की महानता 87

19. सच्चा बपतिस्मा 89

20. बपतिस्मा और ईश्वर का परिवर्तनशील विधान 91

21. रोटी और मदिरा 94

22. ईसा के चमत्कार 97

23. ईसा का पुनरूत्थान 100

24. पट्टशिष्यों पर पवित्र चेतना का अवतरण 102

25. पावन चेतना 103

26. ईसा का दूसरी बार आगमन और निर्णय दिवस 105

27. त्रित्व 107

28. ईसामसीह का पूर्व-अस्तित्व 109

29. पाप और प्रायश्चित 111

30. आदम और हौवा 115

31. पावन चेतना की निन्दा 119

32. ‘‘आह्वान अनेकों का होता है पर चुने कुछ ही जाते है’’ 121

33. ईशदूतों का प्रत्यागमन 123

34. पीटर और पोप का पद 124

35. स्वतंत्र इच्छा और प्रारब्ध 129

**भाग 3**

**ईश्‍वरावतारों की शक्तियाँ एवं दशाएँ**

36. पाँच प्रकार की चेतना 132

37. ईश्वर तथा उसके अवतारों में सम्बन्ध 135

38. दिव्य अवतारों की तीन स्थितियाँ 140

39. ईश्वरावतारों की मानवीय तथा दिव्य स्थितियाँ 143

40. ईश्वरावतारों का ज्ञान 146

41. सार्वभौमिक चक्र 148

42. दैवीय अवतारों की शक्ति तथा पूर्णताएँ 150

43. दो प्रकार के ईशदूत 152

44. ईश्वर द्वारा ईशदूतों को लगाई गई फटकार 155

45. परम महान अचूकता 159

**भाग 4**

**मनुष्‍य की उत्पत्ति, शक्तियाँ और दशाएँ**

46. विकासक्रम और मनुष्य की वास्तविक प्रकृति 164

47. ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति और मानव-विकासक्रम 167

48. मनुष्य तथा पशु में अन्तर 172

49. विकासक्रम और मनुष्य का अस्तित्व 177

50. मनुष्य की मौलिकता के आध्यात्मिक प्रमाण 180

51. मनुष्य में चेतना और मस्तिष्क का आविर्भाव 182

52. चेतना का शरीर में प्रकटन 184

53. ईश्वर और उसकी सृष्टि में सम्बन्ध 186

54. ईश्वर से मानव चेतना का प्रसरण 188

55. मन, चेतना और आत्मा 191

56. मनुष्य की अन्तर्बाह्य शक्तियाँ 193

57. मानव चरित्र में असमानताएँ 194

58. मानव परिज्ञान का प्रसार एवं सीमायन 198

59. मानव का ईश्वर-बोध 200

60. चेतना की अविनाशिता (1) 203

61. चेतना की अविनाशिता (2) 206

62. अस्तित्व की असीमित पूर्णताएँ और परलोक में आत्मा की प्रगति 209

63. सभी का अपनी ही श्रेणी के अन्तर्गत विकास 212

64. मनुष्य का स्थान तथा मरणोपरान्त विकास 213

65. आस्था और कार्य 216

66. शारीरिक मृत्यु के बाद बुद्धिपरक आत्मा की संस्थिति 217

67. शाश्वत जीवन तथा ईश्वरीय जगत में प्रवेश 219

68. दो प्रकार का भाग्य 222

69. नक्षत्रों का प्रभाव और वस्तुओं का अन्तःसम्बन्ध 223

70. स्वतंत्र इच्छा और उसकी सीमाएँ 226

71. आध्यात्मिक उद्घाटन 229

72. औषधिरहित उपचार 232

73. भौतिक साधनों से उपचार 335

**भाग 5**

**मिश्रित विषय**

74. शुभ और अशुभ 238

75. दो प्रकार के संताप 240

76. ईश्वर की दया तथा न्याय 241

77. अपराधियों को दण्ड 243

78. हड़ताल 247

79. अस्तित्व के संसार की वास्तविकता 251

80. पूर्व-अस्तित्व तथा उत्पत्ति 252

81. पुनर्जन्म 254

82. अस्तित्व की एकता 260

83. बोध के चार मानक 266

84. सत्कर्म और उनकी आध्यात्मिक पूर्वापेक्षाएँ 268

टिप्पणियाँ 273

संदर्भ 282

**प्राक्कथन**

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में बहाउल्लाह के धर्म का पश्चिम में प्रसार हुआ। शीघ्र ही पूर्व में भी इसके समान एक प्रवृत्ति ने बल पकड़ा। थोड़े से वर्षों के अन्तराल में ही पाश्चात्य तीर्थयात्रियों का प्रथम दल कारानगरी अक्का में आया जहाँ प्रभुधर्म के प्रवर्तक के पार्थिव जीवन तथा उनकी धर्मसेवा का समापन हुआ था और जहाँ संविदा के केन्द्र अब्दुल बहा निवास करते थे। अक्का आने वाले इन प्रारम्भिक तीर्थयात्रियों के बीच सर्वाधिक विशिष्ट व्यक्तियों में से एक थी लॉरा क्लिफोर्ड बर्नी। वह वाशिंगटन डी. सी. के विद्वानों एवं कलाकारों के एक लब्ध प्रतिष्ठित परिवार की पुत्री थीं। वर्ष 1900 के आसपास उनको पेरिस में बोल्स मैक्सवेल से नवधर्म का परिचय प्राप्त हुआ था और उसके बाद शीघ्र ही अक्का की उनकी अनेकानेक यात्राओं में से पहली यात्रा सम्पन्न हुई।

अब्दुल बहा के धर्म-सेवाकाल के ये सबसे अधिक संकटपूर्ण और नाटकीय वर्ष थे। ओटोमन अधिकारियों ने उनको कारानगर में बंद करके रखा था जहाँ उन पर निरन्तर निगरानी रखी जा रही थी और पुनः एक नये निर्वासन अथवा प्राणदण्ड का भय उनके सामने निरन्तर खड़ा था। प्रख्यात पश्चिमी मेहमानों के सत्कार की बात तो छोड़िये, कड़ाई और संशय भरी इन परिस्थितियों में किसी आगंतुक का स्वागत करना भी खतरे से खाली न था। फिर भी अब्दुल बहा नवअंकुरित प्रभुधर्म के बीजों को पोषित करने के लिए दृढ़ संकल्पित थे। इस प्रकार वर्ष 1904 से 1906 के बीच की इस अंधकारमय कालावधि के मध्य कु. बर्नी कई दीर्घकालीन अक्का-प्रवास कर सकीं। कभी-कभी वह एक बार में कई सप्ताहों या महीनों के लिए ठहरीं और इस बीच अनेक अवसरों पर उनको अब्दुल बहा के साथ मिल-बैठने और विविध विषयों पर प्रश्न करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अनेक वार्तालाप लंच टेबल पर सम्पन्न हुए। अब्दुल बहा के एक दामाद या उनके तीन तत्कालीन सचिवों में से एक के लिए व्यवस्था की गई थी कि वह उनके उत्तरों को मूल रूप में फारसी में लिख लिया करें। इस प्रकार तैयार विवरणों के संकलन से एक संचयन बनाया गया। तत्पश्चात अब्दुल बहा ने इन विवरणों में दो बार अपने हाथ से सुधार किए, कभी तो उनका भरपूर संशोधन करके और साथ ही शब्द-योजना का सावधानी के साथ पुनरीक्षण करके भी।

चयन तथा पुनरीक्षण प्रक्रिया पूर्ण हो जाने के बाद ‘सम आन्सर्ड क्वेश्चंस’ के तीन भिन्न-भिन्न संस्करण प्रथम संस्करण 1908 में बड़े प्रकाशन केन्द्रों से प्रकाशित हुए - हॉलैण्ड में ई. जे. ब्रिल द्वारा मौलिक ‘फारसी मूल पाठ, लंदन में केगम पॉल, ट्रेन्च, ट्रब्‍नर एण्ड कम्पनी द्वारा कु. बर्नी का अंग्रेजी अनुवाद, और हिपोलिट ड्रेफस (जिनसे कु. बर्नी ने बाद में विवाह कर लिया) कृत एक फ्रांसीसी अनुवाद जो पेरिस में अर्नेस्ट लिरोक्य द्वारा प्रकाशित किया गया।

विषय सूची के संक्षिप्त अध्ययन से सम्मिलित विषय वस्तु के विस्तार की झलक पाई जा सकती है। भाग-1 में कुछ विश्व धर्मों के संस्थापकों द्वारा सम्पूर्ण मानव इतिहास पर पड़े प्रभाव से सम्बन्धित परिचयात्मक वार्ताओं के साथ ही बाइबिल की कुछ भविष्यवाणियों पर प्रकाश डालते हुए कई अध्याय दिए गये हैं। भाग-2 ईसाई धर्ममत के प्रमुख तत्वों-बपतिस्मा, त्रियेक, परमेश्वर, परम प्रसाद और ईसा के पुनरूत्थान की नवीन व्याख्यायें प्रस्तुत करता है। भाग-3 ईश्वरावतारों की शक्तियों एवं स्थितियों - विश्व में उनका विलक्षण स्थान, उनके ज्ञान तथा प्रभाव का स्रोत और इतिहास के मंच पर उनके प्रादुर्भाव की चक्रीय प्रकृति से सम्बन्धित है। भाग-4 मनुष्य के मूलोद्गम, शक्तियों और दशाओं के अतिरिक्त धरती पर मानव विकासक्रम के निहितार्थों, आत्मा की अमरता, मनः प्रकृति, और आत्मा तथा देह के बीच सम्बन्ध की जानकारी देता है। भाग-5 में मिश्रित प्रकरणों के साथ, श्रम सम्बन्धों तथा अपराधियों की सजा जैसे व्यावहारिक विषयों से लेकर अस्तित्व की एकता के सूफी मत और पुनर्जन्म जैसे दुरूह विषयों के साथ पुस्तक का समापन होता है।

‘सम आन्सर्ड क्वेश्चंस’ में उन प्रकरणों का क्षेत्र विस्तृत एवं व्यापक होते हुए भी, पुस्तक का अभिप्राय यह नहीं था कि वह अपने आपमें पूर्ण विचार प्रणाली का सर्वांगपूर्ण प्रतिपादन करे, जैसा कि ग्रन्थ के शीर्षक से स्पष्ट होता है। इसीलिए प्रभुधर्म की कई मूलभूत शिक्षाओं का स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त, उन महीनों और वर्षों के अन्तराल में जब ये वार्ताएं दी गईं एक ही प्रकरण को कभी-कभी पृथक वार्तालापों में भिन्न परिप्रेक्ष्य से सम्बोधित किया गया था। इसके फलस्वरूप किसी विषय को पूर्णतया समझने के लिए अपेक्षित अवधारणाएँ विभिन्न अध्यायों में फैली हो सकती हैं, अथवा किसी परवर्ती अध्याय की विषय-वस्तु किसी पूर्व अध्याय की समझ का आधार बन सकती है। अंत में, यह भी ध्यान देने योग्य है कि अब्दुल बहा ने यद्यपि मूल पाठ का पुनरीक्षण एवं संशोधन किया था, किन्तु उन्होंने उत्तरों के आधारभूत स्वरूप को बदलने या सामग्री को पुनर्गठित और सुगठित बनाने की दिशा में कोई प्रयास नहीं किया। अतः किसी दिए गये विषय पर अब्दुल बहा के प्रतिपादन का पूरा चित्र विकसित करने के लिए, सावधान पाठक को किसी अध्याय को सम्पूर्ण पुस्तक के प्रसंगाधीन और पुस्तक को बहाई शिक्षाओं की सम्पूर्ण सामग्री के वृहत्तर संदर्भ के अन्तर्गत मानना चाहिए।

एक उल्लेखनीय उदाहरण प्रजातियों के विकासक्रम विषय के निरूपण का है। भाग-4 में स्पष्ट रूप से इसका विवेचन हुआ है और इसे कई बहाई शिक्षाओं, विशेषतया विज्ञान तथा धर्म के सामंजस्य के सिद्धान्त के प्रकाश में समझा जाना आवश्यक है। धार्मिक विश्वास को विज्ञान तथा तर्क का खण्डन नहीं करना चाहिए। अध्याय 46 से 51 में आए कुछ अनुच्छेदों के पाठन से कुछ अनुयायीजन ऐसे निजी निष्कर्षों पर पहुंच सकते हैं जो आधुनिक विज्ञान के विपरीत हैं। फिर भी विश्व न्याय मंदिर ने स्पष्ट किया है कि बहाई अब्दुल बहा के कथनों की अपनी समझ का स्थापित वैज्ञानिक परिदृश्यों के साथ मेल करने का पूरा प्रयास करते हैं। इसलिए यह निष्कर्ष निकालना आवश्यक नहीं है कि ये अनुच्छेद विज्ञान द्वारा अस्वीकृत अवधारणाओं का वर्णन करते हैं। उदाहरण के लिए, एक प्रकार का “समानान्तर” विकासक्रम, जो मानव प्रजातियों के जैविक विकासक्रम की एक पृथक रूपरेखा का विचार करता है और जो पृथ्वी पर जीवन के प्रारम्भकाल से पशु जगत के ही तुल्य है।

इस पुस्तक तथा अन्य स्थलों में अब्दुल बहा के वक्तव्यों की सजग समीक्षा यही सुझाती है कि उनकी दिलचस्पी विकासक्रम के तन्त्रों में नहीं, बल्कि नवीन सिद्धान्त के दार्शनिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक निहितार्थो में है। उदाहरणार्थ, “प्रजातियाँ” शब्द का उनका प्रयोग शाश्वत या स्थायी रूपों की अवधारणा उत्पन्न करता है, जो वैसा नहीं है जिस रूप में वह शब्द समकालीन जीव-विज्ञान में परिभाषित हुआ है। वह पदार्थ जगत से परे एक यथार्थ को ध्यान में रखते हैं। अब्दुल बहा जहाँ अन्यत्र उन शारीरिक सहज गुणों को स्वीकारते हैं जो मानवों तथा पशुओं में सामान्य हैं और जो पशु जगत1 से ही उत्पन्न होते हैं, वहीं इन वक्‍तृताओं में वह एक अन्य क्षमता बुद्धिसंगत चेतना की क्षमता - पर बल देते हैं जो मनुष्य को पशु से पृथक करती है और जो पशुजगत या स्वयं प्रकृति में भी प्राप्य नहीं है। मानव चेतना की एक अभिव्यक्ति, यह अनोखी क्षमता विकासक्रम की प्रक्रिया से उत्पन्न नहीं है बल्कि सम्भावित रूप में यह सृष्टि में ही विद्यमान है। जैसाकि अब्दुल बहा स्पष्ट करते हैं, .....“मनुष्य चूंकि दस हजार या एक लाख वर्ष पहले एक जैसे पार्थिव तत्वों से, एक सी मापों और यात्राओं के साथ, संयोजन तथा मिश्रण की एक ही विधि और अन्य प्राणियों के साथ एक जैसी पारस्परिक क्रियाओं से उत्पन्न हुआ है, अतः यह समझा जा सकता है कि उस समय मनुष्य ठीक वैसा ही था जैसा वह आज है।” “और यदि आज से एक सौ करोड़ बरसों के बाद”, वह आगे कहते हैं, “मनुष्य के घटक तत्वों को इसी अनुपात की मापों में, इसी विधि से, तथा अन्य प्राणियों के साथ इसी जैसी पारस्परिक क्रिया के साथ मिश्रित किया जाए।”2 इस प्रकार उनका मौलिक तर्क वैज्ञानिक प्राप्तियों की ओर नहीं, बल्कि उन भौतिकतावादी दावों की ओर है जो उन पर निर्मित हैं। बहाइयों को विकासक्रम का विज्ञान तो स्वीकार हैं, लेकिन यह निष्कर्ष कि मानवजाति पशु जगत की एक आनुषंगिक शाखा मात्र है - अपने सभी सहवर्ती सामाजिक निहितार्थों सहित - स्वीकार नहीं है।

‘सम आन्सर्ड क्वैश्चन्स’ के आरम्भिक प्रकाशन के बाद के बरसों में यह तथ्य अत्यधिक स्पष्ट हुआ है कि एक सतर्क और समग्र संशोधन के उपरान्त ही अनुवाद लाभदायक होगा। कु. बर्नी, जैसाकि उन्होंने स्वयं कहा, फारसी भाषा की एक अध्येता थीं और सुयोग्य होते हुए भी वह उसकी जटिलताओं पर पूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं कर सकीं और निस्संदेह वह उस देदीप्यमान प्रकाश का लाभ नहीं ले सकीं जो बाद में शोग़ी एफ़ेंदी के अधिकारिक अनुवाद द्वारा प्रभुधर्म के पवित्र मूल पाठों पर पड़ना था। इसके अतिरिक्त मात्र थोड़े से आवश्यक संशोधन ही किए गये थे, अधिकांश को प्रथम संस्करण के मूलपाठ से बदला नहीं गया।

तदुपरान्त, अब्दुल बहा की पश्चिम की यात्राओं का शताब्दी-महोत्सव इस ग्रन्थ की प्राथमिक उत्प्रेरक और प्रथम अनुवादक के रूप में लारा क्लिफोर्ड बर्नी के अविनाशी योगदान को सम्मानित करने और इन “अमूल्य व्याख्याओं”3 का एक संशोधित अनुवाद प्रस्तुत करने का एक उपयुक्त अवसर प्रदान करता है। इस पुनर्नुवाद का मुख्य उद्देश्य मूल के तत्व एवं शैली को, विशेष रूप से अब्दुल बहा की व्याख्याओं की सूक्ष्मताओं को अधिक स्पष्ट रूप से ग्रहण करके, बेहतर ढंग से प्रस्तुत करना है। एक ऐसी शैली के निकटतर पहुँचने का प्रयास किया गया है जो एक साथ वार्तालापपरक और उन्नत हो तथा सम्पूर्ण मूल पाठ में प्रयुक्त दार्शनिक शब्दावली को भी अधिक सुसंगत बनाया गया है। तथापि, मूल अनुवाद से आबद्ध न रहते हुए, यह रूपान्तरण उसकी अनेक मनोहर अभिव्यक्तियो एवं भाषा के लालित्यपूर्ण मोड़ों को बनाए रखने का महत्प्रयास करता है।

‘सम आन्सर्ड क्वेश्चंस’ अपने प्रकाशन काल से ही अब्दुल बहा की प्रगाढ़ अन्तर्दृष्टि का एक अधिकारिक भण्डार और प्रत्येक बहाई पुस्तकालय का अनिवार्य अंग रहा है। शोग़ी एफ़ेंदी ने माना था कि यह पुस्तक प्रभुधर्म की आधारभूत मान्यताओं को सरल एवं स्पष्ट भाषा में प्रतिपादित करती है और इसकी विषय वस्तु बहाई धर्मप्रकाशन के महत्व तथा निहितार्थों को हृदयंगम करने के लिए अत्यावश्यक है। उन्होंने लिखा था कि ‘सम आन्सर्ड क्वेश्चंस’ में व्यक्ति को “उन सभी उलझन भरे प्रश्नों का सूत्र मिलेगा जो सच्चे ज्ञान की खोज में मानव मन को उद्वेलित करते हैं। सावधानी और धैर्य के साथ जितना ही अधिक इस पुस्तक को पढ़ा जाएगा उतने ही अधिक उसके गूढ़ार्थ प्रकट होंगे, और उतनी ही अधिक उसके आन्तरिक सत्य एवं अभिप्राय की समझ प्राप्त होगी।”4 आशा है कि यह नया अनुवाद “आधारभूत आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित ज्ञान की”5 इस अक्षय खान तक पहुंचने में आगामी पीढ़ियों की सहायता करेगा।

**लेखिका द्वारा प्रथम संस्करण की प्रस्तावना**

“अपनी थकावट के क्षण मैंने तुमको दिए हैं,” मेरे एक प्रश्न का उत्तर देने के बाद टेबल से उठते हुए अब्दुल बहा के शब्द थे।

जैसा इस दिन हुआ, वैसा ही हुआ करता। काम के समय के बीच, उनकी थकान को ताजा गतिविधि में विश्राम मिलता था। कभी-कभी वह विस्तारपूर्वक बोल पाते थे, किन्तु प्रायः प्रस्तुत विषय के लिए अधिक समय की अपेक्षा होने के बावजूद, कतिपय क्षणों के उपरान्त ही वह अन्यत्र आकर्षित हो जाया करते, और फिर कई-कई दिन और सप्ताह भी निकल जाते जिसमें मुझे कुछ बताने का कोई अवसर उनके पास नहीं होता था। लेकिन मैं पूरा धैर्य रख सकती थी, क्योंकि मेरे सामने सदैव इससे बड़ा सबक - उनके निजी जीवन का सबक रहता था।

अक्का के मेरे कई भ्रमणों के दौरान, ये उत्तर फारसी में उसी समय लिखे गये जब अब्दुल बहा बोले, प्रकाशन की दृष्टि से नहीं, बल्कि मात्र इसलिए कि वे मेरे भावी अध्ययन के लिए मेरे पास रहें। आरम्भ में इनको दुभाषिए के शाब्दिक अनुवाद के अनुकूल बनाना पड़ा। बाद में, जब मैंने फारसी का किंचित ज्ञान अर्जित किया तो इन उत्तरों को अपनी सीमित शब्दावली के अनुरूप रूपान्तरित करना पड़ा। यह कार्य आंकड़ों एवं वाक्यांशों की पुनरूक्ति के लिये जिम्मेदार है, क्योंकि अब्दुल बहा से अधिक मनोहारी अभिव्यक्तियों पर व्यापक नियंत्रण किसी के पास नहीं है। वह वक्ता या कवि नहीं, बल्कि ऐसे शिक्षक हैं जो अपने आप को अपने शिष्य के अनुकूल बना लेते हैं।

यह पुस्तक उस बहाई धर्म के मात्र कुछ पहलुओं को प्रस्तुत करती है जिसका संदेश सार्वभौमिक है और जिसके पास प्रत्येक प्रश्नकर्ता के लिए उसके विकास तथा आवश्यकताओं के लिए उपयुक्त उत्तर है।

मेरे प्रसंग में, शिक्षाओं को मेरे अल्प ज्ञान के अनुरूप सरल बनाया गया, और इसीलिए वे पूर्ण और सर्वांगीण नहीं हैं, जैसाकि विषय सामग्री की तालिका से परिलक्षित हो सकता है। विषय सामग्री की तालिका मात्र यहाँ व्यवहृत विषयों की सूचना देने के लिए जोड़ी गई है। लेकिन मेरा विश्वास है कि जो मेरे लिए अत्यधिक मूल्यवान रहा है वह दूसरों के लिए भी उपयोगी हो सकता है क्योंकि अपनी भिन्नताओं के बावजूद सभी मनुष्य यथार्थ की अपनी खोज में एक ही हैं, और इसीलिए, मैंने इन वार्ताओं को प्रकाशित करने के लिए अब्दुल बहा की अनुमति मांगी है।

मूलरूप से ये वार्ताएँ किसी विशेष क्रमानुसार नहीं दी गई थीं, लेकिन अब पाठक की सुविधा के लिए इनको मोटे तौर पर वर्गीकृत किया गया है। कहीं-कहीं अंग्रेजी की क्षति होते हुए भी, फारसी मूलपाठ का सूक्ष्म अनुसरण किया गया है, थोड़े से परिवर्तन मात्र वहीं किए गये हैं जहाँ शाब्दिक अभिव्यक्ति बहुत अधिक उलझी हुई और अस्पष्ट प्रतीत हुई, और अर्थ को अधिक स्पष्ट बनाने के लिए अपेक्षित अन्तर्वेशित शब्द पारिभाषिक अथवा व्याख्यात्मक संकेतों द्वारा अत्यधिक वैचारिक हस्तक्षेप से बचने के लिए किसी तरह से सूचित नहीं किए गये हैं। अनेक फारसी तथा अरबी नामों को भी उनके सरलतम रूप में लिखा गया है और इसके लिए किसी वैज्ञानिक प्रणाली का कड़ाई के साथ पालन नहीं किया गया है जो औसत पाठक के लिए उलझन ही उत्पन्न करता।

-लॉरा क्लिफोर्ड बर्नी

**भाग 1**

**मानवजाति के विकासक्रम में ईशदूतों का प्रभाव**

**1**

**प्रकृति एक सार्वभौम नियम से शासित है**

1. प्रकृति वह अवस्था या वास्तविकता है जो बाह्य रूप से जीवन और मृत्यु का स्रोत है, अथवा दूसरे शब्दों में, प्रत्येक वस्तु के संघटन और विघटन का मूल कारण है।

2. यह प्रकृति एक समग्र संगठन, अटल नियमों, परिपूर्ण व्यवस्था और एक उत्कृष्ट परिकल्पना के अधीन है जिससे वह कभी विचलित नहीं होती। यह इस हद तक सत्य है कि यदि आप अन्तर्दृष्टि और निर्णयात्मक दृष्टि से अवलोकन करें तो आप देखेंगे कि लघुतम अदृश्य परमाणु से लेकर अस्तित्व जगत के वृहत्तम पिण्डों तक सभी वस्तुएँ जैसे सूर्य या अन्य विशाल नक्षत्र और चमकीले पिण्ड बड़ी ही पूर्णता के साथ सुव्यवस्थित हैं, चाहे उनका क्रम हो या उनका संयोजन, उनका बाह्य स्वरूप हो अथवा उनकी गति। आप यह भी देखेंगे कि वे सभी एक सार्वभौम नियम के अधीन हैं जिससे वे कदापि नहीं डिगेंगे।

3. जब आप स्वयं प्रकृति का विचार करते हैं तो देखते हैं कि न तो उसमें ज्ञान-बोध है और न इच्छा। उदाहरण के लिए, अग्नि का स्वभाव जलाना है और वह संज्ञान या इच्छा के बगैर जलती है। जल की प्रकृति बहना है और वह इसके संज्ञान या इच्छा के बिना बहता है। सूर्य की प्रकृति प्रकाश देना है और इस बोध या इच्छा के बिना ही वह चमकता है। भाँप की प्रकृति ऊपर उठना है और वह इस चेतना या इच्छा के बगैर ही ऊपर उठती है। अतः यह स्पष्ट है कि सभी सृजित वस्तुओं की प्राकृतिक गतिशीलतायें विवशता के वशीभूत हैं और पशुओं तथा विशेष रूप से मनुष्य को छोड़कर कुछ भी स्वेच्छा से गतिशील नहीं है।

4. मानव प्रकृति का प्रतिरोध और विरोध कर सकता है क्योंकि वह वस्तुओं के स्वभाव की खोज करता है और इस खोज के कारण वह स्वयं प्रकृति का स्वामी बन बैठा है। मानवकृत सारी कारीगरी वस्तुतः इसी खोज से आगे बढ़ती है। उदाहरण के लिए उसने दूरभाष का आविष्कार किया है जो पूर्व और पश्चिम को जोड़ता है। अतः यह स्पष्ट है कि मनुष्य प्रकृति पर शासन करता है।

5. अब जैसे संगठन, व्यवस्था तथा नियमों का अस्तित्व आप देख रहे हैं, उसे क्या मात्र प्रकृति का कार्य माना जा सकता है, जबकि स्वयं प्रकृति के पास न तो संचेतना है और न समझ। तो यह स्पष्ट है कि यह प्रकृति जिसके पास न संचेतना है और न समझ ही, वह उस सर्वसमर्थ प्रभु की मुट्ठी में है जो प्रकृति जगत का शासक है और जो कुछ वह चाहता है उससे प्रकट करा लेता है।

6. कुछ लोग कहते हैं कि मानव अस्तित्व प्राणी जगत में उद्भूत वस्तुओं में से एक है और ये वस्तुएँ प्रकृति की आवश्यक सामग्री के फलस्वरूप हुई हैं। यदि यह सत्य हो तो मनुष्य शाखा होगा और प्रकृति मूल। लेकिन क्या यह सम्भव है कि शाखा में एक इच्छा, एक संचेतना और निश्चित परिपूर्णताएँ हों और जड़ उनसे वंचित हो?

7. इसी से यह स्पष्ट है कि प्रकृति अपने मूलरूप में ईश्वरीय सामर्थ्‍य के अधिकार में है और यह वह शाश्वत तथा सर्वशक्तिमान सत्ता है जो प्रकृति को आदर्श नियमों तथा संगठनकारी सिद्धान्तों के नियंत्रण में रखता है, और उस पर शासन करता है।

**2**

**ईश्‍वर के अस्तित्व विषयक प्रमाण एवं तर्क**

1. ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाणों और तर्कों में एक तथ्य यह है कि मनुष्य ने स्वयं अपनी रचना नहीं की है। उसका गढ़ने वाला, उसका रचयिता उसके अतिरिक्त कोई और है। और यह निश्चित एवं निर्विवाद है कि मनुष्य का सृजनकर्ता स्वयं मनुष्य जैसा तो नहीं है, क्योंकि कोई अशक्त प्राणी किसी दूसरे प्राणी की रचना नहीं कर सकता और सजग सृष्टिकर्ता को अपने हस्तकौशल की रचना के लिए सभी सम्पूर्णताओं को धारण करना आवश्यक है।

2. क्या यह सम्भव है कि दस्तकारी परिपूर्ण हो और दस्तकार अपूर्ण ? क्या यह सम्भव है कि कोई चित्र तो उत्कृष्ट हो किन्तु उसका रचनाकार, उसका चित्रकार अपनी कला में अपूर्ण हो ? नहीं, चित्र चित्रकार के समान हो ही नहीं सकता। क्योंकि ऐसा होता तो चित्र अपनी रचना स्वयं कर लेता। चित्र कितना ही पूर्ण क्यों न हो, चित्रकार की तुलना में वह निरा अपूर्ण ही होता है।

3. इस प्रकार सापेक्ष जगत अपूर्णताओं का और ईश्वर परिपूर्णता का स्रोत है। सापेक्ष जगत की अपूर्णताएँ ही ईश्वर की पूर्णताओं का प्रमाण देती है। उदाहरण के लिए मनुष्य का विचार करें तो आप देखते हैं कि वह निर्बल है, और प्राणी की यह निर्बलता ही उसकी शक्ति को जताती है जो शाश्वत एवं सर्वशक्तिमान है, क्योंकि यदि शक्ति न होती तो दुर्बलता की कल्पना नहीं की जा सकती थी। इस प्रकार प्राणी की दुर्बलता ईश्वरीय शक्ति की गवाह है। शक्ति के बगैर कोई निर्बलता नहीं होती। यह निर्बलता ही इस तथ्य का प्रमाण है कि संसार में एक शक्ति है।

4. इसके अतिरिक्त, सापेक्ष जगत में निर्धनता है। इसीलिए, संसार में निर्धनता होने से वहाँ सम्पदा का होना भी आवश्यक हो जाता है। सापेक्ष जगत में अज्ञान है, इसीलिए, जहाँ अज्ञान है वहाँ ज्ञान भी अवश्य होगा। यदि ज्ञान न होता, तो अज्ञान नहीं होता; क्योंकि अज्ञान ज्ञान का ही अभाव है। और अगर अस्तित्‍व न होता तो अनस्तित्व नहीं हो सकता था।

5. यह निश्चित है कि सम्पूर्ण सापेक्ष जगत एक व्यवस्था और एक विधान के अधीन है जिसका वह कभी उल्लंघन नहीं कर सकता। मनुष्य तक, मृत्यु, निद्रा तथा अन्य दशाओं के वशीभूत रहने को बाध्य है। तात्पर्य यह कि मनुष्य कुछ मामलों में पराधीन है और उसकी इसी विवशता में उस सत्ता का अस्तित्व अन्तर्निहित है जो सर्वबाध्यकारी है। जब तक सापेक्ष जगत का लक्षण निर्भरता रहेगा, और जब तक यह निर्भरता इसकी एक आवश्यक अपेक्षा रहेगी, तब तक वह सत्ता भी रहेगी जो अपने सार-सत्व में सभी चीजों से स्वतंत्र है। इसी प्रकार, किसी रोगी व्यक्ति का होना ही यह दिखलाता है कि कोई ऐसा भी होना चाहिए जो स्वस्थ है, क्योंकि स्वस्थ व्यक्ति के बगैर अस्वस्थ अस्तित्व को स्थापित नहीं किया जा सकता।

6. अतः यह स्पष्ट होता है कि एक शाश्वत और सर्वशक्तिमान सत्ता अवश्य है जो सभी पूर्णताओं का समाहार है, क्योंकि ऐसा न होता जो वह भी प्राणियों जैसा ही होता। इसी प्रकार, सम्पूर्ण अस्तित्व जगत की छोटी-से-छोटी सृजित वस्तु एक सृष्टिकर्ता के अस्तित्व का प्रमाण देती है। उदाहरण के लिए, यह रोटी का टुकड़ा ही इस बात का प्रमाण है कि इसका कोई निर्माता है।

7 कृपालु प्रभु! लघुतम वस्तु के बाहरी स्वरूप में परिवर्तन भी एक स्रष्टा के अस्तित्व को सिद्ध करता है। फिर यह विराट, निस्सीम ब्रह्माण्ड अपने आप कैसे बन सकता है और मात्र तत्वों की पारस्परिक क्रिया से अस्तित्व में कैसे आ सकता है ? इस प्रकार का विचार कितना साफझूठ है !

8 ये दुर्बल आत्माओं के लिए पेश किए गये सैद्धांतिक तर्क हैं, लेकिन अगर अन्तर्दृष्टि का नेत्र खुल जाए तो एक लाख स्पष्ट प्रमाण दृष्टिगोचर होंगे। इस प्रकार, जब मनुष्य अन्तर्वासी आत्मा का अनुभव कर लेता है तो उसके अस्तित्व के लिए उसे तर्कों की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। लेकिन जो चेतना के अनुग्रह से वंचित हैं, उनके लिए बाह्य तर्क सामने रखना आवश्यक है।

**3**

**एक शिक्षक की आवश्‍यकता**

1. जब हम अस्तित्व पर विचार करते हैं तो यह देखते हैं कि खनिज, वनस्पति, पशु और मानव जगत-सभी को एक शिक्षक की आवश्यकता है।

2. यदि भूमि की जुताई न की जाए तो वह फलते-फूलते खरपतवारों का झुरमुट बन जाती है। लेकिन अगर किसान आकर उसकी जुताई करता है तो जीवित प्राणियों को पोषण प्रदान करने वाली फसलों का फल प्राप्त होता है। इससे यह स्पष्ट है कि भूमि को कृषक की जुताई की आवश्यकता है। वृक्षों का विचार कीजिए, अगर उनको पाला-पोसा न जाए तो उनमें फल नहीं लगते हैं और फल के बिना वे किसी काम के नहीं रहते। लेकिन जब माली की देख-रेख मिल जाती है तो वही फलहीन वृक्ष फलदार बन जाता है और कृषिकर्म, कलमबंदी तथा संकरण के द्वारा कड़वे फल वाला वृक्ष मीठे फल उपजाने लगता है। ये ऐसे बुद्धिसंगत तर्क हैं, जिनकी विश्वजन आज अपेक्षा करते हैं।

3. इसी प्रकार पशुओं पर विचार कीजिए। जब किसी पशु को प्रशिक्षित किया जाता है तो वह पालतू बन जाता है, जबकि मनुष्य अशिक्षित रखे जाने पर पशु तुल्य बन जाता है। असल में तो, मनुष्य को प्रकृति के शासन में छोड़ दिया जाए तो वह पशु से भी अधिक अधोगति में डूब जाता है। और अगर उसे शिक्षित किया जाए तो वह देवदूत जैसा भी बन जाता है। अधिकतर पशु अपने ही जैसे पशु का भक्षण नहीं करते, लेकिन अफ्रीका के मध्य सूडान के मनुष्य एक-दूसरे को ही चीर-फाड़ कर खा जाते हैं।

4. अब ध्यान से देखिए कि शिक्षा ही पूर्व तथा पश्चिम को मनुष्य के नियन्त्रण में लाती है, इन तमाम अद्भुत शिल्प-कौशलों को जन्म देती है, इन प्रभावशाली कलाओं तथा विज्ञानों को उन्नत करती है, और इन नवीन खोजों तथा उपक्रमों का विस्तार करती है। अगर कोई शिक्षक न होता तो सुख-सुविधा के साधन, सभ्यता और मानवीय सद्गुण अन्य किसी भी प्रकार से प्राप्त नहीं किए जा सकते थे। किसी मनुष्य को अगर किसी सुनसान निर्जन में अकेला रखा जाए जहाँ वह अपने समान किसी को न देखे तो निस्संदेह वह महज एक पशु बन जाएगा। अतः यह स्पष्ट है कि एक शिक्षक आवश्यक है।

5. लेकिन शिक्षा तीन प्रकार की होती है - भौतिक, मानवीय और आध्यात्मिक। भौतिक शिक्षा का लक्ष्य है शरीर की वृद्धि और विकास और उसके अन्तर्गत है आहार तथा भौतिक सुख-सुविधा के साधनों की प्राप्ति। यह शिक्षा मनुष्य तथा पशु दोनों में सामान्य रूप से पाई जाती है।

6. किन्तु मानवीय शिक्षा में आती हैं सभ्यता और प्रगति। अर्थात् स्वस्थ शासन-प्रशासन, सामाजिक व्यवस्था, मानव-कल्याण, वाणिज्य तथा उद्योग, कलाएँ एवं विज्ञान, महत्वपूर्ण आविष्कार और बड़े उद्यम। ये मनुष्य को पशु से पृथक करने वाले प्रमुख लक्षण हैं।

7 जहाँ तक ईश्वरीय शिक्षा की बात है, यह दिव्य जगत की शिक्षा है और यह दैवीय परिपूर्णताओं की उपलब्धि से होती है। यही वस्तुतः सच्ची शिक्षा है, क्योंकि इसकी महिमा से मनुष्य दिव्य अनुदानों का नाभकीय केन्द्र, और अनुवाक्य “आओ हम मनुष्य को अपनी ही छवि में और अपने ही सदृश बनाएँ”1 का साकार स्वरूप बन जाता है। यह मानव जगत का मूलभूत लक्ष्य है।

8. अब, आवश्यकता है ऐसे शिक्षक की जो एक साथ भौतिक, मानवीय और आध्यात्मिक शिक्षक हो, तथा जिसका प्रभाव जीवन के प्रत्येक सोपान पर पड़ सके। और अगर कोई यह कहे कि “मैं तो पूर्ण प्रज्ञा और समझदारी से सम्पन्न हूँ और मुझे ऐसे किसी शिक्षक की कोई आवश्यकता नहीं है”, तो वह उस वस्तु को ठुकरा रहा है जो एकदम प्रत्यक्ष है। यह तो ऐसा ही है जैसे कोई बच्चा कहे कि मुझे शिक्षा की कोई जरूरत नहीं, मैं अपने ही विचार और बुद्धि से काम करके मानव जीवन की पूर्णताएँ खोजूँगा, या अंधा व्यक्ति दावा करे कि मुझे दृष्टि की कोई जरूरत नहीं, क्योंकि बहुत-से नेत्रहीन यूँ ही आनन्दपूर्वक रह रहे हैं।

9. अतएव यह स्पष्ट और प्रत्यक्ष है कि मनुष्य को सहज ही एक शिक्षक की आवश्यकता है। यह शिक्षक निस्संदेह रूप से हर तरह से पूर्ण और सभी मनुष्यों से विशिष्ट होना चाहिए, क्योंकि अगर वह अन्य मनुष्यों जैसा ही हो तो वह उनका शिक्षक कदापि नहीं हो सकता, विशेष रूप से तब जब उसे एक साथ उनका भौतिक, मानवीय और आध्यात्मिक शिक्षक बनना है। तात्पर्य यह कि, उसे उनके भौतिक कार्यकलापों को संगठित तथा संचालित करना होगा और एक सामाजिक व्यवस्था स्थापित करनी होगी जिससे वे जीविका के साधन प्राप्त करने में एक दूसरे को सम्बल और सहायता दे सकें और उनके भौतिक क्रियाकलाप नियमानुसार और सुव्यवस्थित ढंग से हो सकें।

10. इसी प्रकार वह मानवीय शिक्षा के नींवाधार रखेगा, अर्थात् मानव मनोवृत्तियों तथा विचारों को इस प्रकार से वह शिक्षित करेगा कि वे वास्तविक प्रगति में समर्थ बन सकें, ज्ञान-विज्ञान का विस्तार हो, वस्तुओं के यथार्थ और ब्रह्माण्ड के रहस्य तथा जो कुछ अस्तित्वमान है सभी के गुणधर्म प्रकटित हों। इसके अतिरिक्त, विद्या, खोजों और बड़े उद्यमों की दिन-प्रतिदिन बढ़ोत्तरी हो सके, और बौद्धिक विषयों का निगमन तथा सम्प्रेषण संवेदनशील जनों के माध्यम से हो।

11. वह आध्यात्मिक शिक्षा भी अवश्य प्रदान करेगा ताकि मानव मन-मस्तिष्क अतीन्द्रिय जगत की समझ प्राप्त कर सकें, पावन चेतना की पवित्र श्वासों को ग्रहण कर सकें और उच्च लोकों की दिव्य विभूतियों से सम्बन्ध बना सकें, तथा मानव सत्ताएँ दैवीय अनुदानों का प्रत्यक्ष स्वरूप बन जाएँ ताकि संयोगवश ईश्वर के सभी नाम एवं गुण मानव तत्व के दर्पण में प्रतिबिम्बित हो जाएँ और इस आशीर्वादित पद “आओ, हम मनुष्य को अपनी ही छवि और अपने ही सदृश बनाएँ” के अर्थ की प्रत्यक्ष अनुभूति की जा सके।

12. किन्तु यह स्पष्ट है कि मात्र मानव शक्ति इतने बड़े कार्य को पूर्ण करने में असमर्थ है और अकेली मानव विचारशक्ति ऐसी दैवीय देनों के सुफल नहीं प्राप्त कर सकती। कोई अकेला व्यक्ति, किसी सहायता और सहारे बगैर इतने उदात्त भवन की नींव कैसे रख सकता है? इसीलिए इस ध्येय के सम्पादन हेतु उसे योग्य बनाने के लिए एक दैवीय एवं आध्यात्मिक शक्ति की आवश्यकता होती है। देखो! ’एक पवित्र आत्मा‘ मानव जगत को नवजीवन प्रदान करती है, भूमण्डल का चेहरा बदल देती है, मन-मस्तिष्क का विकास करती है, आत्माओं को अनुप्राणित करती है, एक नये जीवन का शुभारम्भ करती है, नई-नई नीवों की स्थापना करती है, विश्व को व्यवस्थित करती है, एक पताका की छाया तले राष्ट्रों एवं धर्मों को एकत्र करती है, मनुष्य को अधमता और अपूर्णता के क्षेत्र से बाहर निकालती है और उसे अपनी सहज एवं अर्जित पूर्णताओं को विकसित करने का सदुपदेश देकर प्रोत्साहित करती है। निश्चित ही किसी दैवीय शक्ति से कम कुछ भी इस असाधारण कार्य को सम्पादित नहीं कर सकता। अवश्य ही निष्पक्ष रूप से इस विषय को जांचें-परखें, क्योंकि यह वस्तुतः औचित्य की एक आवश्यकता है।

13. जिस ‘धर्म’ को धरती की सारी सरकारें और राष्ट्र, अपनी तमाम शक्तियों तथा सेनाओं के होते हुए भी, प्रोन्नत तथा प्रचारित कर पाने में असमर्थ रहते हैं, उसे एक ‘पवित्रात्मा’ बिना किसी सहायता या समर्थन के प्रसारित करती है। क्या यह किसी मानवीय शक्ति के साधन से किया जा सकता है ? नहीं, ईश्वर की सौगंध! ईसामसीह का उदाहरण लें। अकेले और बिना किसी सहायता के उन्होंने शांति और मैत्री की पताका उठाई। एक असामान्य कार्य जिसे दुनिया की सभी शक्तिशाली सरकारों की सम्मिलित सेनाएँ भी कर पाने में समर्थ नहीं हैं। सोचिए कि कितनी बहुसंख्या हैं वे नानाविध राष्ट्र और सरकारें - जैसे, इटली, फ्रांस, जर्मनी, रूस, इंग्लैण्ड इत्यादि -जो उस एक चँदोवे के नीचे आ चुके हैं तात्पर्य यह है कि ईसा के आगमन से इन भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के बीच साहचर्य आया। वस्तुतः ईसा के प्रति आस्थावान कुछ राष्ट्र इतनी घनिष्ठता से एक सूत्र में आबद्ध हुए कि उन्होंने एक-दूसरे के लिए अपने प्राण और अपना सर्वस्व तक न्योछावर कर दिया। कॉन्स्टैन्टाइन के दिनों तक, जिसके माध्यम से ईसा का धर्म उन्नत हुआ था, यही स्थिति रही। किन्तु एक समय के बाद भिन्न-भिन्न कारणों से उनके बीच फूट पड़ गई। हमारा अभिप्राय यह है कि ईसा ने इन राष्ट्रों को जोड़ा किन्तु एक लम्बे समय के पश्चात् सरकारों ने फिर विग्रह उत्पन्न कर दिया।

14. मुख्य बिन्दु यह है कि ईसा ने वह कर दिखाया जिसे पृथ्वी के समस्त सम्राट उपलब्ध कर पाने में अशक्त रहे। उन्होंने विभिन्न राष्ट्रों को जोड़ा और प्राचीन प्रथाओं को बदला। विचार कीजिए कि रोम, यूनान, सीरिया, मिस्र, कोनीशिया और इस्राईल तथा यूरोप के अन्य राष्ट्रों के बीच कितनी बड़ी-बड़ी भिन्नताएँ थीं। ईसा ने इन भिन्नताओं को मिटाया और इन राष्ट्रों के बीच मेल और मैत्री का हेतु बने। यद्यपि दीर्घकालोपरान्त सरकारों ने इस एकता को भंग कर दिया लेकिन ईसा का कार्य वस्तुतः सम्पन्न हो ही गया।

15. हमारा अभिप्राय यह है कि विश्व शिक्षक का एक साथ भौतिक, मानवीय और आध्यात्मिक शिक्षा-गुरू होना आवश्यक है, और प्रकृति-जगत के पार जाकर उसे दूसरी शक्ति से भी सम्पन्न होना चाहिए ताकि वह दैवीय शिक्षक का स्थान ग्रहण कर सके। इस प्रकार की अलौकिक शक्ति पर अगर उसका अधिकार न हो तो वह शिक्षा देने के योग्य नहीं होगा, क्योंकि तब वह स्वयं अपूर्ण होगा। तब वह परिपूर्णता को प्रोत्साहित कैसे कर सकता है? यदि वह अज्ञानी हो तो दूसरों को बुद्धिमान कैसे बना सकता है? अगर वह अन्यायपूर्ण हो तो दूसरों को न्यायपरायण कैसे बना सकता है ? यदि वह स्वयं संसारी हो तो दूसरों को दिव्य कैसे बना सकता है ?

16. अब हम निष्पक्ष भाव से यह विचार करें कि जो ये ईश्वरीय अवतार प्रकट हुए हैं उनमें ये सभी विशेषताएँ थीं या नहीं। अगर वे इन गुणों तथा पूर्णताओं से वंचित थे तो वे सच्चे शिक्षक नहीं थे।

17. इस प्रकार बुद्धिसम्पन्न विचारवानों के लिए बुद्धिसंगत तर्कों के माध्यम से ही हमें मूसा, ईसा और अन्य दैवीय अवतारों का ईशदूत पद सिद्ध करना होगा। और जिन प्रमाणों एवं तर्कों को हमने यहाँ प्रस्तुत किया है वे पारम्परिक तर्कों पर नहीं, बल्कि बौद्धिक तर्कों पर आधारित हैं।

18. बुद्धिमूलक तर्कों से यह तथ्य स्थापित किया गया है कि अस्तित्व-जगत को एक शिक्षक की परम आवश्यकता है और यह शिक्षा किसी दिव्य शक्ति के माध्यम से ही उपलब्ध होनी चाहिए। निस्संदेह रूप से यह दिव्य शक्ति ईश्वरीय धर्मप्रकाशन ही होती है, और संसार को इसी शक्ति के जरिए, जो मानव शक्ति से श्रेष्ठ है, शिक्षित किया जाना चाहिए।

**4**

**इब्राहीम**

1. जिन लोगों में यह दैवीय शक्ति थी और जिसका उनको सम्बल मिला था उनमें एक इब्राहीम थे। इसका प्रमाण यह है कि मैसोपोटामिया के एक ऐसे परिवार में उनका जन्म हुआ था जिसे ईश्वर के एकत्व का ज्ञान नहीं था। उन्होंने अपने ही जनों का, सरकार का, यहाँ तक कि अपने कुटुम्बियों का भी विरोध किया। उनके देवताओं को उन्होंने अस्वीकार किया और अकेले ही एक शक्तिशाली राष्ट्र का सामना किया। ऐसा विरोध तथा प्रतिरोध आसान या छोटी बात नहीं थी। यह तो ऐसा ही है जैसे कोई व्यक्ति दृढ़तापूर्वक बाइबिल से जुड़े ईसाई राष्ट्रों के बीच ईसामसीह को अस्वीकार करे, अथवा ईश्वर न करे! कोई परमधर्माध्यक्ष पोप के ही न्यायालय में जाकर ईसामसीह की निन्दा करे, उनके अनुयायियों का विरोध करे और यह सब बड़े प्रचण्ड तरीके से करे।

2. ये लोग एक परमेश्वर के स्थान पर अनेक देवताओं में विश्वास करते थे और उन्हें अनेक चमत्कारों का श्रेय देते थे, और इसीलिए वे सब इब्राहीम के विरूद्ध उठ खड़े हुए। उनके भतीजे लूत और एक-दो अन्य महत्वहीन व्यक्तियों के अतिरिक्त किसी ने उनका समर्थन नहीं किया। अंत में अपने शत्रुओं के तीव्र विरोध से अत्यधिक उत्पीड़ित होकर वह अपना देश छोड़ने के लिए बाध्य हुए। असल में, उनको निष्कासित किया गया, ताकि वह नगण्य हो जाएँ और उनका नामोनिशान भी बाकी न रहे। तब इब्राहीम इस क्षेत्र में अर्थात् पवित्र भूमि में आए।

3. मेरा आशय है कि उनके शत्रुओं ने सोचा था कि इस निर्वासन से वह बरबाद और विनष्ट हो जाएंगे। और वास्तव में, यदि किसी व्यक्ति को उसके स्वदेश से निष्कासित, उसके अधिकारों से वंचित, और प्रत्येक दिशा से दमित किया जाए तो, भले ही वह राजा हो, उसका धूल में मिल जाना तय है। लेकिन इब्राहीम अटल खड़े रहे और उन्होंने असाधारण दृढ़ता दिखाई और ईश्वर ने उनके निर्वासन को स्थायी सम्मान में बदल दिया। अन्त में तो, उन्होंने ईश्वर की एकमेवता स्थापित की, क्योंकि उस समय सामान्य जनसमुदाय मूर्तिपूजक था।

4. यह निर्वासन इब्राहीम की संततियों की प्रगति का कारण बना। इस निर्वासन का यह परिणाम हुआ कि उन्हें पवित्र भूमि प्रदान की गयी। इस निर्वासन का ही परिणाम था कि इब्राहीम की शिक्षाएँ दूर-दूर तक फैलीं। इस निर्वासन के ही फलस्वरूप इब्राहीम की संततियों में एक याकूब हुए और एक यूसुफ का आविर्भाव हुआ जो मिस्र में शासक बने। इसी निर्वासन का फल हुआ कि उसी संतान परम्परा में मूसा का प्रादुर्भाव हुआ। इसी निर्वासन के परिणामस्वरूप उसी वंश परम्परा से ईसा जैसी विभूति का प्राकट्य हुआ। इसी निर्वासन का सुफल हुआ कि हाज़रा मिली जिससे इस्माईल का जन्म हुआ और इनसे क्रमशः मुहम्मद का अवतरण हुआ। इसी निर्वासन का नतीजा था कि इब्राहीम की वंश परम्परा से बाब का आविर्भाव हुआ। इस निर्वासन के ही फलस्वरूप इब्राहीम की संतति से इस्राईल के ईशदूतों का आविर्भाव हुआ और यह क्रम आगे भी सदा-सर्वदा चलता रहेगा। इस निर्वासन का ही यह परिणाम हुआ कि सम्पूर्ण यूरोप और अधिकांश एशिया ‘इस्राईल के ईश्वर’ की छत्रछाया में आ गया। देखो कैसी शक्ति थी वह जिसने एक प्रवासीको ऐसा परिवार प्रतिष्ठापित करने, ऐसे राष्ट्रों की नींव रखने और ऐसी शिक्षाओं का प्रसार करने के योग्य बनाया। क्या कोई यह दावा कर सकता है कि यह सब विशुद्ध रूप से एक आकस्मिक घटना थी? हमें न्यायसंगत रहना चाहिए: यह ‘आदमी’ ‘शिक्षक’ था या नहीं?

5. हमारे लिए यह विचार करना उचित होगा कि अगर उर से सीरिया के अलेप्पों के लिए इब्राहीम के प्रवास के ऐसे परिणाम हुए तो, बहाउल्लाह के तेहरान से बगदाद, और वहाँ से कॉन्स्टैन्टीनोपल, फिर रूमानिया और अंत में पवित्र भूमि के लिए निर्वासन के प्रभाव कैसे होंगे !

6. देखिए कि कितने निपुण शिक्षक थे इब्राहीम!

**5**

**मूसा**

1. मूसा दीर्घकाल तक निर्जन चारागाहों में गड़ेरिया के रूप में रहे। बाहर से प्रतीत होता था कि वह ऐसे व्यक्ति हैं जिनका लालन-पालन क्रूरता का दुग्ध पिलाकर किया गया है। लोगों के बीच उनकी ख्याति एक हत्यारे की थी, उन्होंने चरवाहे की लाठी थाम ली थी। फिरऔन की सरकार तथा प्रजा उनकी घोर निंदा और उनसे घृणा करती थी। वह ऐसे व्यक्ति बने जिसने एक बड़े जनसमुदाय को दासता की बेड़ियों से मुक्त कर, मिस्र छोड़ने और पवित्र भूमि में बसने के लिए सहमत किया।

2. अवनति के गर्त में डूबी वह जन-जाति उठकर गौरव के शिखर पर पहुंची। कहाँ तो वे बन्दी थे, वे स्वतंत्र हो गए। जनसमुदायों के बीच वे परम अज्ञानी थे और परम विद्वान बन गए। मूसा की स्थापनाओं के प्रताप से उन्होंने इतनी प्रगति की कि वे सभी राष्ट्रों के बीच विशिष्ट बने और उनकी ख्याति का सभी देशों में इस सीमा तक विस्तार हुआ कि पड़ोसी देशों के निवासी जब किसी व्यक्ति की प्रशंसा करते तो यह कहा करते थे कि “अवश्य वह कोई इस्राइली होगा।” मूसा ने जो नियम तथा अधिनियम दिए, उनसे इस्राईल के लोगों को नवजीवन प्राप्त हुआ और उनका अनुसरण करके उन्होंने तत्कालीन सभ्यता की सर्वोच्च स्थिति उपलब्ध की।

3. ऐसी थी उनकी प्रगति कि यूनान के दार्शनिक इस्राईल के विद्वानों से ज्ञान प्राप्त करने आते थे। इनमें सुकरात भी थे जिन्होंने सीरिया आकर ईश्वर के एकत्व और आत्मा की अमरता की शिक्षाएँ इस्राईल की संतानों से ग्रहण कीं। तत्पश्चात् यूनान लौटकर उन्होंने इन शिक्षाओं का प्रचार किया जिस पर उस देश के लोग उनके विरोध में उठ खड़े हुए, उन पर अधर्मी होने का आरोप लगाकर न्यायालय में अभियोगी ठहराया और विष पिलाकर उन्हें मृत्युदण्ड दिया।

4. अब देखो कि कैसे एक पुरुष जो हकलाता था, जो फिरऔन के घर में पला था, जो हत्यारे के रूप में लोक विख्यात था और जो भयवश बहुत समय तक भगोड़ा और चरवाहा रहा, धरती पर इतने महान धर्म की स्थापना करने में समर्थ हुआ, संसार के प्रबुद्धतम दार्शनिक जिसका हजारवाँ अंश भी उत्पन्न करने में असमर्थ रहे होते? स्पष्ट रूप से यह असाधारण काम है।

5. हकलाकर बोलने वाला व्यक्ति साधारण वार्तालाप भी मुश्किल से कर पाता है, उसकी बात ही छोड़िए जो मूसा ने कर दिखाया। सचमुच यदि दैवीय शक्ति का सम्बल उनको न मिलता तो इतना महान कार्य वह कदापि न कर पाते। इन तर्कों को नकारा नहीं जा सकता। भौतिकवादी चिन्तक, यूनानी दार्शनिक और रोम के महापुरुष जगविख्यात हुए, किन्तु उनमें प्रत्येक विद्या की एक ही शाखा में निष्णात था। इस प्रकार गालेन और हिपोक्रेटस चिकित्साशास्त्र में, अरस्तू तर्क और मीमांसात्मक विवेचना में और प्लेटो नीतिशास्त्र तथा ईश्वरीय दर्शनशास्त्र में अपनी निपुणता के लिए यशस्वी बने। फिर महज एक चरवाहा इन तमाम ज्ञान शाखाओं की आधारशिला कैसे रख सका? अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि उनको किसी असाधारण शक्ति से सहायता प्राप्त हुई थी।

6. इस पर भी विचार कीजिए कि किस प्रकार लोगों को कसौटियों तथा परीक्षणों के वशीभूत होना पड़ता है। एक क्रूर कर्म को रोकने की चेष्टा में मूसा ने एक मिस्रवासी को मार गिराया। इससे लोग उनको हत्यारा कहने लगे - विशेष रूप से इसलिए क्योंकि वह भुक्तभोगी शासक जाति का था। इसके बाद उनको भागना पड़ा और इतना सब होने के बाद वह ईशदूत के रूप में प्रतिष्ठित हुए। देखिए कि उनकी अप्रतिष्ठा के बावजूद कैसे इतनी बड़ी संस्थाओं तथा महत्वपूर्ण कार्यों की स्थापना करने के लिए उनको एक असाधारण शक्ति से सहायता प्राप्त हुई।

**6**

**ईसामसीह**

1. मूसा के बाद ईसा प्रकट हुए। उन्होंने कहा कि “मेरा जन्म ‘पवित्र चेतना’ से हुआ है।”1 आज ईसाइयों के लिये उनके इस दावे को मानना सरल है लेकिन उस समय यह बहुत कठिन था। गॉस्पल के मूलपाठानुसार फारसियों ने कहा, “क्या नज़ारत के यूसुफ का पुत्र वह नहीं है जिसे हम जानते हैं ? फिर वह कैसे कह सकता है कि “मैं आसमान से उतरा हूँ।”2

2. संक्षेप में, यह ‘पुरुष’ जो सभी की आँखों को निम्न दिखाई दिया, ऐसी शक्ति के साथ उठा कि उसने पन्द्रह सौ वर्ष पुराने धर्मविधान को निरस्त कर दिया, इस तथ्य के बावजूद कि उसके नियमों से रंचमात्र विचलित होने पर अपराधी के सामने मृत्यु व सर्वनाश का गम्भीर संकट आ खड़ा होता था। इसके अतिरिक्त, ईसा के दिनों में इस्राईलियों के सामान्य नैतिक गुण तथा तौर-तरीके पूर्णतया भ्रान्त एवं भ्रष्ट हो गये थे और इस्राईल घोर पतन, दुर्दशा तथा दासता की दशा में पहुँच गया था। एक समय वे चाल्डियों तथा फारसियों के कैदी रहे और दूसरी बार वे असीरयाई साम्राज्य के पराधीन रहे। फिर एक दिन यूनानियों की प्रजा होकर उनके अधीन हुए और उसके पश्चात् वे रोमनों की अधीनता में रहकर अपमानित हुए।

3. इस युवा पुरुष ईसा ने एक असाधारण शक्ति की सहायता से प्राचीन मूसाई विधान को रद्द करके जनसामान्य के नैतिक गुणों का परिष्कार किया। उन्होंने फिर एक बार इस्राईलियों के शाश्वत गौरव की नींव रखी। बल्कि, कहना चाहिए कि उन्होंने सम्पूर्ण मानवजाति के सौभाग्य-श्री को पुनः प्रतिष्ठित करने का बीड़ा उठाया। विदेशों में भी उन्होंने शिक्षाओं का प्रसार किया जो केवल इस्राईल तक ही सीमित न रहकर मानव समाज के विश्वव्यापी सुख-शान्ति का आधार बनीं।

4. ईसा को नेस्तनाबूद करने के लिए जो सबसे पहले खड़े हुए वे इस्राइली- उनके अपने लोग और सजातीय ही थे। बाहर से तो यही प्रतीत हुआ कि उन्होंने वस्तुतः उनको पराभूत किया और घोर अधोगति में डाल दिया, यहाँ तक कि अंत में उनको कांटों का ताज पहनाकर सूली पर चढ़ा दिया। लेकिन प्रकटतः गहनतम पीड़ा में डूबे होने के उन क्षणों में इस ‘पुरुष’ ने उद्घोष किया: “यह सूर्य निकलेगा, यह प्रकाश देदीप्यमान होकर चमकेगा, मेरी भव्यता विश्व को परिवेष्टित करेगी और मेरे सभी शत्रु यह देखकर हैरान रह जाएंगे।” और उन्होंने जैसा कहा था वैसा ही हुआ। धरती के राजे-महाराजे उनका प्रतिरोध नहीं कर सके, बल्कि, सभी राजध्वज झुक गये जबकि उस प्रताड़ित का ध्वज गगनचुम्बी ऊँचाइयों तक जा पहुंचा।

5. क्या यह मानव विचारशक्ति के नियमों के अनुरूप सर्वथा सम्भव है? कदापि नहीं, ईश्वर की सौगंध! तब तो यही स्पष्ट और प्रकट है कि यह गौरवमयी सत्ता मानव जगत की सच्ची शिक्षक थी और उसे किसी दैवीय शक्ति से सम्बल और सहायता प्राप्त हुई थी।

**7**

**मुहम्मद**

1. अब हम मुहम्मद की चर्चा करेंगे। यूरोप तथा अमेरिका के लोगों ने इन ईशदूत की कुछ कहानियाँ सुनी हैं जिन पर वे विश्वास करते हैं। किन्तु इन विवरणों को देने वालों में अनेक ईसाई धर्मयाजक दर्जे के थे जो या तो अज्ञानी थे या दुर्भावनाग्रस्त। कुछ अबौद्ध मुसलमानों ने भी मुहम्मद के सम्बन्ध में निराधार कथाएँ प्रसारित कीं जो उनके विचार से उनका गौरव-गान करने में सहायक थीं। इसी प्रकार कुछ अबोध मुसलमानों ने उनके बहुविवाह को उनकी अत्यधिक प्रशंसा का आधार बनाकर उसे उनकी अद्भुत शक्तियों का चिह्न माना, क्योंकि ये अनभिज्ञ आत्माएँ पत्नियों की बहुलता को चमत्कारिक वस्तु मानती थीं। यूरोपीय इतिहासकारों के विवरण अधिकांशतया इन्हीं अल्पज्ञ व्यक्तियों के कथनों पर निर्भर हैं।

2. उदाहरण के लिए, एक बार एक मूर्ख व्यक्ति ने एक ईसाई पुरोहित से कहा कि सच्ची महानता का प्रमाण श्रेष्ठ वीरता और रक्तपात है। उसने बताया कि मुहम्मद के एक अनुयायी ने एक ही दिन में युद्धक्षेत्र में एक सौ आदमियों के सिर काट डाले थे। इससे उस धर्मयाजक ने यह अनुमान किया कि मुहम्मद के धर्म का सबूत हत्या में मिलता है जब कि यह व्यर्थ कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसके विपरीत, मुहम्मद के सैन्य अभियानों का स्वरूप सदैव रक्षात्मक रहा। इसका एक स्पष्ट प्रमाण यह है: उन्होंने और उनके साथियों ने तेरह वर्षों तक मक्का में प्रचण्ड यातनाएँ सहीं और घृणा की बर्छियों के निशाने पर रहे। उनके कुछ साथियों को मार डाला गया और उनकी सम्पत्ति लूट ली गई। अन्य साथी स्वदेश छोड़कर दूसरे देशों में भाग गए। स्वयं मुहम्मद घोर उत्पीड़नों का शिकार बने और शत्रुओं द्वारा उनकी हत्या के इरादे का पता चलने पर आधी रात के समय मक्का को त्याग कर मदीना में प्रवास के लिए विवश हुए। इस पर भी उनके शत्रु नरम नहीं पड़े बल्कि उन्होंने मदीना और अबीसीनिया तक उन मुसलमानों का पीछा किया।

3. ये अरब जातियाँ अत्यधिक बर्बर और खुँखार थीं। इनकी तुलना में अमेरिका के जंगली एवं दुर्दान्त निवासी उस काल के प्लेटो थे, क्योंकि वे भी अपने बच्चों को जमीन में जिन्दा नहीं गाड़ते थे जैसा कि ये अरबी अपनी बच्चियों के साथ करते थे और इसे सम्मानजनक कार्य मानते तथा गर्व का अनुभव करते थे। इसी प्रकार बहुत से लोग अपनी पत्नियों को यह कह कर धमकाते थे कि “अगर तुमने पुत्री को जन्म दिया तो मैं तुम्हें मार डालूंगा।” आज तक अरबवासी पुत्री होने से डरते हैं।

4. इसके अतिरिक्त, एक पुरुष एक हजार पत्नियाँ रख सकता था और अधिकांश पतियों के घरों में दस से अधिक पत्नियाँ होती थीं। जब ये जातियाँ एक-दूसरे के विरूद्ध युद्ध छेड़ती थीं, तो विजयी पक्ष पराजित की महिलाओं तथा बच्चों को कैदी बनाकर उनके साथ गुलामों का सलूक करता और उनका क्रय-विक्रय करता था।

5. जब कोई पुरुष अपनी मृत्यु के पीछे दस पत्नियाँ छोड़ जाता था तो इन औरतों के पुत्र एक-दूसरे की माताओं की ओर झपटते थे और जैसे ही कोई पुत्र अपना लबादा अपनी किसी विमाता के सिर पर फेंक देता और कह देता था कि यह स़्त्री मेरी वैध सम्पत्ति है, उसी समय वह अभागी महिला अपने सौतेले पुत्र की कैदी और दासी बन जाती थी। उसके साथ वह मनमाना बर्ताव कर सकता था। वह उसकी हत्या कर सकता था या गहरे तहखाने में बंद रख सकता था। दिन-प्रतिदिन वह उसे मार-पीट, गालियाँ और यातनाओं से इतना पीड़ित कर सकता था कि अन्ततः वह नष्ट हो जाती थी। इन सब व्यवहारों में उसे अरबों के नियमों तथा प्रथाओं के अनुसार अपनी मर्जी से कुछ भी करने की स्वतंत्रता प्राप्त थी। यह पूर्ण रूप से स्पष्ट है कि किसी पुरुष की पत्नियों तथा उसके पृथक बच्चों के बीच ईर्ष्‍या-द्वेष, घृणा तथा शत्रुता भी अवश्य रहते होंगे अतः इसके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। विचार कीजिए कि इन अत्याचार पीड़ित महिलाओं का जीवन और उनकी दशा कैसी रही होगी।

6. इसके अतिरिक्त, ये अरब जातियाँ आपस में ही लूटपाट करके जीवनयापन करती थीं। अतः वे निरन्तर कलह और युद्धरत रहती थीं। वे एक दूसरे को मार डालती थीं, प्रत्येक दूसरे की सम्पत्ति लूट लेता था और स्त्रियों तथा बच्चों को बंदी बनाकर अपरिचितों को बेच दिया जाता था। कितनी ही बार ऐसा प्रतीत होता था कि किसी राजघराने के पुत्रों तथा पुत्रियों का दिन तो सुख-सुविधा में बीता लेकिन रात होने पर वे नितान्त दीनता, दरिद्रता और दासता के शिकार बन गए। कल वे राजकुमार थे और आज कैदी बन गए। कल तक जो सम्मानित महिलाएँ थीं वे ही आज दासियाँ थीं।

7. ऐसी थीं ये जनजातियाँ जिनके बीच मुहम्मद को भेजा गया था। तेरह बरसों तक उन्होंने उनके हाथों हर अकल्पनीय उत्पीड़न के कष्ट सहे। अंत में वे मक्का छोड़ कर मदीना में रहने चले गये। फिर भी ये लोग बाज नहीं आए, उन्होंने एकत्र होकर एक सेना खड़ी की और मुहम्मद के अनुयायियों ने हर पुरुष, स्त्री तथा बच्चे को मिटा डालने के उद्देश्य से आक्रमण कर दिया। ऐसी परिस्थितियों के अन्तर्गत और ऐसे लोगों के विरूद्ध मुहम्मद को हथियार उठाने के लिए विवश होना पड़ा। यह सत्य है - इस कथन के पीछे न तो धर्मान्धता का कोई आग्रह है और न आँखें बंद करके उनका बचाव करने का ही प्रयास है। बल्कि हमने जांच-परख कर इन तथ्यों का वर्णन न्याय और निष्पक्षता के साथ किया है। इसी प्रकार आप इस पर न्यायसंगत विचार करें: अगर ईसामसीह को ऐसी परिस्थितियों में और ऐसी ही उद्दण्ड तथा बर्बर जनजातियों के बीच रखा जाता, अगर तेरह बरसों तक वह और उनके शिष्य धैर्यपूर्वक हर तरह की क्रूरता उनके हाथों सहन करते, अगर इस अत्याचार के कारण वह अपनी मातृभूमि को त्यागकर सुनसान निर्जन में भाग जाने को बाध्य हुए होते और अगर ये उत्पात मचाने वाली जनजातियाँ फिर भी पुरुषों का वध करने, उनकी सम्पत्ति लूटने तथा उनकी स्त्रियो व बच्चों पर कब्जा करने की नीयत से उनके पीछे पड़ी रहतीं, तो ईसा इनके साथ कैसा बर्ताव करते? यदि यह अत्याचार केवल उनके ही लिए रहा होता, तो उनको वह क्षमा कर देते और उनका यह क्षमादान अत्यधिक स्वीकार्य और स्तुत्य होता। लेकिन, यदि वह देखते कि ये क्रूर तथा रक्तपिपासु हमारे हत्या तथा लूट-खसोट करने, अरक्षित-असहाय आत्माओं को यातना देने और बच्चों तथा स्त्रियों को बन्दी बना ले जाने पर आमादा हैं तो यह निश्चित है कि वह अत्याचारपीड़ितों की रक्षा और अत्याचारी हाथों को रोकते।

8. तो फिर, मुहम्मद के प्रति आपत्ति कैसे की जा सकती है ? यही तो है कि उन्होंने अपने अनुयायियों और उनकी स्त्रियों तथा बच्चों सहित अपने आप को उन अराजक जनजातियों की दया पर नहीं छोड़ा। इसके अतिरिक्त, उन जनजातियों को उनकी रक्तपिपासा से मुक्त करना उनकी महानतम देन और उनका प्रतिरोध कर उन्हें नियंत्रित करना उनकी विशुद्ध उदारता थी। यह ऐसा ही है जैसे किसी मनुष्य के हाथ में विष का प्याला हो और वह उसे पीने जा रहा हो। उसी समय कोई स्नेही मित्र निश्चित रूप से प्याले को तोड़ दे और उसे पीने वाले की रक्षा कर ले। यदि ईसामसीह इन्हीं परिस्थितियों में रहे होते तो निस्संदेह रूप से वह अपने सर्वजयी शक्ति से ऐसे भूखे-भेड़ियों के पंजों से उन पुरुषों, स्त्रियों तथा बच्चों को मुक्त करते।

9. मुहम्मद ईसाइयों से कभी नहीं लड़े। इसके विपरीत, उनके साथ उन्होंने सौहार्दता का बर्ताव किया और उनको पूरी स्वतंत्रता प्रदान की। नजरान में ईसाइयों का एक समुदाय रहता था जो उनकी देख-रेख और सुरक्षा में रहा। मुहम्मद ने कहा था: “यदि कोई व्यक्ति अपने अधिकारों का अतिक्रमण करेगा तो स्वयं मैं उसका शत्रु होऊँगा और ईश्वर के समक्ष उस पर आरोप प्रस्तुत करूँगा।” जिन आदेशपत्रों को उन्होंने जारी किया उनमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि यहूदियों तथा ईसाइयों का जीवन, सम्पत्ति तथा सम्मान ईश्वर की सुरक्षा में हैं, कोई मुसलमान पति अपनी ईसाई पत्नी को गिरजाघर में जाने से नहीं रोक सकता और न उसे पर्दा करने के लिए बाध्य कर सकता है, पत्नी की मृत्यु के बाद उसकी मृत देह को किसी धर्मयाजक की देखरेख में सौंपा जाए और अगर ईसाई गिरजाघर बनाना चाहें तो मुसलमान उनकी सहायता अवश्य करें। इसके अतिरिक्त, इस्लाम और उसके शत्रुओं के बीच युद्ध के समय, ईसाइयों को प्राप्त सुरक्षा की दृष्टि से जब तक वे स्वयं स्चेच्छापूर्वक लड़ाई में मुसलमानों से मिलकर उनकी सहायता करना न चाहें तब तक उन्हें उससे छूट प्राप्त होगी। इस छूट के बदले क्षतिपूर्ति के रूप में उन्हें प्रतिवर्ष एक छोटी धनराशि देनी होगी। संक्षेप में, इन विषयों पर सात विस्तृत आज्ञाएँ हैं जिनमें से कुछ की प्रतियाँ आज भी येरूसलम में मौजूद हैं।3 यह एकदम सत्य है और मात्र मेरा अपना दावा नहीं है कि दूसरे खलीफा4 की राजाज्ञा आज भी येरूसलम के चर्च के धर्माध्यक्ष (बिशप) के अधिकार में है और वह आदेशपत्र संदेह से परे हैं। तथापि, एक समय के बाद मुसलमानों और ईसाइयों, दोनों पक्षों की ओर से अतिक्रमण हुए तो उसके मध्य ईर्ष्‍या-द्वेष उत्पन्न हो गये।

10. मुसलमान, ईसाई या अन्य व्यक्ति इस सत्य से हटकर जो कुछ कह सकते हैं वह धर्मान्धता, अज्ञान या तीव्र विरोधभाव से उपजी मनगढंत बातें ही हैं। उदाहरण के लिए, मुसलमान दावा करते हैं कि मुहम्मद ने चंद्रमा को विदीर्ण कर डाला और वह मक्का के पर्वत पर आ गिरा। वे कल्पना करते हैं कि चन्द्रमा छोटा-सा पिण्ड है जिसके मुहम्मद ने दो टुकड़े कर दिए जिनमें से एक हिस्सा एक पहाड़ पर और दूसरा भाग दूसरे पहाड़ पर फेंका गया। ये कथायें कोरी धर्मान्धता से उपजी हैं। इसी प्रकार ईसाई धर्मयाजक अनेक विवरण देते हैं और आरोप लगाते हैं जो सदैव अतिशयोक्तिपूर्ण और प्रायः निराधार होते हैं।

11. संक्षेप में, मुहम्मद अरब प्रायद्वीप के हिज़ाज मरूस्थल में अवतरित हुए जो वृक्षविहीन, ऊसर और बंजर स्थान था - रेतीला और नितान्त निर्जन। मक्का और मदीना जैसे कुछ स्थान अत्यधिक गर्म थे। वहाँ के निवासी खानाबदोश थे, उनके आचरण तथा तौर-तरीके मरूभूमिवासियों के थे, ज्ञान और विद्या से वे पूरी तरह वंचित थे। स्वयं मुहम्मद भी निरक्षर थे। कुरआन मूलरूप से भेड़ों की अस्थि फलकों या खजूरपत्रों पर लिखी गई थी। इससे अनुमान कीजिए उन लोगों की दशाओं का जिनके पास मुहम्मद को भेजा गया।

12. उन लोगों के प्रति मुहम्मद का पहला उपालम्भ यह था: “तुम तौरेत और इंजील को अस्वीकार क्यों करते हो और ईसामसीह तथा मूसा में विश्वास क्यों नहीं करते हो?” इस कथन से उनके सामने वस्तुतः कठिनाई आ खड़ी हुई, क्योंकि उन्होंने पूछा: “हमारे पितृजनों तथा पूर्वजों के बारे में क्या कहा जाएगा जो तौरेत तथा गॉस्पल में विश्वास नहीं करते थे?” मुहम्मद ने उत्तर दिया, “वे भटक गए थे और तुम्हारे लिए यह अनिवार्य है कि तुम उनका त्याग कर दो जो तौरेत और इंजील में विश्वास नहीं करते हैं, चाहे वे तुम्हारे अपने पूर्वज ही क्यों न हों।”

13. तो ऐसे देश में और ऐसी बर्बर जनजातियों के बीच में एक अनपढ़ ‘पुरुष’ ने एक ‘पुस्तक’ प्रकट की जिसमें ईश्वर के गुणों और पूर्णताओं का, उसके संदेशवाहकों के ईशदूत कर्म का, उसके धर्म के नियमों का और ज्ञान के कुछ क्षेत्रों एवं मानव शिक्षा के प्रश्नों का अत्यधिक परिपूर्ण तथा प्रवाहपूर्ण शैली में प्रतिपादन किया गया है।

14. उदाहरण के लिए, जैसाकि आप जानते हैं, परवर्ती काल के प्रख्यात खगोलविद्5 के निष्कर्षों से पहले, अर्थात् ईसाई युग की पहली शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक संसार के सभी गणितज्ञ पृथ्वी की केन्द्रीय स्थिति और सूर्य की गतिशीलता की मान्यता पर एकमत थे। यह आधुनिक खगोलविद् नए सिद्धान्त का जन्मदाता था जिसमें पृथ्वी को गतिशील और सूर्य को स्थिर माना गया। उसके समय तक विश्व के सभी गणितज्ञ और दार्शनिक होलेमाटूक प्रणाली को मानते थे और उसके विरूद्ध बोलने वाले को अज्ञानी माना जाता था। यह सत्य है कि अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में पाइथागोरस और प्लेटो ने यह धारणा की थी कि राशिचक्र के चतुर्दिक सूर्य की वार्षिक गति स्वयं सूर्य से नहीं, बल्कि पृथ्वी के उसके चारों ओर परिक्रमा करने से होती है। लेकिन इस सिद्धान्त को पूरी तरह भुला दिया गया और सभी गणितज्ञों ने विश्व स्तर पर टोलेमाइक सिद्धान्त को स्वीकार किया। परन्तु कुरआन की कुछ आयतों में टोलेमाइक प्रणाली का खण्डन मिलता है। एक अनुवाक्य है, “सूर्य अपने ही एक निश्चित स्थान पर गतिशील है।”6 यह पद सूर्य की स्थिरता और एक धुरी के चतुर्दिक उसकी गतिशीलता की ओर संकेत करता है। इसी प्रकार, एक अन्य पद, “और प्रत्येक अपने ही आसमान में तैरता है”7 में सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी तथा अन्य आकाशीय पिण्डों की गतिविधि का उल्लेख किया गया है। जब कुरआन दूसरे देशों में गई तो सभी गणितज्ञों ने उपहास किया और इस विचार को अज्ञानजन्य बताया। मुसलमान धर्माचार्यों ने भी इन आयतों को टोलेमाइक प्रणाली के विपरीत पाकर इनकी प्रतीकात्मक व्याख्या करने की विवशता अनुभव की। वस्तुतः टोलेमाइक सिद्धान्त को अकाट्य तथ्य के रूप में स्वीकार किया गया, यद्यपि स्पष्ट रूप से कुरआन ने उसका खण्डन किया था।

15. लेकिन ईसाई काल की पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद अर्थात् मुहम्मद के लगभग नौ सौ वर्ष बाद एक प्रसिद्ध गणितज्ञ ने8 नये निष्कर्ष प्रस्तुत किये, दूरबीन का आविष्कार हुआ, महत्वपूर्ण खोजें की गईं, पृथ्वी के परिभ्रमण तथा सूर्य की स्थिरता की पुष्टि हुई और इसी प्रकार सूर्य के अपनी ही धुरी पर घूमने की खोज हुई। तब यह स्पष्ट हो गया कि कुरआन के सुस्पष्ट मूलपाठ का यथार्थ से पूरा मेल था और टोलोमाइक प्रणाली निरी कल्पना थी।

16. थोड़े शब्दों में, मुहम्मदी धर्म की छत्रछाया में तेरह सदियों तक बहुसंख्य पूर्वीय राज्यों के लोगों की शिक्षा-दीक्षा हुई। मध्य युगीन कालावधियों में, जब यूरोप बर्बरता की अतल गहराइयों में डूबा था, तब अरबवासी विज्ञान और शिल्प, गणित, सभ्यता, शासन और अन्य कलाओं में धरती के अन्य सभी राष्ट्रों में अग्रगण्य थे। अरब प्रायद्वीप की जनजातियों के आदि-प्रेरक और शिक्षादाता और उन सदैव संघर्षरत कबिलों के बीच मानवीय परिपूर्णताओं की सभ्यता के संस्थापक एक अशिक्षित ‘पुरुष’ मुहम्मद थे। यह सुविख्यात पुरुष सार्वभौम शिक्षक थे या नहीं ? हम न्यायोचित निर्णय करें।

**8**

**बाब**

1. बाब9- ईश्वर करे मेरी आत्मा न्योछावर हो उन पर -जब युवावस्था में थे अर्थात अपने दिव्य जीवन के पच्चीसवें वर्ष में, तब वे अपने धर्म का उद्धोष करने के लिए उठ खड़े हुए। शियाओं ने सर्वत्र यह माना है कि उन्होंने कभी किसी विद्यालय में अध्ययन नहीं किया और न किसी शिक्षक से ही विद्या-लाभ प्राप्त किया। शी़राज के सभी लोग इसके साक्षी हैं। तथापि परमोत्कृष्ट ज्ञान से सम्पन्न वह सहसा लोगों के सम्मुख प्रकट हुए और मात्र एक व्यापारी होते हुए भी उन्होंने फारस के सभी धर्माचार्यों को हतप्रभ कर दिया। अकेले ही उन्होंने वह काम हाथ में लिया जिसकी कल्पना करना भी कठिन है, क्योंकि फारसियों का धार्मिक उन्माद जगत प्रसिद्ध है। यह यशस्वी आत्मा ऐसी शक्ति के साथ उठी कि तत्कालीन फारस के धार्मिक नियमों, प्रथाओं, व्यवहारों, शिक्षाओं और आदतों की जड़ें हिल गईं और एक नए विधान, विश्वास और धर्म की संस्थापना हुई। राज्य के प्रतिष्ठित जन, सर्वसामान्य जन और धार्मिक नेता जन सब के सब उन्हें मारने और मिटा डालने के लिए कटिबद्ध हो गये लेकिन अकेले वह उनके सामने डटे रहे और समूचे फारस में हलचल उत्पन्न कर दी। उस देश के कितने ही सारे धर्माचार्यों, नेतागणों तथा निवासियों ने उनके धर्म-पथ पर सहर्ष और सानन्द अपने प्राण अर्पित किए और शहादत स्थल की ओर दौड़े चले गये।

2. शासक, राष्ट्र, धर्मयाजकों तथा प्रमुख नेताओं ने उनके प्रकाश को बुझाने के उपाय किए लेकिन निष्फल रहे। अंत में उनका चन्द्रोदय हुआ, उनका सितारा चमका, उनकी आधारशिला सुरक्षित हुई और उनका क्षितिज प्रकाश से जगमगा उठा। अपनी दिव्य शिक्षा से उन्होंने विशाल जनमानस को प्रशिक्षित किया और फारसवासियों के विचारों, प्रथाओं, नैतिक मूल्यों तथा व्यवहारों पर अद्भुत प्रभाव डाला। अपने सभी अनुयायियों के लिए उन्होंने बहा के सूर्य के प्राकट्य का सुसमाचार घोषित किया और उस पर विश्वास तथा निश्चय के लिए उनको तैयार किया।

3. इतने आश्चर्यजनक प्रतीकों और महत्वपूर्ण कार्यों का प्रकटन, लोगों के विचारों और मानस पर पड़ा उनका प्रभाव, प्रगति की नीवों का स्थापन और सफलता तथा समृद्धि की पूर्वापेक्षाओं की स्थापना इस तथ्य का महत्तम प्रमाण है कि वह युवा व्यापारी एक सर्वतोन्मुखी शिक्षक थे। ऐसा तथ्य है यह जिसे कोई निष्पक्ष एवं न्यायप्रिय व्यक्ति स्वीकारने से कभी नहीं हिचकेगा।

**9**

**बहाउल्लाह**

1. बहाउल्लाह10 ऐसे समय में प्रकट हुए जब फारस घनघोर अज्ञान में डूबा था और धर्मान्धता ने उसे निपट अंधा व खोखला बना दिया था। निस्संदेह रूप से आप ने यूरोपीय इतिहासकारों के विवरण पढ़े होंगे जिसमें कुछ विगत सदियों के समय के फारसवासियों के नैतिक गुणों, व्यवहारों तथा विचारों की जानकारी दी गई है। अतः उनकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है। यही कहना पर्याप्त है कि फारस इतने अगाध गर्तों में जा गिरा था कि उसे देखकर विदेशी यात्री शोक करते थे कि जिस देश ने अतीतकाल में महानता और सभ्यता के शिखर छुए थे वही अब अवनति, विपन्नता तथा विनाश के निकट जा पहुंचा है और उसके निवासी परम दरिद्र बन कर रह गए हैं।

2. ऐसे ही समय में बहाउल्लाह का आगमन हुआ। उनके पिता राजदरबार में मंत्री थे, कोई धर्माचार्य नहीं। और सारे फारस को यह भली-भाँति ज्ञात है कि बहाउल्लाह ने कभी किसी स्कूल में अध्ययन नहीं किया और न कभी विद्वानों और धर्माचार्यों के सम्पर्क में रहे। उनके जीवन का प्रारम्भिक काल अत्यधिक सुख-सुविधा में बीता और उनके साथी तथा सहयोगी विद्वानों के बजाय उच्च कोटि के फारसी थे।

3. जैसे ही बाब ने अपना धर्म प्रकट किया, बहाउल्लाह ने कहा: “यह महापुरुष सद्धर्मियों का स्वामी है और उसके प्रति निष्ठा रखना सभी के लिए अनिवार्य है।” उनकी सत्यता के निश्चित प्रमाण और निर्णायक तर्क देकर, वह बाब के धर्म का उन्नयन करने के लिए उठ खड़े हुए। यद्यपि उस देश के धर्माचार्यों ने फारस सरकार को अत्यधिक प्रचण्ड विरोध करने के लिए बाध्य किया, यद्यपि उन सभी ने बाब के अनुयायियों के संहार, लूट-पाट, उत्पीड़न तथा सम्पूर्ण विनाश के आदेश जारी किये, और यद्यपि पूरे देश में लोगों ने उनको मार डालने तथा लूटने का काम अपने हाथों में ले लिया, यहाँ तक कि उनकी स्त्रियों तथा बच्चों को भी तंग किया - इन सबके बावजूद, बहाउल्लाह अत्यधिक धैर्य और निरन्तरता के साथ बाब की वाणी को उन्नत करने के लिए कटिबद्ध हुए। क्षणमात्र के लिए भी उन्होंने छिपने की चेष्टा नहीं की, बल्कि खुलकर प्रत्यक्ष रूप से अपने शत्रुओं से सम्पर्क रखा, प्रमाण तथा तर्क प्रस्तुत करने में जुटे रहे और ईश-शब्द के उन्नयन के लिए विख्यात हुए। बार-बार उन्होंने विपत्तियाँ उठाईं और प्रति पल उनका जीवन गम्भीर संकट में रहा।

4. बहाउल्लाह को जंजीरों में जकड़ कर एक भूमिगत काल-कोठरी में डाल दिया गया। उनकी विशाल पैतृक सम्पत्तियाँ लूट ली गईं। एक से दूसरे देश में चार बार वह निर्वासित किए गए और अन्त में वह ‘परम महान कारागार’11 में निवास करने के लिए आये।

5. इतने पर भी, ईश्वर का आह्वान कभी थमा नहीं और उनके धर्म की प्रसिद्धि विदेशों तक जा पहुंची। उन्होंने ऐसी परिपूर्णताएँ, ज्ञान तथा विधा दर्शाये कि फारस का प्रत्येक व्यक्ति दंग रह गया। तेहरान, बगदाद, कान्स्टैन्टिनोपल, एड्रियानोपल और अक्का में उनके निकट आये विद्वज्जनों - सामान्य रूप से मित्र तथा शत्रु - ने अपने प्रत्येक प्रश्न के पूर्ण तथा विश्वसनीय उत्तर प्राप्त किए। सभी ने पूरी तत्परता के साथ माना कि वह प्रत्येक पूर्णता में संसार भर में अपने ढंग के अकेले और विलक्षण व्यक्ति हैं।

6. बगदाद में प्रायः ऐसा होता कि मुसलमान, यहूदी और ईसाई धर्माचार्य तथा यूरोपीय विद्वान उनकी आशीर्वादित उपस्थिति में आ जुटते थे। प्रत्येक व्यक्ति उनसे एक भिन्न प्रश्न पूछा करता था। उनके भिन्न-भिन्न धर्ममतों के बावजूद प्रत्येक प्रश्नकर्ता को इतना पूर्ण तथा युक्ति-युक्त उत्तर मिला करता कि वे उससे पूरी तरह संतुष्ट हो जाते थे। एक बार कर्बला और नजफ12 में रहने वाले फारसी धर्माचार्यों ने भी मुल्ला हसन अमू नाम के एक विद्वान को अपने प्रतिनिधि के तौर पर उनके पास भेजा। उनके सौभाग्यप्रद सान्निध्य में आकर उसने उनकी ओर से कई प्रश्न पूछे जिनके उत्तर बहाउल्लाह ने दिए। तब हसन अमू ने कहा, “धर्माचार्य आपके सुविस्तृत ज्ञान तथा योग्यताओं को स्वीकार करते हैं और सभी मानते हैं कि विधा के प्रत्येक क्षेत्र में आप के समान या आप के समकक्ष भी कोई नहीं है। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट है कि इस विधा का आप ने कभी अध्ययन या अर्जन नहीं किया है। लेकिन उन धर्माचार्यों का कहना है कि वे इतने से संतुष्ट नहीं हैं और केवल आप के ज्ञान तथा योग्यताओं के आधार पर वे आप के दावे की सत्यता स्वीकार नहीं कर सकते। अतः वे निवेदन करते हैं कि उनकी मनःतुष्टि और उनको विश्वास दिलाने के लिए आप कोई चमत्कार दिखलाएँ।”

7. बहाउल्लाह ने उत्तर दिया, “यद्यपि यह मांग करने का अधिकार उनको नहीं है, क्योंकि अपने प्राणियों की परीक्षा लेना ईश्वर का काम है, ईश्वर की परीक्षा लेना प्राणियों का काम नहीं है, फिर भी इस मामले में उनका अनुरोध स्वीकृति तथा अनुमति के योग्य है। क्योंकि ईश्वर का धर्म रंगमंच नहीं है जहाँ हर घण्टे पर एक नया प्रदर्शन प्रस्तुत किया जाता है और हर दिन एक नई मांग रखी जाती है। इस तरह तो ईश्वर का धर्म बच्चों के खेलने की वस्तु बन जाएगा।”

8. “अतः धर्माचार्य एकत्र होकर एकमत से एक चमत्कार चुन लें और लिखित में यह शर्त स्वीकारें कि इस चमत्कार प्रदर्शन के बाद उनको कोई संदेह नहीं रहेगा और वे सभी इस प्रभुधर्म की सत्यता को स्वीकार करेंगे और उस पर अपना विश्वास प्रकट करेंगे। उस कागज पर वे अपनी मुहर लगाएँ और उसे लाकर मुझे दें। सच्चाई की कसौटी के रूप में वे यह तय करें कि यदि चमत्कार सम्पन्न हो जाए तो उनके संदेह के लिए कोई स्थान नहीं रहेगा, और अगर ऐसा नहीं हुआ तो हम पाखण्ड के अपराधी होंगे।”

9. विद्वान हसन अमू यह सुनकर उठे और बोले, “कुछ और कहने की आवश्यकता नहीं है।” उन्होंने बहाउल्लाह को नमन किया, यद्यपि वह बहाई नहीं थे और चले गये। इसके बाद उन्होंने धर्माचार्यों को एकत्र कर उनको बहाउल्लाह का संदेश दिया। उन्होंने आपस में परामर्श करने के बाद कहा, “यह आदमी जादूगर है। वह सम्भवतः कोई इन्द्रजाल रच ही दे और तब हमारे पास कोई आश्रय/बहाना नहीं होगा,” और इस प्रकार उन्होंने प्रत्युत्तर देने का साहस नहीं किया।

10. किन्तु मुल्ला हसन अमू ने अनेक सभाओं में इस घटना की चर्चा की। कर्बला से वह किरमानशाह और तेहरान गए जहाँ उन्होंने सभी को इस आख्यान का विस्तृत विवरण दिया और बताया कि किस प्रकार उलेमा भयभीत होकर पीछे हट गए।

11. कहने का तात्पर्य है कि पूर्व में बहाउल्लाह के सभी विरोधियों ने उनकी महानता, विशिष्टता, ज्ञान और अनुभव को मान लिया था, और अपनी शत्रुता के बावजूद वे उनको “यशस्वी बहाउल्लाह” कहते थे।

12 संक्षेप में, वह परम महान प्रकाशपुंज फारस के गगनमण्डल पर सहसा ही उदित हुआ और उस देश के सभी जन, चाहे वे मंत्रीगण हों या धर्माचार्य अथवा जनसामान्य, उनके विरूद्ध प्रबलतम शत्रुभाव से उठ खड़े हुए। उन्होंने आरोप लगाया कि वह उनके धर्म, नियमों, राष्ट्र और साम्राज्य का अस्तित्व मिटा डालने को कृतसंकल्पित हैं। यही ईसामसीह के लिए भी कहा गया था। फिर भी, बहाउल्लाह ने रंचमात्र विचलित हुए बिना अकेले और बिना किसी सहायता के उन सबका सामना किया।

13. अंत में उन लोगों ने कहा, “जब तक यह आदमी फारस में रहेगा, तब तक कहीं शांति या स्थिरता नहीं होगी। उसका देश निकाला होना चाहिए ताकि फारस में फिर से शांति हो सके।” इसलिए उन्होंने बहाउल्लाह को भारी कठिनाइयों में डाला जिससे वह फारस छोड़ जाने की अनुमति मांगने के लिए विवश हो जाएँ। उन सब ने कल्पना की थी कि इस प्रकार प्रभुधर्म का दीपक बुझ जाएगा। लेकिन इस उत्पीड़न का उल्टा प्रभाव हुआ। प्रभुधर्म की महिमा में वृद्धि हुई और उसकी ज्वाला और अधिक आभामयी/प्रखर हो उठी। अब तक उसका प्रसार केवल फारस में ही हुआ था, परन्तु इससे वह अन्य क्षेत्रों में भी फैलने लगा। इस पर उनके शत्रुओं ने कहा, “ईराक फारस के बहुत निकट है। हमें उसे दूरवर्ती देशों में भेजना होगा।” इस प्रकार फारस सरकार की हठधर्मी से बहाउल्लाह को ईराक से कॉन्स्टैन्टिनोपल निर्वासित किया गया। लेकिन इस बार भी उन्होंने देखा कि वह तनिक भी नहीं डगमगाए। तब उन्होंने कहा, “कॉन्सटैन्टिनोपल विभिन्न जनसमुदायों एवं राष्ट्रों के लिए आवागमन का चौराहा है और बहुत से फारसी भी वहाँ हैं।” अतः उन्होंने पुनः कार्यवाही की और उनको एड्रियानोपल निर्वासित कराया। परंतु उस ज्वाला ने और अधिक तीव्रता धारण की और प्रभुधर्म का कद और अधिक बढ़ गया। अन्त में फारसियों ने कहा, “इनमें से कोई स्थान मानमर्दन का स्थान नहीं था, अवश्य ही उसको ऐसी जगह भेजा जाना चाहिए जहाँ उसको नीचा दिखाया जा सके और विपत्तियों तथा उत्पीड़नों का भी विषय बनाया जा सके और जहाँ उसके बान्धवों तथा अनुयायियों को घनघोर आपदाएँ झेलने को मिलें।” इस प्रकार उन्होंने कारागार-नगर अक्का को चुना जो विद्रोहियों, हत्यारों, चोरों तथा लुटेरों के लिए ही आरक्षित था और इस तरीके से उन लोगों ने बहाउल्लाह को ऐसे लोगों से सम्बद्ध कर दिया। परन्तु ईश्वर की शक्ति उजागर हुई, क्योंकि यही कारागार उनके धर्म के उन्नयन तथा उनके ‘शब्द’ के महिमामण्डन का साधन बना। ऐसे बन्दीगृह के भीतर से और ऐसी अपमानजनक परिस्थितियों के अन्तर्गत रह कर भी, बहाउल्लाह फारस की दशा पूरी तरह बदलने में, अपने शत्रुओं को पराभूत करने में और सभी के समक्ष अपने धर्म की अप्रतिरोध्य शक्ति को सिद्ध कर दिखाने में सफल हुए। इन कार्यों से उनकी महानता प्रत्यक्ष हो गई। उनकी पावन शिक्षाओं का सभी क्षेत्रों में विस्तार हुआ और उनका धर्म दृढ़ता के साथ स्थापित हो गया।

14. फारस के प्रत्येक प्रान्त में बहाउल्लाह के शत्रु अत्यधिक विद्वेष के साथ उठे। अनुयायियों को अपने कब्जे में लेकर पीटा, जलाया, मार डाला, हजारों घर-परिवार उजाड़ डाले और उनके धर्म को नेस्तनाबूद करने के लिए प्रत्येक हिंसक उपाय का आश्रय लिया। इन सबके बावजूद, उन्होंने हत्यारों, चोरों तथा लुटेरों की इस हवालात के भीतर से अपने धर्म को प्रोन्नत किया, अपनी शिक्षाओं का प्रसार किया, अपने अनेक अत्यधिक घातक शत्रुओं की आँखें खोलीं और उनको सुदृढ़ अनुयायी बनाया। उनके कार्यों का ऐसा प्रभाव हुआ कि स्वयं फारस सरकार भी अपनी नींद से जागी और शरारती धर्माचार्यो के हाथों जो कुछ हुआ था उसका उसे पछतावा हुआ।

15. बहाउल्लाह जब पवित्र भूमि के इस कारागार में आये तो प्रज्ञाचक्षु आत्माएं इस तथ्य के प्रति सचेत हुईं कि ईश्वर ने जो भविष्यवाणियाँ अपने ईशदूतों के माध्यम से दो-तीन हजार वर्ष पूर्व की थीं, वे अब साकार हुई हैं और उसके वचन सत्य सिद्ध हुए हैं। कुछ ईशदूतों को यह तथ्य प्रकटित कर परमेश्वर ने पवित्र भूमि के लिए घोषित किया था कि ‘जन-गण का स्वामी’ वहाँ प्रकट होगा। पूर्वप्रदत्त ये सभी वचन चरितार्थ हुए। यह कल्पना करना कठिन है कि बहाउल्लाह के शत्रुओं का विरोध और बहाउल्लाह का निष्कासन-निर्वासन न होता तो कैसे वह फारस छोड़ कर अपना तम्बू इस पवित्र भूमि में गाड़ पाते। उनके शत्रुओं ने तो यही किया था कि इस कारावास से उनका धर्म पूरी तरह से विनष्ट होकर लुप्त हो जाएगा। किन्तु, इसके स्थान पर, यहाँ का बंदी जीवन उनके धर्मोन्नयन का सबसे बड़ा सम्पोषक और साधन बन गया। ईश्वर का आह्वान पूर्व तथा पश्चिम तक पहुंचा और सत्य के सूर्य की किरणें सभी देशों में चमक उठीं। जय हो परमेश्वर की! एक कैदी थे वह, उनका वितान कार्मल पर्वत पर तना और उन्होंने परम तेजस्विता के साथ विचरण किया। परिचित या अपरिचित, जो भी उनके निकट जाता, विस्मित हो कह उठता, “यह बन्दी नहीं, बल्कि कोई बादशाह है!”

16. कारागार में आने के तुरन्त बाद उन्होंने नेपोलियन को एक पत्र लिखा जिसे उन्होंने फ्रांस के राजदूत के माध्यम से उसके पास भेजा। पत्र का सारांश यह था, “मैं पूछता हूँ कि इस कारागार में कैद किए जाने के लिए हमने कौन-सा अपराध किया है।”13 नेपोलियन ने कोई उत्तर नहीं दिया। तत्पश्चात एक दूसरा पत्र भेजा गया जो ‘सूरा-ए-हैकल’ में दिया गया है। इस पत्र का सारांश यह है: “हे नेपोलियन, तूने मेरी पुकार को अनसुना किया और उसका उत्तर नहीं दिया है, तेरा साम्राज्य नष्ट हो जाएगा और तू शक्तिहीन हो जाएगा।”14 इस पत्र को सीज़र कैटाफागो15 की देख-रेख में डाक द्वारा नेपोलियन को भेजा गया जिसकी पूरी जानकारी निर्वासन में उनके साथियों को भी थी। इस पत्र की विषय-वस्तु समस्त फारस में पहुंची, क्योंकि ‘‘किताब-ए-हैकल’’ उसी समय उस देश के कोने-कोने में भेजी गई और यह पत्र उसमें शामिल था। वर्ष 1869 की घटना है यह, और जब ‘सूरा-ए-हैकल’ फारस तथा भारत में वितरित हुई तब यह पुस्तक सभी अनुयायियों के हाथों में थी और वे इस चेतावनी के नतीजे की प्रतीक्षा कर रहे थे। अविलम्ब, 1870 में, जर्मनी और फ्रांस के बीच युद्ध की आग भड़की। और उस समय यद्यपि जर्मनी के जीतने की आशा किसी को नहीं थी फिर भी नेपोलियन की करारी हार हुई। उसने शत्रुओं के समक्ष आत्मसमर्पण किया और अपने मान-सम्मान को घोर अपमान में बदलते देखा।

17. इसी प्रकार अन्य सम्राटों को पातियाँ भेजी गईं जिन में एक पत्र महामहिम नसिरूद्दीन शाह के लिए था। इस पत्र में बहाउल्लाह ने कहा था: “मुझे अपने समक्ष बुलाओ और सभी धर्माचार्यों को एकत्र कर लो। सभी से प्रमाण तथा साक्ष्य प्रस्तुत करने को कहो, ताकि सत्य को भ्रान्ति से पृथक किया जा सके।”16 शाह ने बहाउल्लाह का पत्र धर्माचार्यों को देकर उनको यह काम सौंपा लेकिन इसका उनको साहस नहीं हुआ। तब उन्होंने सात सर्वाधिक प्रख्यात धर्माचार्यों से इस पत्र का उत्तर देने को कहा। मात्र थोड़े से समय में, उसे वापस देते हुए उन्होंने कहा, “यह व्यक्ति धर्म का विरोधी और शाह का शत्रु है।” फारस के शाह ने अत्यधिक उद्विग्न होकर कहा, “यहाँ बात है प्रमाण और साक्ष्य की, सत्य और भ्रान्ति की। शासन के प्रति शत्रुता से उसका क्या लेना-देना है ? कितने खेद का विषय है कि हमने इन धर्माचार्यों के प्रति इतना सम्मान दिखलाया है फिर भी वे इस पत्र का उत्तर तक नहीं दे सकते।”

18. संक्षेप में, राजाओं को भेजी गई इन पातियों में जो कुछ लिखा था वह सब हो चुका है। आवश्यकता केवल उन पत्रों की विषय-वस्तु की उन घटनाओं से तुलना करने की है जो वर्ष 1870 से घटित हुई हैं। ऐसा करने पर हम देखते हैं कि भविष्य में प्रत्यक्ष होने को शेष रहीं कुछ भविष्यवाणियों को छोड़कर, सभी पूर्ण हुई हैं।

19. इसके अतिरिक्त, विदेशियों तथा अनुयायियों ने भी बहाउल्लाह को उनके अद्भुत कामों का श्रेय दिया है। कुछ का विश्वास था कि वह संत थे और कुछ ने इसी आशय के विवरण लिखे। बगदाद के एक सुन्नी धर्माचार्य सैयद दाउदी ने एक लघु लेख लिखा जिसमें उन्होंने किसी प्रसंग में बहाउल्लाह के कुछ असाधारण करतबों का वर्णन किया। आज भी समस्त पूर्व में ऐसे लोग हैं जो बहाउल्लाह को ईश्वर का अवतार नहीं मानते हैं, किन्तु उन्हें संत मानते हैं और उनके चमत्कारों की चर्चा करते हैं।

20. संक्षेप में कहें तो, बहाउल्लाह का सान्निध्यलाभ करने वाले, शत्रु या मित्र, एक भी ऐसी आत्मा नहीं, जिसने उनकी महानता को स्वीकारा और प्रमाणित नहीं किया। भले ही वह अनुयायी न बना हो, लेकिन उनकी महानता की साक्षी वह निरपवाद रूप से देता ही है। कोई व्यक्ति जैसे ही उनके सम्मुख आता था कि इस भेंट का उस पर ऐसा प्रभाव पड़ता कि अधिकांशतया वह अवाक् रह जाता था। कितनी ही बार उनका कोई कट्टर दुश्मन मन-ही-मन यह संकल्प करके समीप आता था कि ऐसा और वैसा कहेंगे या ऐसी और वैसी बहस करेंगे, लेकिन वह केवल हक्का-बक्का और किंकर्तव्यविमूढ़ होकर एकदम चुप्पी साधे रह जाता था।

21. बहाउल्लाह ने कभी अरबी भाषा नहीं पढ़ी, कोई शिक्षक या अनुशिक्षक नहीं रखा और किसी विद्यालय में वह नहीं गए। तथापि उनकी उच्चरित अरबी और उनकी अरबी पातियों में भी उनकी वाग्मिता और धाराप्रवाहिता देखकर अरबी के अत्यन्त वाक्पटु और दक्ष विद्वान भी दंग रह जाते थे और सभी ने यह माना कि इस क्षेत्र में उनकी सिद्धियाँ किसी समता या समकक्षता से रहित हैं।

22. यदि हम तौरेत के मूलपाठ की जांच करें तो देखेंगे कि किसी ईश्वरावतार ने उसे अस्वीकार करने वालों से कभी यह नहीं कहा कि “जो भी चमत्कार तुम चाहो, मैं करने को तैयार हूँ।” फिर भी शाह को लिखे अपने पत्र में बहाउल्लाह ने स्पष्ट कहा: “अपनी उपस्थिति में धर्माचार्यों को एकत्र करो और मुझे बुलाओ, ताकि प्रमाण और साक्ष्य सुस्थापित हो जायें।”

23. पचास वर्षों तक बहाउल्लाह ने पर्वत की भाँति अटल रहकर अपने शत्रुओं का सामना किया। सभी ने उनको समूल नष्ट करने की चेष्टा की। उन पर हमले किए और हजार बार उनको सूली पर लटका कर समाप्त कर देने के षड्यंत्र किए। लगातार उन पचास वर्षों तक वह भारी संकटों में रहे।

24. फारस की कहें, जो अत्यधिक दयनीय तथा जीर्ण-शीर्ण दशा में पड़ा है, तो उसके क्रियाकलापों की वास्तविक स्थिति को जानने वाला कोई भी सीमापार या अन्दर का विवेकशील व्यक्ति पूर्ण रूप से यह अनुभव करता है कि उसकी प्रगति, सम्पन्नता और सभ्यता इसी ‘महिमामय विभूति’ की शिक्षाओं के प्रचार तथा सिद्धान्तों के प्रसार पर ही समग्रतः निर्भर है।

25. अपने आशीर्वादित जीवनकाल में ईसामसीह ने वास्तव में केवल ग्यारह आत्माओं को शिक्षित किया था। इनमें महानतम पीटर ने, फिर भी, कसौटी किए जाने पर तीन बार उनको अस्वीकार किया। इसके बावजूद, देखो कि किस प्रकार ईसा का धर्म अन्ततः पूरी धरती पर छा गया। इस युग में हजारों आत्माओं को शिक्षा दी जिन्होंने, तलवार का ख़तरा होने के बावजूद, या-बहा-उल-अब्हा17 का निनाद सातवें आसमान तक बुलंद किया है और उनके चेहरे परीक्षाओं की भट्टी में तपकर दमकते स्वर्ण की भाँति प्रभासित हुए हैं। इससे उसका अनुमान कीजिए जो भविष्य में घटित होगा।

26. आप अब अवश्य ही न्यायसंगत निर्णय करें और स्वीकारें कि मानवजाति को कैसी शिक्षा देने वाली थी यह यशस्वी विभूति! कैसे विस्मयकारी चिह्न उन्होंने प्रकट किए, और कैसी शक्ति-सामर्थ्‍य अस्तित्व जगत में उनके जरिए अनुभूत की गई है।

**10**

**धार्मिक ग्रन्थों से बौद्धिक प्रमाण और पारम्परिक तर्क**

1. आज हम थोड़े-से प्रमाणों की चर्चा करेंगे। अगर आप इस पावन स्थल पर उस परम देदीप्यमान् ‘प्रकाश’ के18 प्राकट्य के दिनों में आते, उनके सान्निध्य रूपी दरबार में प्रवेश करते और उनके दीप्तिमान् मुखमण्डल के दर्शन करते, तो आप यह सत्यानुभूति कर लेते कि उनकी वाणी तथा उनके सौन्दर्य के आगे किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं है। कितनी ही आत्माएँ उनका सामीप्य प्राप्त करके ही पक्की श्रद्धालु बन गईं, किसी दूसरे प्रमाण की उनको आवश्यकता ही नहीं रह गई। जिन लोगों ने गहन विद्वेष से प्रेरित हो उनको अमान्य किया था, वे भी बहाउल्लाह से मिलने के बाद उनकी महानता प्रमाणित करते हुए कहते थे, “ये वस्तुतः विशिष्ट पुरुष हैं, लेकिन कितना दुःखद है कि वह इस प्रकार का दावा करते हैं! इसके अलावा जो कुछ भी वह कहें, वह सब स्वीकार्य होगा।”

2. अब जब सत्य का वह प्रकाशपुंज अस्त हो गया है, तो सभी को प्रमाणों की आवश्यकता आन पड़ी है। इसीलिए हम बुद्धिसंगत प्रमाण देने लगे हैं। उपर्युक्त के सिवा, एक अन्य प्रमाण का उल्लेख हम करते हैं और यह अकाट्य प्रमाण अकेला ही किसी निष्पक्ष आत्मा के लिए पर्याप्त होना चाहिए। वह प्रमाण यह है कि इस यशस्वी सत्ता ने ‘परम महान कारागार’ के भीतर से अपने ‘धर्म’ को आगे बढ़ाया, वहीं से उनका प्रकाश दमक उठा, उनके सुयश का भूमण्डल भर में विस्तार हुआ और उनकी भव्यता का संदेश पूर्व तथा पश्चिम दोनों में पहुंचा। ऐसा आज तक कभी नहीं हुआ है, अगर आप ईमानदारी से जांच शुरू करके देखें। लेकिन कुछ आत्माएँ ऐसी हैं जो दुनिया भर के सारे प्रमाण सुनने पर भी, न्यायसम्मत निर्णय नहीं करेंगी। अपना सारा बल लगाकर भी सरकारें और जन-गण उन्हें रोकने में असमर्थ रहीं। अकेले उत्पीड़ित और बन्दी होते हुए भी, उन्होंने जो कुछ चाहा उसे पूरा किया।

3. मैं बहाउल्लाह के चमत्कारों की चर्चा नहीं करूंगा क्योंकि श्रोता यह कह सकता है कि ये तो महज पारम्परिक कथाएँ हैं जो सच हो सकती हैं और नहीं भी। गॉस्‍पल के सम्बन्ध में भी यही बात है। उसमें वर्णित ईसामसीह के चमत्कारों के विवरण हमें उनके पट्टशिष्यों से प्राप्त होते हैं, किसी अन्य प्रेक्षक से नहीं। यहूदियों ने तो उन्हें नकारा भी है। तथापि, यदि मैं बहाउल्लाह के अतिप्राकृत असाधारण कार्यों का उल्लेख करूँ तो, उनकी संख्या बहुत है और कुछ गैर-बहाइयों सहित पूर्व में उनको असंदिग्ध रूप से स्वीकारा गया है। लेकिन ये विवरण सभी के लिए निर्णायक सबूत और साक्ष्य नहीं हो सकते, क्योंकि श्रोता कह सकता है कि ये तथ्यतः सत्य नहीं हैं, जैसे अन्य धर्ममतों के अनुयायी भी अपने धर्मगुरूओं से सुने चमत्कारों का वर्णन करते हैं। उदाहरण के लिए, हिन्दू ब्रह्म के कुछ चमत्कारों की कहानी कहते हैं। हम कैसे जान सकते हैं कि वे झूठ हैं और ये सच हैं ? यदि ये कपोलकल्पित हैं तो वे भी ऐसे ही है, और यदि ये व्यापक रूप से प्रमाणित हैं तो उनके बारे में भी यही सत्य है। इस प्रकार ऐसे विवरण यथेष्ठ प्रमाण नहीं हो सकते। निस्संदेह रूप से, कोई चमत्कार किसी प्रत्यक्षदर्शी के लिए प्रमाण बन सकता है, तो भी वह सम्भवतः यह निश्चय न कर पाए कि जो कुछ उसने देखा वह सचमुच चमत्कार ही था या मात्र जादू-टोना। असल में, कुछ जादूगरों ने असाधारण करतब भी कर दिखाए हैं।

4. संक्षेप में, हमारा तात्पर्य यह है कि बहाउल्लाह ने यद्यपि अनेक अद्भुत कार्य किए, किन्तु हम उनका वर्णन इसलिए नहीं करते हैं कि वे सभी मानवजाति के लिए प्रमाण तथा साक्ष्य नहीं बन सकते, साथ ही वे उनके लिए भी निर्णायक प्रमाण नहीं हैं जिन्होंने उन कार्यों को प्रत्यक्ष देखा था, क्योंकि वे उन्‍हें जादू का कारनामा मान सकते हैं।

5. इसके अतिरिक्त, जिन चमत्कारों के साथ ईशदूतों का नाम जुड़ा है उनमें से अधिकांश का एक आन्तरिक अर्थ है। उदाहरण के लिए, गॉस्‍पल में उल्लेख है कि ईसामसीह की शहादत के समय अंधकार फैल गया, पृथ्वी कांप उठी, ‘मंदिर’ का परदा दो भागों में फट गया और मुर्दे अपनी कब्रों से उठ खड़े हुए। अगर यह बाह्य रूप से घटित होता, तो यह विस्मयकारी बात होती। तब निस्संदेह रूप से इस घटना का उल्लेख तत्कालीन इतिहासवृत्तों में किया जाता और उसने मानव हृदयों को कातरता से जकड़ लिया होता। इतना तो कम से कम होता ही, कि सैनिक ईसा को सूली से उतार लेते, या वहाँ से भाग खड़े होते। लेकिन इन घटनाओं का किसी इतिहास में उल्लेख नहीं किया गया है, अतः यह स्पष्ट है कि इन घटनाओं को शाब्दिक अर्थ के अनुसार नही, बल्कि उनके अंतरार्थ के अनुसार समझा जाना चाहिए। हमारा प्रयोजन ऐसी घटनाओं को नकारने का नहीं है, बल्कि मात्र यह कहने का है कि ये विवरण किसी निर्णायक प्रमाण की संरचना नहीं करते हैं और इनका एक आन्तरिक अर्थ होता है - इससे अधिक कुछ नहीं।

6. अभी तक हमने जो कुछ कहा है वह बुद्धिसंगत तर्कों के सम्बन्ध में था। अतः आज भोजन के समय हम पवित्र धर्मग्रन्थों से लिए गए परम्परागत तर्कों के स्पष्टीकरणों का उल्लेख करेंगे।

7. चूंकि यह जिज्ञासावस्था सत्य की खोज और यथार्थ के ज्ञान की तलाश है - वह मुकाम जहाँ व्याकुल पिपासु जीवन-जल की लालसा करता है और संघर्षरत मत्स्य सागर तक पहुँचता है, जहाँ संतृप्त आत्मा सच्चे चिकित्सक को खोजकर दिव्य उपचार प्राप्त करता है, जहाँ भटका हुआ कारवाँ सत्य-पथ पाता है, और निरूद्देश्य घूमता जलयान मुक्ति-तट उपलब्ध करता है, अतः खोजी का कुछ गुणों से सम्पन्न होना आवश्यक है। पहला यह कि, वह निष्पक्ष और ईश्वर के सिवा सभी से अनासक्त हो। उसका हृदय सम्पूर्ण रूप से ‘सर्वोच्च क्षितिज’ की ओर उन्मुख तथा व्यर्थ और स्वार्थपूर्ण कामनाओं के बन्धन से मुक्त हो, क्योंकि ये उस पथ की बाधाएँ हैं। इसके अतिरिक्त, यह भी आवश्यक है कि वह प्रत्येक कष्ट को सहन करे, परम विशुद्धता एवं निर्मलता को स्वयं में समाहित करे और समस्त विश्व जनों के प्रति प्रेम तथा द्वेष का परित्याग कर दे, ताकि ऐसा न हो कि किसी वस्तु के प्रति उसका अनुराग दूसरी खोज से उसे बाधित कर दे, अथवा किसी वस्तु के प्रति उसका द्वेषभाव उसकी सत्यता को पहचानने से उसे रोक दे। यह खोज की अवस्था है और खोजी को इन गुणों एवं प्रवृत्तियों से सम्पन्न होना ही चाहिए। अर्थात् जब तक वह उस स्थिति को प्राप्त नहीं होगा, तब तक सत्य-सूर्य19 का ज्ञान लाभ करना उसके लिए असम्भव ही रहेगा।

8. आइए अब हम अपने विषय पर वापस आयें। सभी विश्व जन दो ईश्वरावतारों की राह देख रहे हैं जिनका समकालीन होना आवश्यक है। इसका उनको वचन दिया गया है। तौरेत में यहूदियों को ‘जनगण के स्वामी’ और मसीह के आगमन का वचन प्राप्त है। इंजिल में ईसा और ऐलिजा की वापसी की भविष्यवाणी की गई है। मुहम्मद के धर्म में मेहदी और मसीह का विश्वास दिलाया गया है। पारसी तथा अन्य धर्मों के विषय में भी यही सत्य है। इस विषय का अनावश्यक विस्तार करने से हमारी बात बहुत लम्बी हो जाएगी। तात्पर्य यह है कि दो उत्तरोत्तर ईश्वरावतारों के आगमन का वचन सभी को दिया गया है। यह भविष्यवाणी की गई है कि इन अवतारद्वय के अवतरण से धरती एक दूसरी ही धरती बन जाएगी, सारे अस्तित्व नवीकृत हो जाएंगे, सापेक्ष जगत नवजीवन के परिधान धारण करेगा, न्याय तथा धर्मपरायणता समस्त भूमण्डल को परिवेष्टित करेंगे, द्वेष तथा वैरभाव विलीन हो जाएंगे, जनसमुदायों, जातियों और राष्ट्रों के बीच विभाजन के सभी कारण मिट जाएंगे और एकता, सामंजस्य तथा समरसता का उन्नयन सुनिश्चित किया जाएगा प्रमादग्रस्त अपनी नींद से जागेंगे, अंधे देखेंगे, बहरे सुनेंगे, गूंगे बोलेंगे, रोगी निरोग बनेंगे, मृतक पुनर्जीवित होंगे और युद्ध का स्थान शान्ति लेगी। वैर प्रेम में परिणत होगा, कलह तथा संघर्ष के मूल कारण विलुप्त हो जाएंगे, मानवजाति सच्चे आनन्द को उपलब्ध होगी, यह लोक दिव्य जगत को प्रतिबिम्बित करेगा और यह धरा उच्चलोक का सिंहासन बनेगी। सभी राष्ट्र मिलकर एक राष्ट्र बनेंगे, सभी धर्म एक धर्म बनेंगे, सारी मानवजाति एक परिवार और एक बिरादरी बनेगी, धरती के सभी क्षेत्र एक क्षेत्र बन जाएंगे। जातीय, राष्ट्रीय, निजी, भाषायी तथा राजनीतिक पूर्वाग्रह विलुप्त हो जाएंगे और ‘जन-गण के स्वामी’ की छत्रछाया में सभी जन शाश्वत जीवन प्राप्त करेंगे।

9. अब, पवित्र धर्मग्रन्थों से संदर्भ देकर और ईशदूतों के कथनों का अर्थानुमान करके इन अवतारद्वय का आगमन सिद्ध करना होगा। इस समय हमारी मंशापवित्र ग्रंथों से लिए गये तर्क प्रस्तुत करने का है, क्योंकि इन दो ईश्वरावतारों की सत्यता सिद्ध करने वाले बुद्धिसंगत तर्क कुछ दिन पहले भोजन के समय सामने रखे गये थे।20

10. दानियाल की पुस्तक येरूसलम के पुनर्निमाण और ईसा की शहादत के बीच सत्तर सप्ताह की अवधि निश्चित करती है,21 क्योंकि ईसामसीह की शहादत से बलिदान का समापन और बलिवेदी का खंडन होता है। यह भविष्यवाणी ईसामसीह के आगमन को संकेतित करती है।

11. ये सत्तर सप्ताह येरूसलम के पूर्व-अवस्था प्राप्त करने तथा पुनः निर्मित होने के साथ आरम्भ होते हैं। जिसके सम्बन्ध में तीन राजाओं द्वारा चार राजाज्ञाएँ जारी की गईं थीं। पहली राजाज्ञा सिरूस ने वर्ष 536 ईसापूर्व निर्गत की थी। इज़रा की पुस्तक के प्रथम अध्याय में इसका उल्लेख हुआ है। दूसरी राजाज्ञा जो येरूसलम के पुनर्निमाण के सम्बन्ध में है, फारस के दारा ने वर्ष 519 ई.पू. जारी की थी। इसका उल्लेख इजरा के छठे अध्याय में मिलता है। तीसरी आर्टैक्सर्सेज द्वारा वर्ष 457 ई.पू. अपने शासनकाल के सातवें वर्ष में और इसका उल्लेख इज़रा के सातवें अध्याय में किया गया है। चौथी राजाज्ञा आर्टैक्सर्सेज ने ही वर्ष 444 ई. पू. में जारी की गई थी जो नहेमिया के दूसरे अध्याय में दर्ज है।

12. दानियाल का अभिप्राय तीसरी राजाज्ञा में है जिसे वर्ष 457 ई.पू. में जारी किया गया था। सत्तर सप्ताह में 490 दिन होते हैं। बाइबिल के मूलपाठानुसार प्रत्येक दिन एक वर्ष होता है।”22 इसलिए 490 दिन 490 वर्ष हुए। आर्टैक्सर्सेज की तीसरी राजाज्ञा ईसा के जन्म के 457 वर्ष पहले जारी हुई थी, और अपने बलिदान तथा स्वर्गारोहण के समय ईसामसीह की आयु तैंतीस वर्ष थी। 457 में 33 जोड़ने पर 490 होते हैं। ईसामसीह के आगमन के लिए दानियाल ने यही समय बताया था।

13. लेकिन दानियाल की पुस्तक (9: 25) में इसे दूसरे ढंग से व्यक्त किया गया है, अर्थात सात सप्ताह और बासठ सप्ताह। बाह्य रूप से यह प्रथम कथन से भिन्न है। अनेक व्यक्ति इन दोनों कथनों में मेल नहीं कर सके हैं। एक स्थान पर सत्तर सप्ताह का और दूसरी जगह बासठ तथा सात सप्ताहों का और दूसरी जगह बासठ तथा सात सप्ताहों का उल्लेख कैसे किया जा सकता है ? ये दो कथन परस्पर अनुरूप नहीं है।

14. वास्तव में दानियाल दो भिन्न तिथियों की चर्चा करते हैं। एक का आरम्भ येरूसलम के पुनर्निर्माण हेतु इज़रा को जारी की गई आर्टेक्सर्सेज की राजाज्ञा के साथ होता है, और यह उन सत्तर सप्ताहों से मेल खाती है जिनका अन्त ईसामसीह के स्वर्गारोहण के साथ हुआ, जब उनकी शहादत से बलिदान और आत्मोत्सर्ग पर रोक लगी। दूसरी तिथि येरूसलम का पुनर्निर्माण पूर्ण होने के बाद शुरू होती है जो ईसामसीह के स्वर्गारोहण तक बासठ सप्ताह है। येरूसलम के पुनर्निर्माण में सात सप्ताह लगे जो उन्चास वर्ष के बराबर हैं। बासठ सप्ताह में सात सप्ताह जोड़ने पर उन्हत्तर सप्ताह होते हैं और अंतिम सप्ताह में ईसामसीह का स्वर्गारोहण हुआ। इस प्रकार सत्तर सप्ताह पूरे हो जाते हैं और दोनों कथनों में कोई अन्तर्विरोध नहीं रहता है।

15. अब, जबकि दानियाल की भविष्यवाणियों से ईसामसीह का आगमन प्रमाणित हो चुका है, आइए अब बहाउल्लाह और बाब के आगमन की सत्यता सिद्ध करें। अभी तक हमने केवल बुद्धिसंगत तर्क दिए थे। अब हम पारम्परिक प्रमाण प्रस्तुत करेंगे।

16. दानियाल की पुस्तक (8: 13) में कहा गया है: “तब मैंने एक संत को बोलते सुना और एक अन्य संत ने उसी संत से यह कहा कि देवालयों तथा देवदलों को पददलित किये जाने के लिए दैनिक बलि देने और विध्वंस से सम्बन्धित दृश्य कितने दिनों तक रहेगा ? और उसने मुझसे कहा, दो हजार तीन सौ दिनों तक, इसके बाद देवस्थान स्वच्छ किया जाएगा,” कहना यहाँ तक है कि: “अंत के समय यही दृश्य होगा।” कहने का तात्पर्य यह कि, कितने समय तक यह दुर्भाग्य, यह विनाश, यह अपमान तथा अवनति रहेंगे ? अथवा धर्मप्रकाशन का प्रभात कब होगा ? तब उसने कहा, “दो हजार तीन सौ दिन, इसके बाद देवालय स्वच्छ किया जाएगा।” संक्षेप में, बिन्दु यह है कि वह 2300 वर्ष की अवधि निश्चित करते हैं, क्योंकि तौरेत के मूलपाठानुसार प्रत्येक दिन एक वर्ष का होता है इसलिए, येरूसलम के पुनर्निर्माण की राजाज्ञा के दिन से ईसामसीह के जन्म के दिन तक 456 वर्ष होते हैं, और आर्टैक्सर्सेज ईसामसीह के जन्म से बाब के आगमन दिवस तक, 1,844 वर्ष होते हैं, और अगर 456 वर्षों को इस संख्या से जोड़ें तो 2,300 वर्ष बनते हैं। अर्थात् दानियाल के स्वप्न की पूर्ति 1844 ईसवी वर्ष में हुई और यही बाब के आगमन का वर्ष है। दानियाल की पुस्तक के मूलपाठ की जांच करके देखिए कि कितने स्पष्ट रूप से वह उनके आगमन का वर्ष निश्चित करते हैं। किसी दैवीय प्राकट्य के सम्बन्ध में इससे अधिक स्पष्ट कोई भविष्वाणी नहीं हो सकती।

17. मैथ्यू 24: 3 में ईसामसीह स्पष्ट रूप से कहते हैं कि इस भविष्यवाणी से दानियाल का तात्पर्य आगमन की तिथि ही था। सम्बन्धित पद यह है: “जब वह ओलाइब्ज पर्वत पर बैठे थे, शिष्यगण उनके पास गुप्त रूप से आए और उन्होंने कहा, हमें बताइए ये चीजें कब होंगी? और आपके आगमन तथा संसार के अंत का चिह्न क्या होगा?” जो उत्तर दिया गया उसमें ये शब्द थे: “जब तुम विध्वंस की घृणित चीज को पवित्र स्थल पर खड़ा देखोगे, जैसा कि ईशदूत दानियाल ने बोला था, (पाठक इसे समझ लें)” इस प्रकार उन्होंने दानियाल की पुस्तक के आठवें अध्याय का हवाला दिया और यह संकेत किया कि जो कोई यह पढ़े उसे समझ लेना चाहिए कि वह समय कब आएगा। विचार कीजिए कि बाब के आगमन का तौरेत और इंजिल में कितना स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

18. अब हम बहाउल्लाह के आगमन की तिथि का तौरेत से निश्चय करेंगे। इस तिथि की गणना मुहम्मद के प्रकटीकरण के उद्देश्य और उनके प्रवास काल से चन्द्र वर्षों में की जाती है। मुहम्मद के धर्म में चन्द्र तिथिपत्रक प्रयुक्त होता है और धार्मिक रिवाजों से सम्बन्धित सभी अध्यादेश इसी तिथिपत्रक के अनुसार दिये गये हैं।

19. दानियाल की पुस्तक 12: 6 में कहा गया है: “और एक व्यक्ति ने रेशमी वस्त्रधारी पुरुष से कहा ‘जो नदी की लहरों पर था’ कि इन अद्भुत चीजों की समाप्ति में कितना समय लगेगा। और मैंने उस रेशमी वस्त्रधारी पुरुष की बात सुनी जो नदी की लहरों पर सवार था। तब उसने दायें हाथ और अपना बायें हाथ आसमान की ओर उठाया और उसकी शपथ खायी जो सदैव रहता है। और कहा, यह साढ़े तीन वर्ष तक रहेगा, और जब वह पवित्र जनों की शक्ति बिखेरने का काम पूर्ण कर लेगा तो ये सारी चीजें समाप्त हो जाएँगी।”

20. मैंने ‘दिन’ का अर्थ पहले ही स्पष्ट किया है, अतः अब इसके स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है। मुझे संक्षेप में यह कहना है कि ‘पिता’ का एक दिन एक वर्ष के बराबर होता है और प्रत्येक वर्ष में बारह महीने होते हैं। इस प्रकार साढ़े तीन वर्ष में बयालीस महीने बनते हैं, और बयालीस महीनों में 1,260 दिन होते हैं और बाइबिल में प्रत्येक दिन एक वर्ष के बराबर है। और मुस्लिम कैलेण्डर के अनुसार मुहम्मद के प्रवास के समय से वर्ष 1260 में ही बहाउल्लाह के अग्रदूत बाब ने अपना ध्येय प्रकट किया।

21. बाद में, अनुवाक्य सं. 11 और 12 में कहा गया है: “और जिस समय से दैनिक बलि छीन ली जाएगी और वह घृणित वस्तु जो विध्वंस को जन्म देती है प्रारम्भ होगी, तब तक बारह सौ नब्बे दिन होंगे। धन्य है वह जो प्रतीक्षा करेगा और तेरह सौ पैंतीस दिनों की राह देखेगा।”

22. इस चन्द्र गणना का प्रारम्भ हिजाज़ देश में मुहम्मद के ईशदूतपद की उद्घोषणा के दिन से किया जाता है, और यह उनके उद्देश्य के प्रकटीकरण के तीन वर्ष बाद की बात है। आरम्भ में मुहम्मद के ईशदूतपद को गोपनीय रखा गया और खदीजा तथा इब्न-ए-नौफल23 के अतिरिक्त इसे किसी ने नहीं जाना। तीन वर्ष बाद इसकी घोषणा सार्वजनिक रूप से की गई। और मुहम्मद के उद्देश्य के उद्घोष से वर्ष 1290 में जाकर बहाउल्लाह ने अपने धर्मप्रकाशन की उद्घोषणा की।24

**11**

**संत जॉन के धर्मप्रकाशन के  
ग्यारहवें अध्याय की समीक्षा**

1. इस धर्मप्रकाशन 11: 1-2 में कहा गया है: “और वहाँ मुझे एक छड़ी जैसा नरकुल दिया गया: और देवदूत खड़ा हुआ, उसने कहा, उठो और ईश्वर के मंदिर की, और वेदी की और जो उसमें पूजा करते हैं उनका माप करो। लेकिन जो प्रांगण मंदिर से रहित है उसे छोड़ दो और उसका माप मत करो, क्योंकि उसे गैर-यहूदियों को दिया गया है और वे पवित्र नगर को बयालीस महीनों तक पैरों तले रौंदेंगे।”

2. इस नरकुल का तात्पर्य है ‘पूर्ण मनुष्य’ और उसके नरकुल के समान होने का कारण यह है कि जब नरकुल अपने गूदे से पूरी तरह रिक्त और मुक्त हो जाता है तो वह अद्भुत संगीत के माधुर्य को उत्पन्न करने के योग्य बन जाता हैं। इसके अतिरिक्त, ये गीत और धुनें नरकुल की नहीं बल्कि उस बांसुरीवादक की होती हैं जो उसे बजाता है। इसी प्रकार, पवित्र ‘प्राणी’ का निर्मल हृदय ईश्वर के अतिरिक्त सभी से रिक्त और मुक्त होता है, प्रत्येक स्वार्थपूर्ण प्रवृत्ति के प्रति आसक्ति से मुक्त और विमुख होता है और दिव्य चेतना के झोकों के साथ उसका घनिष्ठ परिचय हो जाता है। तब वह जो कुछ बोलता है वह उसका अपना नहीं, बल्कि उस आदर्श ‘वादक’ का और दैवीय प्रकटीकरण का होता है। इसीलिए उसकी तुलना नरकुल से की जाती है और वह नरकुल छड़ी जैसा होता है। अर्थात वह दुर्बलों का विपत्ति में सहायक और प्रत्येक व्यक्ति का सहारा होता है। वह ‘सच्चे चारवाहे’ की छड़ी होता है जिससे वह अपनी भेड़ों के झुंड़ की रक्षा करता है और उसे दिव्य साम्राज्य के चरागाहों की ओर ले जाता है।

3. इसके बाद कहा जाता है कि देवदूत ने उसे सम्बोधित कर कहा, “उठो, और ईश्वर के मंदिर की, वेदी की, और उसमें जो पूजा करते हैं उनका माप करो,” अर्थात् तौलो और मापो। माप-तौल करना किसी वस्तु की मात्रा का निश्चय करना होता है। इस प्रकार देवदूत ने कहा: परम पावन मंदिर-गर्म और वेदी और जो वहाँ पूजा कर रहे हैं उनको तौलो - अर्थात उनकी वास्तविक दशा की जाँच-पड़ताल करो, उनका स्थान और दर्जा, उनकी उपलब्धियाँ, उनकी पूर्णताएँ, उनका आचरण और उनकी प्रवृत्तियाँ खोजो, और उन पवित्र आत्माओं के रहस्यों से अवगत हो जो परम पावन मंदिर-गर्भ के पुनीत-परिशुद्ध स्थान में वास करती हैं।

4. “लेकिन उस प्रांगण को छोड़ देना जो मंदिर से रहित है और उसकी माप न करना, क्योंकि उसे गैर-ईसाइयों को दे दिया गया है।” ईसाई काल की सातवीं शताब्दी के आरम्भ में जब येरूसलम पर विजय प्राप्त हुई, तो परम पावन मंदिर-गर्भ, अर्थात सोलोमन द्वारा बनवाया गया भवन, बाह्यरूप से सुरक्षित रखा गया किन्तु उसका बाहरी प्रांगण छीनकर गैर-यहूदियों को दे दिया गया।

5. “और पवित्र नगर को वे बयालीस महीनों तक पैरों तले रौंदेंगे,” अर्थात् गैर-यहूदी येरूसलम पर बयालीस माह तक कब्जा करके उसे अपने अधीन रखेंगे, अर्थात 1260 दिनों तक, या एक दिन एक वर्ष के बराबर मानने से 1260 वर्षों तक, जो कुरआन के धर्मकाल की अवधि है। बाइबिल के मूल पाठ के अनुसार प्रतिदिन एक वर्ष होता है, जैसा कि इजकील 4: 6 में कहा गया है: “तू जूडाघर (यहूदी मतवाद) का अन्याय चालीस दिन रहेगा, तेरे लिए मैंने प्रत्येक दिन एक वर्ष का निर्धारित किया हैं।”

6. यह इस्लाम धर्मकाल की अवधि से सम्बन्धित एक भविष्यवाणी है, जब येरूसलम को पैरों तले कुचला गया। इसका अर्थ यह है कि उसका अनादर किया गया, जबकि परम पावन मंदिर का गर्भगृह सुरक्षित, संरक्षित और सम्मानित रहा। यह 1260 वर्ष की भविष्यवाणी, बहाउल्लाह तक ले जाने वाले ‘द्वार’ बाब के आगमन से सम्बन्धित एक भविष्यवाणी है जो हिजरी वर्ष 1260 में घटित हुई। अब जब 1260 वर्ष की अवधि पूर्ण हो गई है तो पवित्र नगर येरूसलम पुनः सम्पन्न होने और फलने-फूलने लगा है। जिसने साठ वर्ष पहले येरूसलम को देखा था और आज पुनः देख रहा है वह इस सत्य की अनुभूति करेगा कि वह समृद्ध और सम्पन्न होने लगा है और अपना सम्मान उसने पुनः प्राप्त कर लिया है।

7. यह संत जॉन की प्रकाशना के अन्य अनुवाक्यों का बाह्य अर्थ है, लेकिन उनकी एक आन्तरिक व्याख्या और प्रतीकात्मक अर्थ भी है। और वह इस प्रकार है: ईश्वर के धर्म में दो भाग होते हें। एक तो नींवाधार ही होता है और आध्यात्मिक क्षेत्र से सम्बन्धित होता है, अर्थात् उसमें आध्यात्मिक सद्गुण और दैवीयगुण होते हैं। यह भाग कभी बदलता नहीं और उसका कोई विकल्प नहीं होता है। यही परम पावन मंदिर - गर्भगृह है जो आदम, नूह, इब्राहीम, मूसा, ईसा, मुहम्मद, बाब और बहाउल्लाह के धर्म का सारस्वरूप विनिर्मित करता है और जो सभी ईशदूतों के धर्मविधानों में रहता है। इसे कभी रद्द नहीं किया जायेगा क्योंकि इसमें भौतिक सत्य के बजाय आध्यात्मिक सत्य समाहित है। यह आस्था, ज्ञान, निश्चय, न्याय, धर्मपरायणता, सदाचार, विश्वासपात्रता, ईश्वर-प्रेम और उदारता है। यह निर्धनों के प्रति दया, अत्याचार-पीड़ितों की सहायता, और पतितों का उत्थान है। यह शुद्धता, अनासक्ति, विनयशीलता, सहिष्णुता, धैर्य और लगन है। ये दैवीय गुण हैं। इन आज्ञाओं को कभी निरस्त नहीं किया जाएगा, बल्कि ये सदैव लागू रहेंगी और अनन्तकाल तक प्रभावी रहेंगी। प्रत्येक नवागत धर्मविधान में इन मानव सद्गुणों को नवीकृत किया जाता है, क्योंकि प्रत्येक धर्मविधान की समाप्ति पर ईश्वरीय विधान की चेतना जो मानव सद्गुणों में समायी रहती है, तत्वतः लुप्त हो जाती है और मात्र बाह्याचार का अनुग्रह रह जाता है।

8. इस प्रकार के धर्मविधान का अंत होने पर, जिसके साथ ईसा का आगमन हुआ, ईश्वर का सच्चा धर्म यहूदियों के बीच से लुप्त हो गया और अपने पीछे चेतनारहित धर्म का स्वरूप छोड़ गया। परम पावन मंदिर - गर्भगृह अब नहीं रहा, लेकिन मंदिर का बाहरी प्रांगण जो धर्म के बाह्य रूप को इंगित करता है, गैर-यहूदियों के हाथों में जा पड़ा। इसी प्रकार, ईसा के धर्म का मर्म जो महानतम मानव सद्गुणों में समाहित है, अब नहीं है लेकिन इसका बाह्य रूप पुरोहित तथा मठवासियों के हाथों में शेष रह गया है। इसी प्रकार, मुहम्मद के धर्म की आधारशिला अब नहीं है, लेकिन उसका बाहरी स्वरूप मुस्लिम धर्माचार्यों के हाथों में रह गया है।

9. तथापि, ईश्वर के धर्म की आधारशिलाएँ जो आध्यात्मिक होती हैं और मानव सद्गुणों में समाविष्ट रहती हैं, कभी रद्द नहीं की जाती हैं। वे शाश्वत और सदास्थायी होती हैं और प्रत्येक ईशदूत के धर्मविधान में उनका नवीकरण होता है।

10. ईश्वर के धर्म का दूसरा भाग भौतिक जगत से सम्बन्धित है। इसके अन्तर्गत ऐसी चीजें, जैसे उपवास, प्रार्थना, पूजा-अर्चना, विवाह, तलाक, दास्यमुक्ति, कानूनी नियमावली, लेन-देन और हत्या, हमला, चोरी व चोट के लिए अर्थदण्ड और सजाएँ आती हैं। इसमें प्रत्येक ईशदूतीय धर्मविधान में हेर-फेर और बदलाव होता है और धर्म के इस भाग को निरस्त भी किया जा सकता है, क्योंकि समय की आवश्यकताओं के अनुरूप नीतियाँ, लेन-देन, दण्ड और अन्य नियम बदलने पड़ते हैं।

11. संक्षेप में, ‘परम पावन मंदिर-गर्भ’ शब्दों का तात्पर्य हैं आध्यात्मिक नियम, जिसे कभी बदला या निरस्त नहीं किया जा सकता। और ‘पवित्र नगर’ से तात्पर्य है भौतिक नियम जो वस्तुतः रद्द किये जा सकते हैं और इसी भौतिक नियम अर्थात् ‘पवित्र नगर’ को 1260 वर्षों तक रोंदा जाना था।

12. “और अब मैं अपने दो गवाहों को यह अधिकार दूँगा कि वे साधारण वस्त्रधारी एक हजार दो सौ साठ दिनों का भविष्य-कथन करें।”25 इन दो साक्षियों से अभिप्राय है ईश्वर के संदेशवाहक मुहम्मद और अबू तालिब के पुत्र अली। कुरआन में कहा गया है कि ईश्वर ने मुहम्मद को यह कहकर सम्बोधित किया, “हमने तुझे साक्षी, दूत और चेतावनी देने वाला बनाया,”26 अर्थात् हमने तुझे उस व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया है जो साक्षी देता है, जो उसका सुसमाचार देता है जो कुछ आने वाला है और जो ईश्वर के कोप की चेतावनी देता है। ‘साक्षी’ का अर्थ है वह व्यक्ति जिसकी पुष्टि से चीजों का निश्चय होता है। इन दो गवाहों की आज्ञाओं का पालन 1,200 दिनों तक किया जाना था जिनमें प्रत्येक दिन एक वर्ष के तुल्य था। मूसा और जोशुआ की भाँति, मुहम्मद अब मूल थे और अलीशाखा। कहा जाता है कि वे ‘साधारण वस्त्रधारी’ थे, जिसका अर्थ है कि वे नया आवरण नहीं, बल्कि पुरानी पोशाक पहनकर ही प्रकट हुए। दूसरे शब्दों में, वे दूसरे जनसमुदायों की दृष्टि में आरम्भ में किसी महत्व के नहीं दिखाई देंगे और उनका धर्मोद्देश्य नया प्रतीत नहीं होगा। मुहम्मद के धर्म के आध्‍यात्मिक सिद्धान्त गॉस्‍पल में ईसामसीह के आध्यात्मिक सिद्धान्तों के अनुरूप ही हैं और उनकी भौतिक आज्ञाएँ अधिकांशतः तौरेत की भौतिक आज्ञाओं से मेल खाती हैं। पुराने वस्त्राभरण का यही प्रतीकात्मक अर्थ है।

13. “ये दो जैतून वृक्ष और दो मोमबत्तियाँ हैं जो ईश्वर के समक्ष खड़ी हैं।”27 इन दो आत्माओं को जैतून वृक्षों के समान बताया गया है क्योंकि उस समय सभी दीपक जैतून के तेल से रात में जलाये जाते थे। दूसरे शब्दों में, ये वे दो आत्माएँ हैं जिनसे दैवीय प्रज्ञा का वह तेल निकलेगा जो संसार के प्रकाश का कारण है और जिनके माध्यम से ईश्वर के दीपक प्रखर होकर प्रदीप्त होंगे। इसी प्रकार उनकी तुलना मोमबत्तियों से भी की गई है। मोमबत्ती प्रकाश का घर है और वह स्थान है जहाँ से प्रकाश का निस्सरण होता है। इसी प्रकार, मार्गदर्शन का प्रकाश इन प्रकाशपुंज मुखमण्डलों से देदीप्यमान् होकर चमकेगा।

14. वे ‘ईश्वर के समक्ष खड़े’ हैं अर्थात् वे उसकी सेवा में उठ खड़े हुए हैं और उसके प्राणीजनों को शिक्षा दे रहे हैं। उदाहरण के लिए, उन्होंने अरब प्रायद्वीप को बर्बर, मरूभूमिवासी, जनजातियों को इस प्रकार शिक्षित किया कि उन्होंने उस समय मानव सभ्यता के उच्चतम शिखर उपलब्ध किए और उनकी प्रसिद्धि तथा यश समस्त संसार में फैल गया।

15. “और यदि कोई मनुष्य उन्हें क्षति पहुंचाएगा तो उनके मुंह से आग निकलेगी और उनके दुश्मनों को भस्म करेगी।”28 इसका तात्पर्य है कि कोई आत्मा उनकी सामर्थ्‍य के आगे टिक न सकेगी। अर्थात्, किसी ने यदि उनकी शिक्षाओं या विधान को समाप्त करने या लोगों को धर्मविमुख करने का प्रयास किया तो उनके मुख से निस्सृत पूर्ण या संक्षिप्त स्वरूप के उसी नियम के प्रताप से वह मनुष्य पराभूत और पराजित होगा। दूसरे शब्दों में, वे एक आदेश निर्गत करेंगे जो किसी भी ऐसे शत्रु को नष्ट कर देगा जो उनको क्षति पहुंचाने या उनका विरोध करने की कोशिश करेगा। और यही हुआ भी, क्योंकि उनके सारे विरोधी परास्त होकर तितर-बितर और नष्ट हो गए और उन दोनों गवाहों को बाह्य रूप से ईश्वरीय शक्ति की सहायता प्राप्त हुई।

16. “उनमें आकाश को रोकने की शक्ति है ताकि उनकी भविष्यवाणी के दिनों में वह न बरसे।”29 इसका अर्थ है कि उस काल में वे सर्वोच्च शासन करेंगे। दूसरे शब्दों में, मुहम्मद का विधान और उनकी शिक्षाएँ और अली की व्याख्याऐं तथा समीक्षाएँ अलौकिक अनुग्रह हैं। यदि वे इस कृपा को प्रदान करना चाहें तो यह उनके अधिकार में है और यदि वे कुछ और चाहते हैं तो कोई वर्षा नहीं होगी। ‘वर्षा’ से यहाँ तात्पर्य बरसती कृपा से है।

17. “और उनमें नदी को लहू में बदल देने की शक्ति है।”30 इसका अर्थ है कि मुहम्मद का ईशदूतपद मूसा के जैसा और अली की शक्ति जोशुआ के तुल्य था। अर्थात्, इतनी उनकी शक्ति थी कि यदि वे इच्छा करते तो नील नदी की जलराशि का मिस्रवासियों और नकारने वालों के लिए रक्त में तब्दील कर सकते थे, अर्थात् दूसरे शब्दों में, उनके अहंकार तथा अज्ञान के फलस्वरूप, उनके जीवन के उस स्रोत को उनकी मृत्यु के कारण में बदल सकते थे। इस प्रकार फिरऔन और उसकी प्रजा की प्रभुसत्ता, सम्पदा और शक्ति जो उस राष्ट्र के जीवन-स्रोत थे, उनके विरोध, अस्वीकृति तथा गर्व के परिणामस्वरूप उनकी ही मौत, विनाश, बरबादी, अवनति और दरिद्रता का कारण बन गए। इसीलिए इन दो गवाहों के पास राष्ट्रों का विनाश करने की शक्ति है।

18. “और धरती को जब-जब वे चाहेंगे मुसीबतों से आक्रान्त करने”31 का अर्थ है कि उनके पास भौतिक बल तथा प्रभुता भी होगी ताकि वे अधर्मियों, अत्याचारियों तथा अनाचारियों को अनुशासित कर सकें। ईश्वर ने इन दो गवाहों को आन्तरिक शक्ति और बाह्य सामर्थ्‍य दोनों प्रदान किए हैं और इसीलिये उन्होंने उस रेतीले देश के दुष्ट, रक्तपिपासु और अत्याचारी अरबों का जो भूखे भेड़ियों और जंगली जानवरों सरीखे थे, का परिष्करण तथा शिक्षण किया।

19. “और जब उनकी गवाही समाप्त हो जाएगी,”32 अर्थात जिसकी आज्ञा उनको दी गई है उसे वे पूर्ण कर लेंगे, दैवीय संदेश दे लेंगे, तथा ईश्वर के धर्म को उन्नत कर लेंगे और चारों ओर उसकी शिक्षाओं का प्रसार कर लेंगे ताकि आध्यात्मिक जीवन के चिह्न मानवात्माओं में प्रत्यक्ष हो जाएँ, मानवीयय सद्गुणों का प्रकाश जगमगा उठे और ये मरूस्थलीय़ जनजातियाँ वास्तविक प्रगति कर लें।

20. “वह वनपशु जो उस अतल गढ़े से ऊपर आएगा। उनसे युद्ध करेगा और उनका पराभव करेगा और उनको मार डालेगा।”33 इस वनपशु का तात्पर्य है उमय्यद जिसने भ्रान्ति के गढ़े से इन साक्षीजनों पर आक्रमण किया और वस्तुतः ऐसा हुआ कि उमय्यद ने मुहम्मद के धर्म और अली के उस सत्य पर धावा बोला जो ईश्वर के प्रेम में समाहित हैं।

21. “उस वनपशु ने इन दो गवाहों से युद्ध किया।”34 इसका अभिप्राय है आध्यात्मिक युद्ध, जिसका अर्थ है कि वह वनपशु इन दो गवाहों के चरित्र, आचरण तथा शिक्षाओं के पूर्ण विरोध में काम करेगा और इस हद तक कि वे सद्गुण तथा परिपूर्णताएँ जो उनकी शक्ति के प्रताप से जनसमुदायों तथा राष्ट्रों से प्रसरित हुई थीं, पूर्णतया लुप्त हो जायेंगी और पाश्विक गुणों तथा दैहिक कामनाओं का बोलबाला हो जाएगा। इसलिए, यह वनपशु उनसे युद्ध करेगा और आधिपत्य प्राप्त करेगा, अर्थ यह कि इस वनपशु द्वारा प्रचारित भ्रान्ति का अंधकार जगत में व्याप्त होकर उन दो गवाहों की हत्या करेगा - अर्थात् वह लोगों के बीच आध्यात्मिक जीवन का अन्त करेगा, उनके दैवीय नियमों एवं शिक्षाओं को विलुप्त करेगा, ईश्वर के धर्म को पैरों तले कुचलेगा जिसके बाद आत्मारहित मृत शरीर शेष रह जाएगा।

22. “और उनके निष्प्राण शरीर उस महत्वपूर्ण नगर की सड़क पर पडे़ होंगे जिसे आध्यात्मिक दृष्टि से सोदोम और मिस्र कहा जाता है, जहाँ हमारे प्रभु को भी सूली दी गई थी।”35 ‘उनके शरीर’ से तात्पर्य है ईश्वर का धर्म और ‘सड़क’ का अर्थ है सर्वसामान्य की दृष्टि। “सोदोम और मिस्र” जहाँ हमारे प्रभु को भी सूली दी गई थी,” सीरिया और विशेष रूप से येरूसलम की ओर संकेत है, क्योंकि उमय्यदों की शक्ति-पीठ इसी क्षेत्र में थी और यहीं पर ईश्वर का धर्म और दैवीय शिक्षायें अपने पीछे आत्मारहित देह को छोड़ कर सबसे पहले लुप्त हुई थीं। “उनके शरीर” ईश्वर के धर्म को इंगित करते है जो मृत और आत्माविहीन शरीर मात्र रह गये।

23. “और जनसमूहों, बन्धु-बान्धवों, उन्हीं की जुबानों और राष्ट्रों से आकर लोग साढ़े तीन दिनों तक उनके मृत शरीरों को कब्रों में रखने का कष्ट नहीं उठाएंगे,”36 जैसा पहले बताया गया है कि पवित्र धर्म ग्रन्थों की शब्दावली में साढ़े तीन दिन साढ़े तीन वर्षों को संकेतित करते हैं, साढ़े तीन वर्ष बयालीस महीने दर्शाते हैं और बयालीस महीने 1,260 दिन। बाइबिल के सुस्पष्ट मूलपाठानुसार प्रत्येक दिन एक वर्ष के बराबर होता है। इसका अर्थ यह है कि 1,260 वर्षों के लिए जो कुरआन के धर्म विधान की अवधि है, राष्ट्र, जनजातियाँ और जनसमुदाय उनके शरीर देखेंगे, अर्थात् वे ईश्वर के धर्म को अपनी आँखों के सामने तो रखेंगे लेकिन उनके अनुसार आचरण नहीं करेंगे। फिर भी, वे इन शरीरों को - ईश्वर के धर्म को - समाधिस्थ नहीं करेंगे। अर्थात्, वे उसके बाहरी स्वरूप को मजबूती से पकड़े रहेंगे और उसे अपने बीच से पूरी तरह ओझल नहीं करेंगे और न उस शरीर को पूरी तरह नष्ट और लुप्त ही करेंगे। बल्कि, बाह्य रूप से उसके नाम तथा उसकी स्मृति को बनाए रखते हुए वे उसकी वास्तविकता का त्याग करेंगे।

24. यहाँ अभिप्राय है ऐसे बांधवों, जनसमुदायों तथा राष्ट्रों से जो कुरआन की छत्रछाया में एकत्र हुए हैं। ये ऐसे लोग हैं जो ईश्वर के धर्म एवं उद्देश्य को बाहरी तौर पर भी नष्ट और लुप्त नहीं होने देंगे। इस प्रकार, प्रार्थना तथा उपवास का उनके बीच प्रचलन बना रहा, लेकिन ईश्वर के धर्म की आधारशिलाएँ ही, जो श्रेष्ठ चरित्र, सच्चा आचरण और दैवीय रहस्यों का ज्ञान होती हैं, विलुप्त हो चुकीं थीं। मानव सद्गुणों का प्रकाश, जो प्रेम तथा ईश्वर-ज्ञान से प्रवाहमान होता है, बुझ चुका था। अत्याचार और दमन का, दैहिक कामनाओं तथा आसुरी प्रवृत्तियों का अंधकार व्याप्त हो गया और ईश्वर के धर्म का शरीर एक शव की भाँति सभी की दृष्टि के सामने आ गया।

25. 1,260 दिनों तक जहाँ प्रत्येक दिन एक वर्ष है -अर्थात् इस्लामी धर्मविधान की अवधि तक, इन दो व्यक्तियों ने धर्म की आधारशिलाओं के रूप मे जो कुछ स्थापित किया था वह सब उनके अनुयायियों द्वारा खो दिया गया। मानव सद्गुणों की निशानियाँ जो ईश्वर की देन होती हैं और जिनसे इस धर्म की चेतना निर्मित हुई थी इस सीमा तक मिटा दी गईं कि सत्यपरायणता, न्याय, प्रेम, सामंजस्य, शुद्धता, निर्मलता, अनासक्ति तथा सभी दैवीयगुण उनके बीच से लुप्त हो गये और धर्म के नाम पर जो बचा वह मात्र प्रार्थना तथा उपवास था। 1,260 वर्षों तक यही दशा रही जो कुरआन के धर्म विधान की अवधि थी। यह ऐसा ही हुआ मानों ये दो व्यक्ति निर्जीव हो गये हों और उनके शरीर आत्मा से रहित पड़े हों।

26. “और वे जो पृथ्वी पर निवास करते हैं उनको लेकर आनन्दोल्लास करेंगे और खुशियाँ मनाएंगे और एक-दूसरे को उपहार भेजेंगे, क्योंकि इन दो ईशदूतों ने उनको सताया था जो धरती पर निवास करते हैं।”37 “उनको जो धरती पर निवास करते हैं” का अर्थ है अन्य जनसमुदाय और राष्ट्र जैसे यूरोप और सुदूरवर्ती एशियाई देश जिन्होंने देखा कि इस्लाम की प्रकृति पूरी तरह बदल गयी है, ईश्वर के धर्म का परित्याग कर दिया गया है, सद्गुण तथा शालीनता एवं सम्मान विलीन हो गये हैं, चरित्र पलट गए हैं। यह देखकर उन्होंने खुशियाँ मनाईं कि मुसलमान भ्रष्ट हो गये हैं, इसलिये अब वे अन्य राष्ट्रों द्वारा पराभूत होने को खड़े हैं। और बड़े ही स्पष्ट तरीके से ऐसा हुआ भी। प्रत्यक्ष देखिए कि यह कौम जो कभी सर्वोच्च शक्ति बन कर रही थी वह कितनी अवनत और परवश हो चुकी है।

27. दूसरे राष्ट्र “एक-दूसरे को उपहार भेजेंगे” का अर्थ यह है कि वे एक-दूसरे की सहायता करेंगे, क्योंकि “इन दो ईशदूतों ने उनको सताया था जो धरती पर निवास करते हैं,“ अर्थात् उन्होंने धरती के अन्य जनसमुदायों तथा राष्ट्रों को अधीन और नियंत्रित किया।

28. “और साढ़े तीन दिनों के बाद ईश्वरागत जीवनचेतना ने उनमें प्रवेश किया तो वे अपने पैरों के बल खड़े हुए, और जिन्होंने उनको देखा वे अत्यधिक भयभीत हुए।”38 साढ़े तीन दिन, जैसा कि हमने पहले बताया है, 1,260 वर्ष हैं। ये दो व्यक्ति जिनके शरीर आत्माविहीन पड़े थे - अर्थात् वे शिक्षाएँ तथा धर्म जिनको मुहम्मद ने स्थापित और अली ने प्रोन्नत किया था और जिसकी सत्ता विलीन हो गई थी और मात्र खोखला आकार बचा - वे फिर चेतनासम्पन्न हुए। अर्थात् ईश्वर के धर्म की आध्यात्मिकता जो भौतिकता बन गई थी, सद्गुण जो दुराचार बन गये थे, ईश्वर-प्रेम जो घृणा बन गया था, प्रकाश जो अंधकार बन गया था, दैवीय गुण जो आसुरी वृत्तियाँ बन गये थे, न्याय जो अत्याचार बन गया था, दयाभाव जो दुर्भावना बन गई थी, निष्कपटता या सच्चाई जो आडम्बर बन गई थी, मार्गदर्शन जो भ्रान्ति बन गया था, शुचिता जो विषयासक्ति बन गई थी - ये सभी दैवीय शिक्षाएँ, दिव्य सद्गुण और परिपूर्णताएँ, तथा आध्यात्मिक अनुकम्पाएँ साढ़े तीन दिनों के बाद (जो पवित्र धर्मग्रन्थों की शब्दावली के अनुसार 1260 वर्ष है) बाब के आगमन और कुद्दूस के भक्तिभाव से नये स्वरूप में परिवर्तित की गईं।

29. इसी प्रकार निर्मलता के प्रातः-समीर प्रवाहमान हुए, सत्य का प्रकाश फिर चमक उठा, जीवनदायी बासन्ती काल आ पहुंचा, और मार्गदर्शन का प्रभातोद्य हुआ। वे दो मृत शरीर एक बार फिर प्राणवंत हुए और ये दो महान विभूतियाँ - एक संस्थापक और दूसरा उन्नायक - उठीं और दो मोमबत्तियों सरीखी बन गईं, क्योंकि उन्होंने सम्पूर्ण संसार को सत्य के प्रकाश से ज्योतिर्मय कर दिया।

30. “और उन्होंने आकाश से आता महानाद सुना जिसने उनसे कहा, यहाँ चले आओ। और उन्होंने बादल में आकाश की ओर आरोहण किया।”39 अर्थ यह कि अदृश्य आकाश से उन्होंने ईश्वर की वाणी सुनी, जिसने कहा: लोगों को शिक्षा देकर और जो आने वाला है उसका सुसमाचार उन्हें पहुंचाकर तुमने वह सब पूर्ण कर लिया है जो तुमसे चाहा गया था। तुमने मेरा संदेश लोगों को दे दिया है, सत्य का आह्वान गुंजरित कर दिया है और अपना कर्तव्य पूरा कर लिया है। अब ईसा की ही भांति तुमको उस प्रियतम के पथ में अपने प्राण न्योछावर कर शहादत का वरण करना होगा। और इस प्रकार वह यथार्थ रूपी सूर्य तथा मार्गदर्शन रूपी चन्द्रमा40 दोनों, ईसामसीह जैसे, सर्वोच्च बलिदान के क्षितिज में अस्त हुए और दिव्य साम्राज्य में आरोहण किया।

31. “और उनके शत्रुओं ने उनका दर्शन किया।”41 अर्थात्, उनके अनेक शत्रुओं ने उनकी शहादत के बाद उनके पद की उदात्तता और उनके सद्गुणों की उत्कृष्टता की वास्तविकता अनुभव की और उनकी महानता तथा उनकी पूर्णताओं की साक्षी दी।

32. “और उसी समय एक बड़ा भूकम्प आया और नगर का दसवां हिस्सा धराशायी हुआ और उस भूकम्प में सात हजार लोग मारे गये।”42 यह भूकम्प बाब की शहादत के बाद शीराज में आया था। नगर में उथल-पुथल मच गई थी और बहुत से लोग मारे गये थे। इसके अतिरिक्त, रोगों से, हैजा, चीजों के अभाव, अकाल, भुखमरी तथा अन्य आपदाओं से बड़ा हाहाकार मचा, ऐसा हाहाकार जैसा पहले कभी देखने में नहीं आया था।

33. “और जो बच गये वे भयाक्रान्त हुए और उन्होंने आसमान वाले ईश्वर का गौरवगान किया।”43 जब फारस में भूकम्प आया तो उत्तरजीवी दिन-रात विलप-कलप रहे थे। वे ईश्वर का गुणगान और विनती करने लगे। उनका भय तथा बेचैनी इतनी अधिक थी कि रात में उन्हें तनिक भी विश्राम या शान्ति नहीं नसीब होती थी।

34. “दूसरा संताप बीत गया है और देखो, तीसरा संताप शीघ्र आ रहा है।”44 पहला संताप था ईश्वर के प्रेरित, अब्दुल्ला के पुत्र मुहम्मद का आगमन - शांति लाभ हो उन्हें! दूसरा संताप था बाब की कठिनाइयाँ - यशस्वी और प्रशंसित हों वह! तीसरी विपत्ति है ‘जन-गण के स्वामी’ के आगमन और वचनदत्त ‘सौन्दर्य’ के धर्मप्रकाशन का महान दिवस। इस विषय का स्पष्टीकरण इजकील के तीसवें अध्याय में दिया गया है। उसमें कहा गया है: “प्रभु का शब्द पुनः मेरे पास आया और मुझसे उसने कहा - मानव-पुत्र, भविष्यवाणी करो और बताओ कि प्रभु परमेश्वर इस प्रकार कहता है। चीखो-चिल्लाओ तुम सब, घिक्कार है उस दिन को! क्योंकि वह दिन निकट है, ‘प्रभु’ का दिन भी निकट ही है।”45 अतः यह स्पष्ट ही है कि संताप का दिन ‘प्रभु’ का दिन है, क्योंकि उस दिवस में प्रमादीजनों पर, पापीजनों पर, अज्ञानीजनों पर मुसीबत आनी है। इसलिए कहा गया है: “दूसरा संताप बीत गया है, और देखो, तीसरा संताप शीघ्रता से आ रहा है।” यह तीसरी संताप बहाउल्लाह के प्राकट्य का दिन है, ईश्वर का दिवस और वह बाब के आविर्भाव के समय के निकट ही है।

35. “और सातवें देवदूत ने स्वरघोष किया और आसमान में अनेक आवाजें उत्पन्न हुईं जिनमें कहा गया कि इस जगत के सभी राज्य हमारे प्रभु के, और हमारे ईसा के राज्य बन गये हैं और वह सदा-सर्वदा राज करेगा।”46 यह देवदूत मानवात्माओं का द्योतक है जिन्हें दैवीय गुणों से सम्पन्न तथा देवदूत - जैसे स्वभाव और मनोवृत्ति से युक्त किया गया है। स्वर उठेंगे और दिव्य प्राकट्य के आविर्भाव का सर्वत्र उद्घोष और शोर होगा। यह घोषित किया जाएगा कि वह दिन ‘जन-गण के स्वामी’ के आगमन का दिन है, और यह धर्मविधान दैवीय विधाता का दयामय धर्मविधान है। सभी पवित्र पुस्तकों एवं धर्मग्रन्थों में वचन दिया और लिखा गया है कि इस ‘ईश्वर के दिवस’ में उसकी दिव्य एवं आध्यात्मिक प्रभुसत्ता स्थापित होगी, संसार को नया स्वरूप प्रदान किया जाएगा, सृष्टि के शरीर में एक नई चेतना फूंक दी जाएगी, दिव्य बसन्तकाल का प्रारम्भ होगा, दया के मेघ जलवर्षा करेंगे, सत्य का सूर्य प्रदीप्त होगा, जीवनदायी समीर बहेंगे। मानव जगत नवीन परिधान से सुशोभित होगा, धरती सर्वोच्च बैकुण्ठ के समान बन जायेगी, मानवमात्र शिक्षित होंगे, युद्ध, विवाद, संघर्ष और कलह समाप्त होंगे; सत्यपरायणता, सदाचार, शांति और धर्मनिष्ठा व्यापक बनेंगी, प्रेम, मेल-मिलाप तथा एकता से संसार घिरा होगा और ईश्वर का ही अखण्ड राज्य होगा, अर्थात्, एक आध्यात्मिक और चिरकालिक प्रभुसत्ता स्थापित होगी। ऐसा ‘ईश्वर का दिवस’ होता है। क्योंकि वे सब दिन जो आकर चले गए, इब्राहीम, मूसा, ईसा या अन्य ईशदूतों के थे, लेकिन यह दिवस ईश्वर का दिवस है क्योंकि सत्य-सूर्य इसमें परम प्रचण्डता से दीप्तमान होकर चमकेगा।

36. “और चौबीस अग्रज जो ईश्वर के सम्मुख अपने आसनों पर आसीन थे वे नतमस्तक हुए और उन्होंने ईश्वर की वंदना की और कहा, हे प्रभु, सर्वशक्तिमान परमेश्वर जो है और था और जो आने को है, क्योंकि तूने अपनी महाशक्ति को स्वयं सम्हाल रखा है, और शासन किया है।”47 प्रत्येक धर्मविधान में बारह चयनित जन हुए हैं। यूसुफ के बारह भाई थे, मूसा के समय में ये जनजातियों के बारह सरदार या मुखिया थे, ईसा के समय बारह प्रेरित थे और मुहम्मद के समय बारह इमाम थे। लेकिन इस महिमामय धर्मप्रकाशन में ऐसी चौबीस आत्माएँ हैं, दूसरों की दो गुनी, क्योंकि महानता के लिए यही अपेक्षित है।48 ये पवित्रात्माएँ ईश्वर के समीप अपने सिंहासनों पर विराजमान हैं, अर्थात् वे शाश्वत रूप से शासन करती हैं।

37. ये चौबीस गौरवशाली आत्माएँ, सर्वदास्थायी प्रभुत्व के सिंहासनों पर प्रतिष्ठित होते हुए भी, उस सार्वभौम ईश्वरावतार के सम्मुख श्रद्धावश विनत हैं और विनम्र तथा समर्पणशील हैं और कहती हैं: “हम तुझे धन्यवाद अर्पित करते हैं, हे प्रभु, सर्वशक्तिमान परमेश्वर जो है और था और जो आने को है, क्योंकि अपनी महाशक्ति को तूने स्वयं सम्हाल रखा हे और शासन किया है।” अर्थात् तू अपनी सभी शिक्षाओं का प्रचार करेगा, सभी पृथ्वी जनों को अपनी छत्रछाया में एकत्र करेगा और सभी मनुष्यों को एक ही मण्डप तले लाएगा। और, प्रभुसत्ता तो सदैव ईश्वर की ही रही है और वही सर्वोच्च परमाधिराज सदा रहा है और सदैव रहेगा, अतः इस उदाहरण में उसके अपने स्वत्व के व्यक्त स्वरूप की परमोच्चता का सन्दर्भ है, जो ऐसे नियमों तथा शिक्षाओं का प्रचार करेगा जो मानव जगत की चेतना और शाश्वत जीवन का कारण ही होती हैं। वह सार्वभौम अवतार विश्व को युद्ध तथा संघर्ष से नहीं, बल्कि एक आध्यात्मिक शक्ति के माध्यम से अपने वश में करेगा। विश्व को वह तलवारों और बरछियों से नहीं, शान्ति तथा सामंजस्य से सुसज्जित करेगा। इस दैवीय प्रभुसत्ता की स्थापना वह सैनिक सामर्थ्‍य के बल पर नहीं, बल्कि यथार्थ प्रेम के माध्यम से करेगा। इन दैवीय शिक्षाओं का उन्नयन वह मैत्री तथा सौजन्यतापूर्वक करेगा, हिंसा और हथियारों से नहीं। भले ही ये राष्ट्र और जनसमुदाय अपनी विभिन्न स्थितियों, अपनी प्रथाओं तथा चरित्रों, और अपने धर्मों एवं जातियों की दृष्टि से भेड़िए तथा भेड़शावक के समान, चीते और मेमने के समान और दूध पीते शिशु तथा विषैले सर्प के ही सदृश हैं, किन्तु वह उनको इस प्रकार शिक्षित करेगा कि वे एक दूसरे को गले लगाएंगे, मेल-मिलाप रखेंगे और विश्वास करेंगे। जातीय विद्वेष, धार्मिक वैरभाव और राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विताएँ पूरी तरह से नष्ट हो जाएंगे। सभी उस ‘आशीर्वादित वृक्ष’ के छाया तले पूर्ण साहचर्य और पूर्ण सामंजस्य को प्राप्त होंगे।

38. “और राष्ट्र कुपित हुए,” क्योंकि तेरी शिक्षाएँ अन्य राष्ट्रों की स्वार्थपूर्ण कामनाओं के विरूद्ध गईं” और तेरा कोप आ गया है,”49 अर्थ यह कि सभी को तेरे परामर्शों, भर्त्‍सनाओं और शिक्षाओं को न मानने के कारण घोर हानि उठानी पड़ी, शाश्वत अनुकम्पा से वे वंचित रह गये और सत्य-सूर्य का प्रकाश उनके लिए छिपा रह गया।

39. “और मृतक जनों का समय, जब उनकी जांच की जाएगी”50 का अर्थ है कि वह समय आ गया है जब मृतक जनों को - अर्थात् जो ईश्वर-प्रेम की चेतना से वंचित और पवित्र तथा सर्वदा स्थायी जीवन से रहित हैं - निष्पक्षतापूर्वक परखा जाएगा, अर्थ यह कि हर एक को उसकी पात्रता और क्षमता के अनुसार उठाया जाएगा और इस सत्य का पूर्ण रहस्योद्घाटन किया जाएगा कि इस अस्तित्व जगत में वे अवनति के किन गर्तों में निवास कर रहे हैं, और मृतकों के बीच उनकी गणना कैसे की जाएगी।

40. “और तू अपने सेवक ईशदूतों को, संतों को और उनको पुरस्कार देगा जो, छोटे हों या बड़े, तेरे नाम से डरते हैं,”51 अर्थात् अपनी असीम कृपा के लिए तू सद्धर्मियों को छांटेगा, प्राचीन भव्यता के क्षितिज पर उनको आकाशीय नक्षत्रों की भाँति चमकाएगा और ऐसा आचरण तथा चरित्र दर्शाने के लिए उनको सहायता देगा जिससे वे मानव जगत को प्रकाशित कर मार्गदर्शन के साधन और दैवीय जगत में शाश्वत जीवन के स्रोत बन सकें।

41. “और उनको नष्ट करेगा जो धरती को नष्ट करते हैं?52 अर्थात् प्रमादीजनों को तू पूर्णतया वंचित रखेगा, क्योंकि अंधों की दृष्टिहीनता का खुलासा किया जाएगा और जो देखते हैं उनकी दृष्टि स्पष्टतः व्यक्त होगी। भ्रान्ति के प्रतिनिधियों का अज्ञान और मूर्खता पहचाने जाएंगे और समुचित रूप से मार्गदर्शन प्राप्त जनों का ज्ञान-विवेक प्रकट किया जाएगा और इस प्रकार विनाशकर्ताओं का विनाश किया जाएगा।

42. “और ईश्वर का मंदिर आकाश में खोला गया।”53 इसका अर्थ है कि दिव्य येरूसलम प्रकट हुआ है और ‘परम पावन मंदिर-गर्भ’ प्रत्यक्ष व्यक्त हो गया है। सच्चे ज्ञानीजनों के बीच ‘परम पावन मदिर-गर्भगृह’ ईश्वर के धर्म का मर्म और उसकी सच्ची शिक्षाओं को इंगित करता है जो सभी ईशदूतीय धर्मविधानों में अपरिवर्तित रहा है, जैसाकि पहले स्पष्ट किया गया है। येरूसलम ईश्वर के धर्म के यथार्थ को पर्यावरित करता है और यह यथार्थ है परम पावन मंदिर-गर्भ के साथ ही सभी नियम, पारस्परिक सम्बन्ध, धार्मिक अनुष्ठान तथा भौतिक अध्यादेश जो उस नगर की संरचना करते हैं। इसीलिए इसको लोकोत्तर येरूसलम कहा जाता है। संक्षेप में, ‘सत्य-सूर्य’ के धर्मविधान के दौरान ईश्वरीय प्रकाश-स्रोत परम जाज्वल्यमान होकर चमकेगा। इस प्रकार, दैवीय शिक्षाओं का मर्म प्राणि-जगत में अनुभूत किया जाएगा, अज्ञान और जड़ता का अंधकार दूर हो जाएगा, संसार तब एक नया संसार बनेगा, आध्यात्मिक ज्योति सबको घेर लेगी और तभी ‘परम पावन मंदिर-गर्भगृह’ दिखाई देगा।

43. “और ईश्वर का मंदिर आकाश में खोला गया।”54 इसका यह अर्थ भी है कि दैवीय शिक्षाओ के प्रसार से, इन अलौकिक रहस्यों के उद्घाटन से और ‘सत्य-सूर्य’ के उदित होने से प्रगति एवं उन्नति के द्वार सभी दिशाओं में खुल जाएंगे और दिव्य वरदान तथा देने प्रकट हो जाएंगे।

44. “और उसके मंदिर में उसकी वसीयत की नौका देखी गई।”55 इसका अर्थ है कि उसकी ‘संविदा की पुस्तक’ उसके येरूसलम में प्रकट होगी, ‘संविदा की पाती’ लिखी जाएगी और संविदा तथा वसीयत का अर्थ सुस्पष्ट हो जाएगा। ईश्वर का आह्वान समस्त पूर्व तथा पश्चिम में गूंजेगा और धरती पर ईश्वर के धर्म की कीर्ति फैल जाएगी। संविदा के उल्लंघनकारी पतित और अपमानित होंगे और निष्ठावान सम्मान और यश प्राप्त करेंगे, क्योंकि वे संविदा की पुस्तक को दृढ़ता से थामते हैं और वसीयत के पथ में दृढ़ एवं अडिगरहते हैं।

45. “और वहाँ बिजलियाँ और आवाजें और मेघ गर्जन और भूकम्प और भारी ओला वृष्टि हुई,”56 अर्थ यह है कि संविदा की पुस्तक के प्रकटन के पश्चात भारी बवण्डर उठेगा, दैवीय रोष तथा कोप की बिजली चमकेगी, संविदा के उल्लंघन की मेघ-गर्जनाएँ होंगी, संदेह का कम्पन धरती को हिला देगा, संविदा के उल्लंघनकारियों पर यंत्रणाओं की ओला वृष्टि होगी और जो आस्थावान् होने का दावा करते हैं, ये परीक्षणों तथा जांचों की कसौटी पर परखे जाएंगे।

**12**

**ईसाइया के ग्यारहवें अध्याय की समीक्षा**

1. ईसाइया 11: 1-9 में कहा गया है: “और जेसी के तने से एक डंडा निकलेगा और एक शाखा उसकी जड़ों से निकलेगी: और स्वामी की चेतना उस पर विराजमान होगी, विवेक और समझ की चेतना, सत्यपरामर्श और सामर्थ्‍य की चेतना, ज्ञान और प्रभु के भय की चेतना; और प्रभु के भय में वह प्रत्युत्पन्न मति बनेगा: और वह अपनी नेत्रदृष्टि से जाँच नहीं करेगा और न अपने कानों से सुनकर भर्त्‍सना करेगा: बल्कि न्याय-निष्ठा पूर्वक वह निर्धनों के साथ न्याय करेगा और समभाव से धरती के दीनजनों की जाँच करेगा: और वह अपने मुख की लाठी से धरती को चूर-चूर करेगा और अपने होठों की श्वास से दुष्टों का वध करेगा। और धर्मपरायणता उसके कटि-प्रदेशों की मेखला, तथा निष्ठा उसके बागडोरों की करधनी होंगी। भेड़िया भी तब भेडशावक के साथ रहेगा और तेंदुआ मेमने के साथ लेटेगा: और बछड़ा तथा युवा शेर और बाल-पशु सहचरी होंगे और छोटा बच्चा उनको हांकेगा। और गाय तथा भालू साथ-साथ चरेंगे, उनके बच्चे साथ-साथ लेटेंगे; और शेर बैल की भाँति तिनका खाएगा। और दूध पीता बच्चा विषधर के बिल पर खेलेगा और मातृदुग्धपान से मुक्त बच्चा काकट्रइस (बासिल्क्सि, भयावह दुम वाला एक प्राणी) की मांद पर हाथ रखेगा। वे सभी मेरे पवित्र पर्वत को क्षतिग्रस्त या नष्ट नहीं करेंगे: क्योंकि पृथ्वी प्रभु के ज्ञान से भरी होगी, जैसे नदियाँ सागर को भरती हैं।”

2. यह ‘जेसी के तने से निकला डंडा’ ईसामसीह के लिए प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि यूसुफ डेविड के पिता जेसी के वंशज थे। तथापि, दैवीय चेतना के जरिए अस्तित्व ग्रहण करने के कारण, उन्होंने स्वयं को ‘ईश्वर का पुत्र’ कहा। यदि ऐसा न होता तो यह लेखांश वस्तुतः उनके ही लिए प्रयुक्त होता। इसके अतिरिक्त, उस ‘डंडे’ के दिनों में जो घटनाएं घटित हुई बताई जाती हैं उनकी व्याख्या यदि प्रतीकात्मक रूप से की जाये, तो वे केवल आंशिक रूप से ही घटीं और अगर उनको शब्दशः लिया जाये तो वे ईसा के दिनों में बिल्कुल घटित ही नहीं हुई और ईसा के ही दिनों में वे सभी घटित हुई।

3. उदाहरण के लिये, हम कह सकते हैं कि तेंदुआ और मेमना, शेर और बछड़ा, दूध पीता बच्चा और विषधर सर्प विभिन्न राष्ट्रों, शत्रुतापूर्ण जनसमूहों और संघर्षरत बान्धवों के प्रतीक हैं जो अपने विरोधभाव एवं शत्रुता के कारण भेड़िए और भेड़शावक की ही भाँति थे और जो मसीही चेतना के झकोरों के फलस्वरूप एकता तथा साहचर्य की भावना से सम्पन्न हुए, उनमें जीवन की नवचेतना स्फुरित हुई और वे परस्पर आत्मीयता के साथ जुड़ गए। लेकिन “वे सभी मेरे पर्वत को क्षतिग्रस्त या नष्ट नहीं करेंगे, क्योंकि पृथ्वी प्रभु के ज्ञान से भरी होगी, जैसे नदियाँ सागर को भरती हैं” - इस कथन से इंगित दशा ईसा के धर्मविधान में चरितार्थ नहीं हुई, क्योंकि आज के दिन तक विश्व में विभिन्न शत्रुतापूर्ण एवं संघर्षरत राष्ट्र हैं। बहुत थोड़े से राष्ट्र इस्राईल के ईश्वर को मानते हैं और अधिकांश ईश्वर के ज्ञान से वंचित हैं। इसी प्रकार, ईसा के आगमन से विश्व-शांति भी स्थापित नहीं हुई, अर्थात प्रतिकूल तथा संघर्षरत राष्ट्रों के बीच शान्ति एवं कल्याण स्पष्ट अनुभव नहीं किए गये, विवादों-विरोधों का हल नहीं निकला, समरसता एवं सच्चाई की उपलब्धि नहीं हुई। इस प्रकार, आज तक स्वयं ईसाई राष्ट्रों के बीच प्रगाढ़ शत्रुता, विद्वेष और द्वन्द्व व्याप्त हैं।

4. लेकिन ये पद शब्दशः बहाउल्लाह पर लागू होते हैं। इसके अतिरिक्त, इस अद्भुत धर्मविधान में धरती एक दूसरी ही धरती बनेगी और मानव जगत पूर्ण प्रशान्त एवं अलंकृत हो जाएगा। कलह, संघर्ष तथा रक्तपात के स्थान पर शान्ति, सच्चाई और सामंजस्य आ जाएंगे। राष्ट्रों, जनसमुदायों, बान्धवों, और सरकारों के बीच प्रेम तथा मैत्री व्याप्त होंगे, और सहयोग एवं घनिष्ठ सम्बन्ध मजबूती से स्थापित हो जाएंगे। अन्ततोगत्वा, युद्ध समग्रतः प्रतिबन्धित होगा, और जब ‘परम पावन पुस्तक’ के नियम क्रियान्वित होंगे, तब तर्क-वितर्क और विवाद परिपूर्ण न्याय के साथ सरकारों एवं राष्ट्रों के एक वैश्विक न्यायाधिकरण के समक्ष सुलझाये जाएंगे और प्रत्येक सम्भूत कठिनाई हल की जाएगी। विश्व के पांचों महाद्वीप एक बन जाएंगे, उसके विविध राष्ट्र एक राष्ट्र हो जाएंगे, पृथ्वी एक ही स्वदेश होगी और मानवजाति एक प्रजा बन जाएगी। विभिन्न देश इतनी घनिष्ठता से जुड़ जाएंगे और जनसमुदाय तथा राष्ट्र इतने अधिक मिश्रित और एक सूत्रबद्ध होंगे कि मानवजाति एक परिवार और एक कुल जैसी बन जाएगी। दिव्य प्रेम का प्रकाश चमकेगा, और द्वेष तथा शत्रुता का निराशाजनक अंधकार यथासाध्य दूर होता चला जाएगा। विश्वशांति सृष्टि के मध्य में अपना मण्डप खड़ा करेगी और मंगलमय ‘जीवन-वृक्ष’ इतना अधिक विकसित और समृद्ध होगा कि उसकी शरणदायिनी छाया का सम्पूर्ण पूर्व तथा पश्चिम तक विस्तार होगा। सबल और निर्बल, धनी और निर्धन, युद्धरत बान्धव और प्रतिकूल राष्ट्र - जो भेड़िए और भेड़शावक, चीते और मेमने, शेर और बछड़े के समान हैं – एक-दूसरे के साथ परम प्रेम, एकता, न्याय तथा समता का बर्ताव करेंगे। पृथ्वी ज्ञान-विद्या से, यथार्थों तथा सृष्टि के रहस्यों, और ईश्वर के ज्ञान से परिपूरित हो जाएगी।

5. अब इस गौरवशाली युग में, जो बहाउल्लाह की सदी है, विचार कीजिए कि कितना अधिक ज्ञान और विद्या की प्रगति हुई है, कितनी पूर्णता से सृष्टि के रहस्यों का अनावरण हुआ है, और कितने सारे बड़े-बड़े कार्य प्रारम्भ हुए हैं और दिन-प्रतिदिन बढ़ते ही जा रहे हैं। शीघ्र ही भौतिक ज्ञान एवं विद्या के साथ-साथ आध्यात्मिक ज्ञान की भी इतनी प्रगति होगी और ऐसे अद्भुत कारनामें प्रदर्शित होंगे कि सभी की आँखें चौंधिया जाएंगीं और ईसाइया के इस पवित्र पद का पूरा अर्थ प्रकट हो जाएगा: “क्योंकि धरती प्रभु के ज्ञान से भर जाएगी।”

6. इसी तरह विचार कीजिए कि बहाउल्लाह के आगमन के उपरान्त अल्पकाल में ही, सभी राष्ट्रों के लोगों, बान्धवजनों और जातियों ने इस प्रभुधर्म की छाया में प्रवेश किया है। ईसाई, यहूदी, पारसी, हिन्दू, बौद्ध, और फारसवासी सभी पूर्ण प्रेम तथा मैत्रीभाव से परस्पर मिलते-जुलते हैं, मानों हजार बरसों से वे एक ही कुल-गोत्र और परिवार के थे - वस्तुतः, मानो वे पिता-पुत्र, मां-बेटी, भाई-बहिन हों। भेड़िया और भेड़शावक, चीता और मेमना, शेर और बछड़े के बीच भाईचारे का एक अर्थ यह भी है।

7. उस ‘अतुलनीय शाखा’ के प्राकट्य-दिवस में घटित होने वाली एक महत्वपूर्ण घटना है सभी राष्ट्रों के बीच ईश्वर की पताका का फहराना। इसका तात्पर्य यह है कि सभी राष्ट्र तथा बन्धु-बान्धव इस दिव्य ध्वजा के साये तले एकत्र होंगे, और यह ‘दिव्य ध्वजा’ उस ‘भव्य शाखा’ के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है और वे सभी राष्ट्र मिलकर एक ही राष्ट्र बनेंगे। धार्मिक एवं पंथगत विरोध, जातियों और जनसमुदायों की प्रतिकूलता, और राष्ट्रों के बीच भेदभाव विलुप्त हो जाएंगे। सभी मनुष्य एक धर्म का अनुसरण करेंगे, एक सामान्य निष्ठा रखेंगे, एक जाति में घुल-मिल जाएंगे और एक जनगण बन जाएंगे। सभी एक सामान्य पितृभूमि में निवास करेंगे जो यह पृथ्वीग्रह ही है।57 सभी राष्ट्रों में सार्वभौम शान्ति एवं सहमति की स्थापना होगी। वह ‘अतुलनीय शाखा’ सभी इस्राईलियों को एक स्थान पर एकत्र करेगी, अर्थात उसके धर्मविधान में इसा्राईल ‘पवित्र भूमि’ में एकत्र होंगे और यहूदी जन जो इस समय पूर्व तथा पश्चिम में, उत्तर तथा दक्षिण में बिखरे हुए हैं, मिलकर रहेंगे।

8. अब देखिए कि, ये घटनाएँ ईसाई धर्मविधान में घटित नहीं हुई, क्योंकि राष्ट्र उस एक पताका, उस दिव्य ‘शाखा’ के नीचे एकत्र नहीं हुए परन्तु ‘जन-गण के स्वामी’ के इस धर्मविधान में, सभी राष्ट्र तथा समुदाय इसकी छत्रछाया में प्रवेश करेंगे। इसी प्रकार, इस्राईल जो सारी दुनिया में बिखर गये थे, वे ईसाई धर्मविधान-काल में ‘पवित्र-भूमि में एकत्र नहीं हो सके। किन्तु, ईशदूतों की सभी पुस्तकों में जिस दैवीय वचन का स्पष्ट उल्लेख हुआ है उस वचन को बहाउल्लाह के धर्मविधान के आरम्भ में ही मूर्तरूप दिया जाने लगा है। देखिए कि दुनिया के हर कोने से यहूदी पवित्र भूमि में आ रहे हैं, बसने के लिए गाँव तथा जमीनें प्राप्त कर रहे हैं और दिन-प्रतिदिन उनकी संख्या इतनी अधिक बढ़ती जा रही है कि सारा फिलस्तीन उनका घर बन रहा है।

**13**

**जॉन की धर्मप्रकाशन के  
बारहवें अध्याय की समीक्षा**

1. हम यह पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि ‘पवित्र नगर’ या दिव्य येरूसलम से पवित्र धर्मग्रन्थों का तात्पर्य बहुधा ईश्वर का धर्म है। कई बार इसकी समानता दुल्हन से की गई है, या उसे “येरूसलम” कहा गया है, अथवा नया आकाश और नई धरा के रूप में चित्रित किया गया है। इस प्रकार, संत जॉन की धर्मप्रकाशन के अध्याय 21 में कहा गया है, “और मैंने एक नया आकाश और एक नई पृथ्वी देखी, क्योंकि पहले आकाश तथा पहली पृथ्वी का नाश हो गया और कोई सागर नहीं रह गया। और मुझ जॉन ने पवित्र नगर, नया येरूसलम, आकाश में से, ईश्वर को उतरते देखा जो अपने पति के लिए सुसज्जित वधू के समान था। और मैंने आसमान से आती एक महाध्वनि को यह कहते सुना, “देखो, ईश्वर का मण्डप मनुष्यों के पास है और वह उनके साथ रहेगा और वे उसके जन होंगे और परमात्मा स्वयं उनके साथ होगा और उनका परमेश्वर होगा।”58

2. विचार कीजिए कि कितने अचूक ढंग से “प्रथम आकाश” और “प्रथम पृथ्वी” पूर्व धर्म के बाहरी पहलुओं की ओर संकेत करते हैं। क्योंकि कहा गया है कि “प्रथम आकाश तथा प्रथम पृथ्वी का नाश हो गया और कोई सागर नहीं रह गया।” अर्थात् पृथ्वी अंतिम निर्णय की रंगभूमि है और इस स्थल पर अब कोई सागर नहीं होगा। अर्थ यह कि, ईश्वर का विधान एवं उसकी शिक्षाएँ समस्त पृथ्वी पर फैल जाएँगी, और पृथ्वी निष्ठावान जनों से पूरी तरह आबाद होगी। इसलिए, फिर कोई सागर नहीं होगा, क्योंकि मनुष्य का निवास ठोस भूमि पर है, सागर में नहीं - अर्थात् उस धर्मविधान में उस धर्म के प्रभाव का क्षेत्र प्रत्येक भूमि पर होगा जहाँ मनुष्य के पैर पड़े हैं और वह ऐसी ठोस जमीन पर स्थापित होगा जिस पर पैर डगमगाते नहीं है।

3. इसी प्रकार, ईश्वर के धर्म को ‘पवित्र नगर’ या ‘नया येरूसलम’ बताया गया है। स्पष्टतः नया येरूसलम जो आकाश से उतरता है, पत्थर-चूने का, ईंट-गारे का नहीं, बल्कि ईश्वर का धर्म है जो आसमान से उतरता है और जिसे नया कहा जाता है। यह तो स्पष्ट ही है कि ईट-गारे का बना येरूसलम आसमान से नहीं उतरेगा और न ही नया बनाया जाएगा। जिसे नया रूप दिया जाता है वह ईश्वर का धर्म ही है।

4. इसके अतिरिक्त, ईश्वर के धर्म की तुलना सुसज्जित वधू से की गई है जो अत्यधिक मनोहर दिखाई देती है, जैसा कि जॉन की धर्मप्रकाशन के अध्याय-21 में कहा गया है: “और मुझ जॉन ने पवित्र नगर, नया येरूसलम, आकाश में से, ईश्वर से उतरते देखा जो, अपने पति के लिए सुसज्जित वधू के समान था।”59 और अध्याय-12 में कहा गया है: “और आसमान में एक बड़ी अद्भुत वस्तुत दिखाई दी, सूर्य के वस्त्र धारण किए एक स्त्री, जिसके पैरों तले चन्द्रमा और शीश पर बारह सितारों का मुकुट था।” यही स्त्री वह वधू, ईश्वर का धर्म, है जो मुहम्मद पर अवतरित हुआ। जिस सूर्य से वह वस्त्रावेष्टित थी और जो चन्द्रमा उसके पैरों तले था, वे दो सरकारें हैं - फारस और ओटोमन, जो उस धर्म की छत्रछाया में हैं। फारस का प्रतीक सूर्य है और ओटोमन साम्राज्य का प्रतीक अर्द्धचन्द्र है। इस प्रकार, सूर्य और चन्द्र ईश्वर के धर्म के साये के अन्तर्गत दो सरकारों की ओर संकेत करते हैं। तत्पश्चात कहा गया है: “उसके शीश पर बारह सितारों का मुकुट।” ये बारह सितारे बारह इमामों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो मुहम्मद के धर्म के उन्नायक और उस राष्ट्र के शिक्षक थे और जो मार्गदर्शन के गगन में नक्षत्रों की भाँति चमके।

5. फिर कहा गया है: “और वह गर्भवती, जन्म की प्रसव पीड़ा से चिल्लाई और मुक्त होने को छटपटाई,”60 अर्थ यह है कि यह धर्म बड़ी कठिनाइयाँ उठाएगा और उससे एक पूरी संतान उत्पन्न न होने तक भारी परिश्रम तथा कष्ट सहन करेगा, अर्थात् तब तक जब तक एक परवर्ती एवं वचनदत्त ईश्वरावतार जो परिपूर्ण संतान है, इस धर्म के गर्भ में पल रही है जो उसकी माँ जैसा ही है। इस संतान से तात्पर्य है बाब, ‘आदि-बिन्दु’, जो सचमुच मुहम्मद के धर्म से ही उत्पन्न हुए थे। दूसरे शब्दों मे, वह पवित्र यथार्थ जो वह शिशु और ईश्वर के धर्म यानी उसकी माता का प्रतिफल था और जो उसका वचनदत्त ईश्वरावतार था, वह उस धर्म के दैवीय राज्य में ही अस्तित्व में आया। लेकिन अजगर के प्रभुत्व से बच निकलने के लिये इसे ईश्वर के निकट उठा लिया गया। 1,260 दिनों के बाद जब वह अजगर नष्ट हुआ तब ईश्वर के धर्म की संतान, वचनदत्त ईशदूत, को प्रकट किया गया।

6. “और फिर, एक और अचरज आसमान में प्रकट हुआ और एक विशाल लाल रंग का अजगर दिखाई दिया जिसके सात सिर और दस सींग थे और उसके सिरों पर सात मुकुट थे। और उसकी पूंछ ने आकाशीय नक्षत्रों के तीसरे हिस्से को खींच कर जमीन पर गिरा दिया।”61 यह अजगर उम्मय्या की ओर संकेत है, जिन्होंने मुहम्मद के धर्म की बागड़ोर हथिया ली। सात सिर सात मुकुट उन सात क्षेत्रों तथा राज्यों के द्योतक हैं जिन पर उनका शासन रहा: सीरिया में रोमन साम्राज्य, फारस, अरब तथा मिस्र के राज्य, अफ्रीका का उपनिवेश अर्थात् ट्यूनीशिया, मोरक्को और अल्जीरिया, एण्डलूसिया का प्रभुत्व क्षेत्र जो अब स्पेन है और ट्रान्सोक्सानिया की तुर्की जनजातियों का उपनिवेश। इन सभी क्षेत्रों पर उम्मय्या के लोगों का अधिकार हुआ। दस सींग उम्मय्या शासकों के नामों के परिचायक हैं। पुनरावृत्ति न करते हुए, वे दस सर्वोच्च शासकों या प्रमुखों के दस नाम हैं। पहला है अबू सूफयान और अंतिम मरवान। उनके कुछ नाम कई बार आए हैं जिनमें दो मुआविया, तीन यजीद, दो वलीद और दो मरवान हैं। लेकिन प्रत्येक नाम यदि केवल एक बार गिना जाए तो इनकी कुल संख्या दस होती है। उम्मय्या के इन लोगों में प्रथम था अबू सूफयान जो मक्का का पूर्व प्रमुख और उस राजवंश का संस्थापक था और उनमें अंतिम था मरवान। उन्होंने उन पवित्र तथा निर्मल आत्माओं के तिहाई भाग को नष्ट कर डाला जो मुहम्मद की विशुद्ध वंश परम्परा के वंशज और आसमान में चमकते सितारों जैसे ही थे।

7. “और वह अजगर प्रसवकाल के समय उस स्त्री के सामने उसके बच्चे के जन्मते ही उसका भक्षण करने के लिए खड़ा हुआ।”62 यह स्त्री ईश्वर का धर्म है, जैसा पहले बताया जा चुका है। अजगर का उसके निकट खड़ा होना यह संकेतित करता है कि बच्चे का जन्म होते ही वह उसे खा जाने के लिए पैनी निगाह रखे था। यह बच्चा वचनदत्त ईश्वरावतार था जो मुहम्मद के धर्म की संतान है। उम्मय्या के लोग उस वचनदत्त ईशदूत को पकड़ने के लिए सदा चिन्तित रहे जिसे मुहम्मद की वंश परम्परा में आना था, ताकि वे उसे नष्ट करके उसका मूलोच्छेद कर सकें, क्योंकि उसके आगमन से वे बहुत भयभीत थे। और इसीलिये जहाँ भी उन्होंने लोगों की दृष्टि में सम्मानित मुहम्मद के किसी वंशज को देखा, उसे मार डाला।

8. “और उस स्त्री ने एक बालक को जन्म दिया जो लौह-दण्ड से सभी राष्ट्रों पर शासन करने वाला था।”63 यह गौरवशाली पुत्र वचनदत्त ईश्वरावतार है, जो ईश्वर के धर्म से जन्मा था और दैवीय शिक्षाओं की गोद में पला था। लौह-दण्ड शक्ति तथा सामर्थ्‍य का प्रतीक है - यह तलवार नहीं है - और इसका अर्थ यह है कि वह अपनी दैवीय शक्ति-सामर्थ्‍य के बल से धरती के सभी राष्ट्रों का नेतृत्व करेगा। इस पुत्र से तात्पर्य है बाब।

9. “और उसके बच्चे को ईश्वर और उसके सिंहासन के समीप बुला लिया गया।”64 यह भविष्यवाणी बाब के सम्बन्ध में है, जिन्होंने ईश्वर के सिंहासन और उसकी प्रभुसत्ता के आसन के समीप दिव्य राज्य में आरोहण किया। विचार कीजिए कि यह भविष्यवाणी कितनी सघनता से उस घटनाक्रम के अनुरूप है जो वस्तुतः घटित हुई।

10. “और वह स्त्री निर्जन में भाग गई।”65 अर्थात् ईश्वर के धर्म ने मरूस्थल में, यानी हिजाज और अरब प्रायद्वीप के विस्तृत रेगिस्तान में आश्रय लिया।

11. “जहाँ उस स्त्री के पास ईश्वर निर्मित एक स्थान है,”66 अर्थात् वह अरब प्रायद्वीप ईश्वर के धर्म का घर उसका निवास स्थान और प्रमुख केन्द्र बन गया।

12. “ताकि एक हजार दो सौ साठ दिनों तक वहाँ उसका भरण-पोषण हो सके।”67 बाइबिल की शब्दावली के अनुसार इन 1,260 दिनों का अर्थ 1,260 वर्ष है, जैसा पहले स्पष्ट किया गया हैं। इस प्रकार 1,260 वर्षों तक ईश्वर के धर्म का पोषण अरब के विशाल रेगिस्तान में, वचनदत्त ईशदूत के प्रकट होने तक, हुआ। क्योंकि उस वृक्ष का फल प्रकट हो चुका था और उसका परिणाम उत्पन्न हो गया था।

13. विचार करके देखिये कि भविष्यवाणियाँ एक दूसरे से कितनी सघनता से मेल खाती हैं। ‘धर्मप्रकाशन की पुस्तक (दि बुक ऑफ रेवेलेशन)’ वचनदत्त ईशदूत का आगमन बयालीस महीने बाद निश्चित करती है। ईशदूत दानियाल साढ़े तीन दिनों का उल्लेख करते हैं, जो बयालीस महीने या 1,260 दिन ही होते हैं। जॉन के धर्मप्रकाशन के एक और अनुच्छेद में सीधे-सीधे 1,260 दिन बताए गये हैं, और बाइबिल में सुस्पष्ट रूप से संकेतित है कि प्रत्येक दिन एक वर्ष का द्योतक है। एक-दूसरे के साथ भविष्यवाणियों के इस तालमेल से अधिक स्पष्ट कुछ नहीं हो सकता। बाब सभी मुसलमानों द्वारा मान्य कैलेण्डर के अनुसार हिजरी वर्ष 1,260 में प्रकट हुए। बाइबिल में किसी ईश्वरावतार के लिये इससे अधिक स्पष्ट भविष्यवाणी कोई नहीं है। अगर कोई न्यायनिष्ठ रहे, तो इन दैवीय आभायुक्त आत्माओं द्वारा इंगित समयों के बीच तालमेल ही सर्वाधिक निर्णायक प्रमाण है और किसी भी तरह इनकी कोई अन्य व्याख्या नहीं की जा सकती। धन्य हैं वे निष्पक्षजन जो सत्य की खोज करते हैं।

14. तथापि, जब न्याय का अभाव हो जाता है तो लोग प्रत्यक्ष को भी चुनौती देते, विवादित बनाते और नकारते हैं। उनका आचरण ईसा के समय के उन फारसियों के जैसा होता है, जो दुराग्रहपूर्वक उनके और उनके पट्टशिष्यों के वचनों तथा व्याख्याओं को अस्वीकार करते थे। अज्ञानी जनसमूहों के सामने वे जानबूझकर सत्य को छिपाते थे और कहते थे, “ये भविष्यवाणियाँ ईसामसीह पर नहीं, बल्कि उस वचनदत्त ईशदूत पर लागू होती हैं जो शीघ्र ही तौरेत में उल्लिखित दशाओं के अनुसार प्रकट होगा।” इन दशाओं में था कि वह कोई राजा होगा, डेविड के सिंहासन पर बैठेगा, तौरेत का विधान लागू करेगा, परम महान न्याय का उद्घाटन करेगा और भेड़िया तथा भेड़शावक को एक ही जलस्रोत पर एक साथ लाएगा। और इस प्रकार उन्होंने लोगों की आंखों पर परदा डालकर उन्हें ईसामसीह को पहचानने से रोक दिया।

**14**

**भौतिक तथा आध्यात्मिक चक्र**

1. इस भौतिक जगत में काल के बदलते चक्र हैं और समय की बदलती दशाएँ। एक के बाद एक विभिन्न ऋतुएँ आती हैं और व्यक्ति उन्नति, अवनति और विकास करते हैं। एक समय बसन्तकाल होता है तो दूसरे समय पर शरद ऋतु। कभी ग्रीष्म ऋतु होती है तो कभी शीत ऋतु।

2. बसन्तकालीन मौसम में जलपूरित मेघ और कस्तूरी-सुवासित समीर, जीवनदायिनी पछुवा हवाएँ और पूर्णतया मृदुल मौसम रहता है। वर्षा होती है, सूरज चमकता है, नवजीवन संचारक पवन प्रवाहित होते हैं, संसार नया बन जाता है और पौधे, पशुओं एवं मनुष्यों में जीवन की श्वास फूटती है। सभी वस्तुएँ नया परिधान धारण कर लेती हैं। श्यामल धरा घास की हरीतिमा से ढ़क जाती है, पर्वत और मैदान मरक्त-हरित आभरण धारण करते हैं, वृक्षों पर पत्ते तथा पुष्प खिल जाते हैं, बाग-बगीचे में सुमन व सुवासित शाक-पात लहलहा उठते हैं, जगत दूसरा जगत बन जाता है, और समस्त सृष्टि एक नए जीवन के रंग में रंग जाती है। आत्मा से विहीन शरीर की भाँति दिखाई देने वाली यह धरती नई चेतना प्राप्त करती है, और अत्यधिक सौन्दर्य, मनोहरता तथा आकर्षण दर्शाती है। इस प्रकार बसन्त काल नव जीवन की उत्पत्ति और नव चेतना का संचरण करता है।

3. इसके बाद आता है ग्रीष्मकाल। गर्मी बढ़ जाती है और संवर्धन तथा विकास अपनी पूरी शक्ति से प्रकट हो जाते हैं। वनस्पति जगत की प्राण-ऊर्जा अपनी पूर्णता पर पहुँचा जाती है। फल और फसलें दिखाई देते हैं, लवनी का समय आता है, बीज बालियों का पुलिन्दा बन जाता है और शीत ऋतु के लिए व्यवस्था बन जाती है।

4. फिर आता है निष्ठुर शरद, जब अस्वास्थ्यकर पवन झकोरे बहते हैं, निष्फल हवाएँ चलती हैं और अभाव तथा कमी का मौसम आ खड़ा होता है। सभी चीजें मुरझा जाती हैं, सुहावनी वायु कठोर और ठिठुराने वाली बन जाती है, कभी हरे-भरे और सरस रहे वृक्ष व्यर्थ और नग्न हो जाते हैं, पुष्प तथा शाक-पात व्यथित होकर झड़ जाते हैं और मनोहर उद्यान धूल से भरे ढेर बन जाते है।

5. इसके पीछे आती है शीत ऋतु, जब ठंडी हवाएँ चलती हैं और तूफान उठते हैं। बर्फ गिरती है, तेज हवा बहती है ओलों के साथ वर्षा होती है, बादल गरजते हैं, बिजली चमकती है, अकर्मण्यता और निष्क्रियता छा जाती है। पौधे मृतक समान और पशु दुर्बल तथा क्षीणकाय हो जाते हैं।

6. जब इस दशा पर पहुंचते हैं, तब एक बार फिर जीवनदायी बसन्त बहार का पुनरागमन होता है, और एक नया कालचक्र आरम्भ होता है। अपनी जीवनशक्ति और मनोहरता के साथ, अपनी प्रचुर महत्ता और महिमा के साथ वह बसन्तकाल पर्वतों तथा मैदानों में अपना तम्बू तान देता है। और एक बार फिर सृजित वस्तुओं के स्वरूपों को नया जीवन प्राप्त होता है और अनिश्चित प्राणियों के सृजन का नवीकरण होता है। जीवित शरीरधारियों का वर्धन एवं विकास होता है, खेत तथा मैदान हरीतिमा से युक्त हरियाली से भर जाते हैं, वृक्ष फल-फूल उठते हैं और गत वर्ष का बसंत एक बार पुनः अपनी पूरी शानो-शौकत के साथ लौट आता है। वस्तुओं का अस्तित्व ही इन चक्रों एवं पुनरावर्तनों पर सदैव निर्भर और स्थायी रूप से जारी रहेगा। भौतिक जगत के चक्र और परिक्रमण ऐसे ही हैं।

7. ईश्वर के संदेशवाहकों से जुड़े आध्यात्मिक चक्र इसी प्रकार से अग्रसर होते हैं। अर्थात् पवित्र ईश्वरावतारों का आगमन काल आध्यात्मिक बसन्तकाल होता है। वह दिव्य सुषमा और दिव्य मनोहरता है, वह जीवन समीर का प्रवहन और सत्य-सूर्य का उद्यन है। चेतना में नई जान आती है, हृदय नवस्फूर्ति से भर जाते हैं, आत्माएँ परिष्कृत होती हैं, अस्तित्व गतिशील हो उठता है और मानव यथार्थ प्रफुल्लित हो सिद्धियों एवं परिपूर्णताओं की ओर अग्रसर होते हैं। विश्वव्यापी प्रगति उपलब्ध होती है, आत्माएँ बलवती बनती हैं और मृतकों में जीवन की चेतना फूंकी जाती है। क्योंकि यह पुनरूत्थान का दिन होता है, हलचल और विक्षोभ का मौसम, आनन्द और खुशी की घड़ी और हर्षातिरेक तथा बेफिक्री का वक्त होता है।

8. यह मर्मस्पर्शी बसन्तकाल फिर फलवान ग्रीष्मकाल को बढ़ावा देता है। ‘ईश-शब्द’ उद्घोषित होता है, उसके विधान का प्रसार होता है, और सभी वस्तुएँ पूर्णता की एक स्थिति तक पहुंचती हैं। दैवीय आहार परोसा जाता है, पावनता के प्रात-समीर पूर्व तथा पश्चिम को सुवासित करते हैं, ईश्वर की शिक्षाएँ विश्व-विजय प्राप्त करती हैं, आत्माओं का शिक्षण होता है, स्तुत्य परिणाम उपजते हैं, मानव जगत में सार्वभौम प्रगति होती है, दैवीय अनुग्रह सभी वस्तुओं को घेर लेते हैं और सत्य का सूर्य अपनी सम्पूर्ण शक्ति और तीव्रता के साथ दिव्य जगत के क्षितिज पर चमकता है।

9. जब यह सूर्य अपने चरम बिन्दु पर पहुँचता है तब उसका ह्रास होने लगता है और आत्मा की उस ग्रीष्म ऋतु के बाद शरद का आगमन होता है। समृद्धि तथा विकास की गति रूक जाती है, मृदु समीर विनाशकारी पवन में बदल जाते हैं और अभाव तथा कमी का मौसम उपवनों, मैदानों तथा कुंजों का सौंदर्य और जीवन्तता नष्ट कर देता है। अर्थात् आध्यात्मिक आकर्षण लुप्त हो जाते हैं, दैवीय गुणों का ह्रास हो जाता है, हृदयों की कान्ति धुंधली पड़ जाती है, आत्माओं की आध्यात्मिकता का प्रवाह मंद हो जाता है, सद्गुणों के स्थान पर दुर्गुण आ जाते हैं और शुचिता एवं निर्मलता समाप्त हो जाती हैं। ईश्वर के विधान में नाम के सिवा कुछ नहीं बचता है और दैवीय शिक्षाओं में उनके बाहरी स्वरूप के अतिरिक्त कुछ शेष नहीं रहता है। ईश्वर के धर्म की आधारशिलाएँ नष्ट हो कर अस्तित्वहीन हो जाती हैं और मात्र प्रथायें तथा परम्परायें उनका स्थान ग्रहण करती हैं, विभाजन उत्पन्न होते हैं और दृढ़ता तथा अटलता उलझन में तब्दील हो जाती हैं। चेतना मर जाती है, हृदय मुरझा जाते हैं, और आत्माएँ क्षीण हो जाती हैं।

10. फिर शीत ऋतु आ पहुंचती है - अर्थात्, अज्ञानता और जागृतिहीनता का शीत संसार को लपेट लेता है और भटकी हुई स्वार्थमय कामनाओं का अंधकार व्याप्त हो जाता है। परिणामस्वरूप उदासीनता और अवज्ञा घटित होती हैं जिनके साथ निष्क्रियता और मूर्खता, नीचता और पशु-प्रवृत्तियाँ उदासीनता और पाषाण-सी जड़ता भी आते हैं, जिस प्रकार सर्दियों के दिनों में भूमण्डल सूर्य-किरणों के प्रभाव से वंचित होकर व्यर्थ और उजाड़ हो जाता है। बुद्धिमत्ता और विचारशीलता का जगत जब इस अवस्था में पहुंचता है तो अनवरत मृत्यु और अन्तहीन अस्तित्वहीनता के सिवा कुछ नहीं बचता है।

11. तथापि, जब जाड़े का मौसम अपना प्रभाव दिखा चुका होता है तो आध्यात्मिक बसन्तकाल पुनः वापस आता है और एक नया चक्र अपना ऐश्वर्य प्रकट करता है। चेतना की स्फुरणाएँ प्रवाहित होती हैं, समुज्‍ज्वल प्रभात फूटता है, ‘दयामय’ के मेघ जलवर्षा करते हैं। सत्य-सूर्य की किरणें दमक उठती हैं और अस्तित्व-जगत नव-जीवन से सम्पन्न और एक अद्भुत परिधान से सुसज्जित होता है। पूर्व बसन्तकाल के सभी लक्षण और उपहार और सम्भवतः उनसे भी अधिक, इस नूतन ऋतु में पुनः उपस्थित हो जाते हैं।

12. भौतिक सूर्य के कालचक्रों के ही समान सत्य के सूर्य के आध्यात्मिक चक्र भी शाश्वत गति एवं पुनर्नवीकरण की दशा में होते हैं। सत्य-सूर्य की तुलना भौतिक सूर्य से की जा सकती है जो विभिन्न बिन्दुओं से उदित होता है। एक दिन वह कर्क राशि में उदय होता है तो किसी दूसरे दिन तुला राशि में, एक दिन कुम्भ राशि से अपनी किरणें प्रसारित करता है तो किसी दिन मेष राशि से। सूर्य तो मात्र एक ही सूर्य और अकेला यथार्थ है। सच्चे ज्ञानी सूर्य के प्रेमी होते हैं। वे उसके उदयस्थल से सम्बद्ध नहीं होते। अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न मनुष्य स्वयं सत्य के ही खोजी होते हैं, उसके व्याख्याताओं या उसकी अभिव्यक्तियों के नहीं। इसलिये वे सूर्य को ही नमन करते हैं, वह किसी भी क्षितिज पर उदित हुआ हो। किसी निर्मल आत्मा से जो उसे प्रकट कर सकती है वे सत्य की तलाश करते हैं। ऐसे व्यक्ति अपरिहार्य रूप से सत्य पर से परदा उठाते हैं, और दिव्य गगन के सूर्य के प्रकाश से दूर अवगुण्ठित नहीं होते हैं। इस प्रकार किरणों का प्रेमी और प्रकाश का खोजी सदा सूर्य की ओर उन्मुख होगा, चाहे वह मेष राशि से चमके, अथवा कर्क राशि से अपना अनुग्रह प्रदान करे, अथवा मिथुन राशि से अपनी किरणों का प्रसार करे।

13. किन्तु मूर्ख और अज्ञानी जन राशि चक्रीय प्रतीकों में ही अनुरक्त और उदयस्थलों से ही आनन्दित होते हैं। स्वयं सूर्य से वे प्रभावित नहीं होते। जब वह कर्क राशि में था तब वे उसकी ओर मुड़ गये, लेकिन जब वह वहाँ से निकलकर तुला में चला गया तो, पहले की ही भांति अपनी दृष्टि उन्होंने कर्क पर जमाये रखी और उसी से चिपक गए। इस प्रकार वे सूर्य किरणों से वंचित रह गये क्योंकि उसने अपना स्थान परिवर्तन कर लिया था। इस प्रकार सत्य-सूर्य ने एक समय अपनी किरणें इब्राहीम की राशि से बिखेरीं, बाद में उसने मूसा की राशि पर उदित होकर क्षितिज को प्रकाशित किया और उसके पश्चात् ईसा की राशि से परम शक्ति, ऊष्मा एवं आभा के साथ चमका। जो सत्य के खोजी थे उन्होंने जहाँ उसे देखा वहीं उसकी पूजा की। लेकिन जब उसी सूर्य ने अपनी किरणें सिनाई पर डालीं और मूसा के यथार्थ को प्रकाशित किया तो वे उससे वंचित रह गये जो इब्राहीम से जुड़े थे। और जब सत्य-सूर्य ने अपनी दिव्य आभा अपनी पूरी प्रज्वलता के साथ ईसा के बिन्दु से बिखेरी तो जो लोग मूसा से चिपके थे वे भी उसी प्रकार अंधेरे में रह गये, इत्यादि।

14. इसलिए जहाँ और जिस व्यक्ति में सत्य मिले ऐसी किसी निर्मल आत्मा के प्रति सम्मोहित और वशीभूत होकर सत्य की खोज की जानी चाहिए और ईश्वर की बरसती कृपा की ओर पूर्णतया आकर्षित होना चाहिए। पतंगे की भाँति प्रकाश का प्रेमी बनना चाहिए, वह चाहे जिस दीपक से चमके। बुलबुल की भाँति गुलाब के प्रति अनुरक्त होना आवश्यक है, वह किसी भी निकुंज में खिले।

15. सूर्य यदि पश्चिम से निकले, तब भी वह सूर्य ही होगा। सूर्य वस्तुतः किसी बिन्दु से उदित हो, वह सूर्य ही रहता है। उसके उदय को किसी बिन्दु तक सीमित और अन्य बिन्दुओं से वंचित नहीं माना जाना चाहिए। यह मानकर कि पश्चिम तो सूर्य का अस्ताचल और अस्त-गमन का स्थान है और मात्र पूर्व ही उसका उदय स्थल है, हमें उससे दूर नहीं हो जाना चाहिए। ईश्वर की बहुविध कृपा की खोज करना आवश्यक है, दैवीय प्रभाओं को खोजना आवश्यक है, जिस सत्ता में वे स्पष्ट रूप से साफ-साफ मिलें, उसी से सम्मोहित होना और उसी का दास बन जाना आवश्यक है। विचार कीजिए कि यहूदी यदि मूसा रूपी क्षितिज से चिपके न रहकर सत्य रूपी सूर्य पर अपनी नजर जमाते तो वे ईसा रूपी सूर्य पर अपनी नजर जमाते और वे ईसा रूपी सच्चे उदय-बिन्दु से अपनी सम्पूर्ण भव्यता के साथ चमकते उस सूर्य का दर्शन निस्संदेह रूप से करते। लेकिन अफसोस, हजार बार अफसोस! वे मूसा के नाम को ही थामे रह गये और उस लोकोत्तर कृपादान तथा अलौकिक ऐश्वर्य से वंचित रह गए।

**15**

**सच्चा आनन्द**

1. प्रत्येक अस्तित्वधारी वस्तु का सम्मान तथा उत्कर्ष कुछ कारकों एवं दशाओं पर आश्रित होता है।

2. पृथ्वी की श्रेष्ठता, सौंदर्य और पूर्णता इसमें है कि बसन्तकालीन मेघों के जल-वर्षण से वह हरी-भरी हो जाये, पौधे विकसित हों, फूल और शाक-पात उत्पन्न हों, मंजरी-मण्डित वृक्ष भरपूर पैदावार दें और ताजे तथा सरस फल उपजाएँ, बाग-बगीचे नव-श्रृंगार करें, घास के मैदान अलंकृत हो जाएँ, मैदान और पहाड़ मरक्त-परिधान धारण करें, और गांव, नगर, खेत तथा कुंज-निकुंज नई सज-धज से पूर्ण हो जायें। यही खनिज जगत का आनन्द68 है।

3. वनस्पति जगत की पूर्णता तथा उत्कर्ष की ऊंचाई यह है कि कोई वृक्ष स्वच्छ-निर्मल जल प्रवाह के समीप लम्ब खड़ा हो, मन्द वायु बहे और सूर्य उसे अपनी उष्णता प्रदान करे, कोई माली उसकी देख-रेख करे और दिन-प्रतिदिन वह विकसित होते हुए फलवान बने। लेकिन उसकी सच्ची सुख-शांति इसमें है कि प्रगति करता हुआ वह पशु एवं मानव जगतों में प्रवेश करे और पशुओं तथा मनुष्यों के शरीरों में जो कुछ रिक्त हुआ है उसकी पूर्ति करे।

4. पशु जगत का उत्कर्ष परिपूर्ण अंगों-उपांगों तथा शक्तियों से सम्पन्न होना और अपनी सभी आवश्यकताओं को पूरा करना है। उसके गौरव, सम्मान तथा उत्कर्ष की उच्चता यही है। अतः किसी पशु की सर्वोच्च सुख-शान्ति का निवास हरे-भरे चारागाह में, मृदु जल से पूर्ण कल-कल बहती जल धारा में, और जीवनशक्ति से भरे-पूरे वन में है। अगर ये चीजें उपलब्ध हों तो फिर इससे बड़े सुख की कल्पना किसी पशु के लिए नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए, कोई पक्षी किसी हरे-भरे वन में सुविधजनक ऊँचाई पर किसी सबल वृक्ष की ऊँची शाखा के ऊपर अपना घोंसला बनाए और सभी अपेक्षित दाना-पानी उसे इच्छानुसार प्राप्त हो तो इसी से उसकी परिपूर्ण सुख-शक्ति का निर्माण हो जाता है।

5. लेकिन पशु का सच्चा सुख पशु जगत से निकलकर मानव क्षेत्र में पहुंचने में है, जिस प्रकार सूक्ष्म जीव जल और वायु के द्वारा मनुष्य के शरीर में आकर वहाँ आत्मसात होते और उसके शरीर में उपभुक्त हुए तत्वों का स्थान ग्रहण करते हैं। पशु जगत के लिए यही सबसे बड़े गौरव और आनन्द का विषय है और उसके लिए इससे अधिक सम्मान की कल्पना नहीं की जा सकती।

6. अतः यह स्पष्टरूप से प्रत्यक्ष है कि खनिजों, वृक्षों तथा पशुओं के लिए इस प्रकार की भौतिक सम्पन्नता, सुविधा और प्रचुरता ही उनका सर्वोच्च सुख-चैन है। और वास्तव में तो भौतिक जगत की कोई सम्पदा, सम्पन्नता, सुविधा या सुख किसी पक्षी की सम्पदा की बराबरी नहीं कर सकती, क्योंकि अपने निवास के लिए मैदानों और पहाड़ों का सम्पूर्ण विस्तृत क्षेत्र उसके पास है, भण्डार और भोजन के लिए सारा अनाज और फसलें उसे उपलब्ध हैं और स्वामित्व के लिए सारे भूखण्डों, गाँवों, घास के मैदानों, चारागाहों, वनों तथा निर्जन स्थानों पर उसका अधिकार है। अब, कौन अधिक धनवान है - यह पक्षी या मनुष्य में सबसे अमीर मनुष्य? वह पक्षी कितने ही अधिक दाने संग्रह करे या छोड़ दे, लेकिन उसकी सम्पदा कभी कम नहीं होती।

7. तो यह स्पष्ट है कि मनुष्य की प्रतिष्ठा और उसका उत्कर्ष मात्र भौतिक आनन्दों और पार्थिव लाभों में ही स्थित नहीं रह सकता। भौतिक सुख-सुविधा तो पूरी तरह गौण वस्तु है। मनुष्य की उन्नति का वास तो उन सद्गुणों तथा सिद्धियों में है जो मानव सत्ता के अलंकरण हैं। ये दिव्य वरदानों में, दैवीय अनुग्रहों, हार्दिक भावनाओं, ईश्वर के प्रेम तथा ज्ञान में, लोगों की शिक्षा, मन-मस्तिष्क के बोधों और विज्ञान की खोजों में समाहित हैं। ये न्याय और समता में, सत्यपरायणता और उदारता में, आंतरिक साहस तथा सहज मानवता में, दूसरों के अधिकारों की रक्षा एवं संविदाओं तथा समझौतों की निर्मलता बनाए रखने में हैं। ये सभी परिस्थितियों में आचरण के औचित्य में, सभी दशाओं में सत्य के प्रति प्रेम में, सर्वसामान्य की भलाई के लिए आत्मत्याग में, सभी राष्ट्रों के प्रति करूणा तथा सौजन्यता में, ईश्वरीय शिक्षाओं के अनुपालन में हैं। मानव जगत की सुख-शान्ति यही है। सापेक्ष जगत में मनुष्य का उत्कर्ष यही है। शाश्वत जीवन और लोकोत्तर प्रतिष्ठा यही है।

8. तथापि, ईश्वर प्रदत्त दिव्य शक्ति और दैवीय शिक्षाओं के अभाव में योग्यताएँ मानव सत्ता में प्रकट नहीं हो सकतीं, क्योंकि उनके प्राकट्य के लिए एक अलौकिक शक्ति अपेक्षित होती है। इन पूर्णताओं की झलक प्रकृति जगत में दिखाई दे सकती है, लेकिन वह उतनी ही अस्थिर और क्षणिक होती है जितनी दीवाल पर पड़ने वाली धूप की किरणें।

9. उस करूणामय प्रभु ने मनुष्य के मस्तक को जब इतने देदीप्यमान मुकुट से सुशोभित किया है तो अवश्य ही हमें ऐसा प्रयास करना चाहिए कि उसकी ज्योतिर्मय मणियाँ सम्पूर्ण विश्व पर अपना प्रकाश बिखेर सकें।

**भाग 2**

**कुछ ईसाई विषय**

**16**

**बुद्धिगम्य यथार्थ और अनुभवगम्य  
स्वरूपों में उनकी अभिव्यक्ति**

1. कुछ अन्य विषय हैं जिनकी हमने चर्चा की है और आगे करेंगे। इन विषयों का सार ग्रहण करने के लिए एक निर्णायक बिन्दु है। ऐसे प्रसंगों में एक यह है कि मानव ज्ञान दो प्रकार का होता है।

2. एक होता है इन्द्रियों द्वारा अर्जित ज्ञान। आँख, कान और नासिका, स्वाद तथा स्पर्श की अनुभूति करने वाली इन्द्रियाँ जिसका बोध कर सकती हैं उसे “गोचर” (या अनुभवगम्य) कहा जाता है। उदाहरण के लिए सूर्य गोचर है क्योंकि उसे देखा जा सकता है। इसी तरह ध्वनियाँ गोचर हैं क्योंकि कान उनको सुन सकते हैं। गंध को श्वास द्वारा ग्रहण करके घ्राणेन्द्रिय से उसका बोध किया जाता है। खाद्य-पदार्थ भी गोचर हैं क्योंकि जिह्वा उनकी मिठास, कड़वाहट या नमकीन होने का बोध करती है। स्पर्श की अनुभूति गर्मी और सर्दी का बोध कर सकती है। इनको गोचर यथार्थ कहा जाता है।

3. दूसरे प्रकार का मानव ज्ञान बुद्धिगम्य वस्तुओं का ज्ञान होता है। इसके अन्तर्गत बुद्धिगम्य यथार्थ आते हैं जिनका कोई बाह्य स्वरूप या स्थान नहीं होता और जो अनुभवगम्य या गोचर नहीं होते हैं। उदाहरण के लिए, मनःशक्ति गोचर नहीं है और न वह कोई मानवीय गुण ही है। ये बुद्धिगम्य तत्व हैं क्योंकि इन तत्वों को कान सुन नहीं सकता, आँख देख नहीं सकती, नाक सूंघ नहीं सकती और जिह्वा स्वाद नहीं कर सकती, तथा स्पर्श से उनका ज्ञान नहीं हो सकता। यहाँ तक कि ईथर जिसके बलों को प्राकृतिक दर्शनशास्त्र में ऊष्मा, प्रकाश, विद्युत और चुम्बकत्व कहा जाता है, इन्द्रियगम्य तत्व न होकर बुद्धिगम्य ही है। इसी प्रकार, प्रकृति स्वयं अनुभवगम्य तत्व नहीं, बल्कि बुद्धिगम्य सत्ता है। मानव चेतना भी गोचर यथार्थ न होकर बुद्धिगम्य तत्व है।

4. लेकिन जब आप इन बुद्धिगम्य तत्वों को व्यक्त करने का प्रयास करते हैं तो उनको गोचर के सांचे में ढालने के सिवाय कोई अन्य उपाय नहीं है, क्योंकि बाह्य जगत में गोचर से परे कुछ नहीं है। इस प्रकार, जब आप चेतना के तत्व को व्यक्त करना चाहते हैं, तब आप गोचर वस्तुओं की शब्दावली में उनको बताने के लिए बाध्य होते हैं। उदाहरण के लिए, दुःख और सुख बुद्धिगम्य चीजें हैं, लेकिन जब आप इन आध्यात्मिक दशाओं को व्यक्त करना चाहते हैं तो आप कहते हैं, “मेरा हृदय भारी हो गया, या “मेरे हृदय का उत्थापन हो गया,” जबकि शाब्दिक अर्थ में किसी का हृदय भारी नहीं बनता या ऊपर नहीं उठता है। यह अपेक्षाकृत आध्यात्मिक या बुद्धिगम्य दशा है जिसकी अभिव्यक्ति के लिए अनुभवगम्य शब्दों का प्रयोग अपेक्षित है। एक अन्य उदाहरण है, जब आप कहते हैं कि अमुक व्यक्ति बहुत आगे बढ़ गया है,” जबकि वह एक ही स्थान पर रहा है, या “फलाँ की स्थिति बहुत ऊँची है” जबकि दूसरों की भाँति वह भी धरती पर ही चल रहा है। यह उत्थान या अग्रसारिता आध्यात्मिक दशाएँ या बुद्धिगम्य यथार्थ हैं, लेकिन उनको व्यक्त करने के लिए आप अनुभवगम्य शब्दों का ही उपयोग करेंगे, क्योंकि बाह्य जगत में गोचर से परे कुछ नहीं है।

5. एक अन्य उदाहरण लें। ज्ञान को प्रतीकात्मक रूप से प्रकाश और अज्ञान को अंधकार कहा जाता है। लेकिन विचार कीजिए: ज्ञान क्या गोचर प्रकाश या अज्ञान गोचर अंधकार है? निश्चित रूप से नहीं। ये केवल बुद्धिगम्य दशाएँ हैं, लेकिन जब आप उनको बाहरी तौर पर व्यक्त करना चाहते हैं तो ज्ञान को प्रकाश और अज्ञान को अंधकार कहते हैं। आप कहते हैं, “मेरा हृदय अंधकारमय था और वह ज्योतिर्मय हो गया।” यहाँ पर ज्ञान का प्रकाश और अज्ञान का अंधकार बुद्धिगम्य तत्व हैं, इन्द्रियग्राह्य नहीं। लेकिन जब हम उनको व्यक्त करने की चेष्टा करते हैं तो हमें उनको एक गोचर स्वरूप देना पड़ता है।

6. इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ईसामसीह पर जो फाख्ता पक्षी उतरा69 वह प्राकृतिक फाख्ता नहीं, बल्कि एक स्पष्ट आध्यात्मिक दशा थी, जिसे समझने के निमित्त एक गोचर प्रतीक द्वारा व्यक्त किया गया। उदाहरण के लिए, ओल्ड टेस्टामेण्ट में कहा गया है कि ईश्वर एक अग्निस्तम्भ के रूप में प्रकट हुआ।70 यहाँ अभिप्राय गोचर स्वरूप से नहीं, बल्कि बुद्धिगम्य तत्व से है जिसे इस रूप में व्यक्त किया गया है।

7. ईसामसीह कहते हैं, “पिता पुत्र में है, और पुत्र पिता में है।”71 अब, क्या मसीह ईश्वर के भीतर थे या ईश्वर उनके भीतर था? नहीं ईश्वर की सौगंध, ऐसा कुछ नहीं था। यह एक बुद्धिगम्य दशा है जिसे गोचर प्रतीक में व्यक्त किया गया है।

8. हम बहाउल्लाह के कुछ शब्दों का स्पष्टीकरण करेंगे। वह कहते हैं: “हे राजन्! दूसरों के समान मैं भी मात्र एक मनुष्य था, अपनी पलंग पर निद्रामग्न, जबकि, देखो, उस सर्वमहिमा के प्रभात-समीर मेरे ऊपर प्रवाहमान हुए और मुझे सम्पूर्ण विगत ज्ञान की सीख दी। यह संदेश मेरी ओर से नहीं, बल्कि उसकी ओर से है जो सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है।”72 यह दिव्य प्रकटीकरण की संस्थिति है। यह गोचर नहीं, बल्कि बुद्धिगम्य तत्व है। भूत, वर्तमान और भविष्य के स्पर्श से यह निर्मल और उनके लिए ज्ञानातीत है। यह एक तुलना और एक सादृश्य अर्थात् एक रूपक है, शाब्दिक सत्य नहीं। मानवीयय मन-मस्तिष्क जैसा सामान्यतः समझ पाता है वैसी दशा यह नहीं है, जब यह कहा जाये कि कोई सोया या फिर जागा। यह एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाने का संकेत है। उदाहरण के लिए, सोना विश्राम करने की अवस्था है, और जागना गतिशीलता की स्थिति है। सोना मौन की अवस्था है और जागना मुखर होने की दशा है। निद्रा संगोपन की अवस्था है और जागना प्राकट्य की दशा है।

9. उदाहरण के लिए, अरबी और फारसी में कहा जाता है कि पृथ्वी सो रही थी, बसंत आया तो वह जागी, अथवा मृत थी और बसंत आया तो वह पुनः जीवित हुई। ये अभिव्यक्तियाँ तुलनाएँ, सादृश्यताएँ, उपमाएँ और अन्तरार्थ की दृष्टि से प्रतीकात्मक टीकाएँ हैं।

10. संक्षेप में, ईश्वरावतार सदैव ज्योतिर्मय यथार्थ रहे हैं और रहेंगे और उनके सारतत्व में कोई परिवर्तन या हेर-फेर कदापि नहीं होता है। अधिक से अधिक, अपने प्रकटीकरण से पहले वे शान्त और मौन रहते हैं, जैसे कोई निद्रावस्था में होता है और अपने प्राकट्य के बाद वे वाग्मितापूर्ण और देदीप्यमान होते हैं, जैसा कोई जाग्रत अवस्था में होता है।

**17**

**ईसामसीह का जन्म**

1. प्रश्न: पवित्र चेतना से ईसा का जन्म कैसे हुआ?

2. उत्तर: इस प्रश्न के सम्बन्ध में, धर्मगुरूओं और भौतिकवादी दार्शनिकों के मत भिन्न-भिन्न हैं। धर्मगुरूओं का विश्वास है कि ईसा का जन्म पवित्र चेतना से हुआ था, जबकि भौतिक दर्शनशास्त्री इसे असम्भव मानते हैं और उनका मत है कि अवश्य ही उनका कोई मानवीयय पिता रहा होगा।

3. कुरआन में कहा गया है: “और अपनी चेतना को हमने उस (स्त्री) के पास भेजा, और उसने उसके सामने एक पूर्ण मनुष्य का स्वरूप धारण किया,”73 अर्थ यह कि पावन चेतना ने एक मानव स्वरूप घारण किया, जैसे दर्पण में कोई छवि दिखाई देती है, और उसने मेरी से वार्तालाप किया।

4. भौतिकवादी दार्शनिकों का विश्वास है कि जोड़े का होना आवश्यक है। वे इस बात पर बल देते हैं कि किसी निर्जीव सत्ता से कोई जीवित शरीर अस्तित्व में नहीं आ सकता, या नर और मादा के मेल के बिना मूर्त स्वरूप निर्मित नहीं हो सकता। वे मानते हैं कि मनुष्य के परे, यह पशुओं में भी असम्भव है और पशुओं के परे, पौधों तक में असम्भव है। क्योंकि नर और मादा का यह युग्मन सभी पौधों तथा पशुओं में वर्तमान है। वे यह तर्क भी देते हैं कि कुरआन भी सभी वस्तुओं के इस युग्मन पर जोर देती है। “महिमा हो उसकी जिसने मिट्टी से उत्पन्न सभी वस्तुओं के सभी युग्मों की रचना की है और स्वयं मनुष्यों के और उनकी पहुंच से परे चीजों के भी जोड़े रचे हैं।”74 अर्थात्, मनुष्य, पशु, पेड़-पौधे सभी के जोड़े मिलते हैं। “और सभी वस्तुएँ हमने दो प्रकार की बनाई हैं,”75 अर्थात् हमने सभी वस्तुएँ जोड़े में रची हैं।

5. संक्षेप में, लोग कहते हैं कि एक मानव पिता के बगैर मनुष्य की कल्पना नहीं की जा सकती। किन्तु अध्यात्मवादी दार्शनिकों का उत्तर है कि यद्यपि देखा तो नहीं गया है फिर भी ऐसा होना असम्भव नहीं है और जो असम्भव है तथा जिसे मात्र देखा नहीं गया है उन दोनों के बीच एक अन्तर होता है। उदाहरण के लिए, तार प्रेषण (टेलीग्राफ) से पहले के दिनों में पूर्व तथा पश्चिम के बीच तात्कालिक संवाद-सम्पर्क देखा नहीं गया था लेकिन वह असम्भव नहीं था। इसी प्रकार, छायाचित्र (फोटोग्राफ) और ध्वनि लेखन (फोनोग्राफ) देखे नहीं गये थे लेकिन वे असम्भव नहीं थे।

6. भौतिकवादी दार्शनिक अपनी मान्यता पर साग्रह बल देते हैं, और आध्यात्मवादी दार्शनिक उत्तर देते हैं: “यह पृथ्वी मण्डल शाश्वत है अथवा इसका कोई आदि (प्रारम्भ) है?” भौतिकवादी दार्शनिकों का जवाब है कि, सुस्थापित वैज्ञानिक प्राप्तियों के अनुसार उसका उत्पन्न होना सिद्ध होता है। आरम्भ में, पृथ्वी पिघला हुआ गोला थी, धीरे-धीरे वह ठण्डी होकर शीतोष्ण हुई, फिर उसके चारों ओर एक पपड़ी (या भूपटल) बनी और इसके बाद इस भूपटल पर पौधे उत्पन्न हुए, उसके बाद पशु और अन्त में मनुष्य आये।

7. आध्यात्मिकवादी दार्शनिक कहते हैं: “आपके कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि इस भूमण्डल पर मानव प्रजातियों की विद्यमानता शाश्वत नहीं, बल्कि उद्भूत है। तब तो निश्चय ही प्रथम मानव का पिता या माता कोई नहीं था, क्योंकि मानव प्रजातियों के अस्तित्व का काल के अन्तर्गत एक आरम्भ है। अब इससे भी अधिक समस्यामूलक प्रश्न यह है कि धीरे-धीरे ही सही, मनुष्य ने पिता और माता दोनों के अभाव में अस्तित्व ग्रहण किया या केवल पिता के बगैर देहधारी बना? यह आप मानते हैं कि चाहे शनैः-शनैः या अल्प कालावधि में ही हुआ हो, जिस प्रथम मनुष्य ने अस्तित्व धारण किया उसका न कोई पिता था और न माता। अतः अब इस तथ्य में संदेह के लिए कोई स्थान नहीं बचता है कि मानव पिता के बिना भी मनुष्य सम्भव हो सकता है और तर्क की कसौटी पर यह बात मानने योग्य है। इसलिए इसे असम्भव मानकर साधारणतया अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ऐसा करना न्यायसंगत औचित्य के अभाव का ही प्रदर्शन होगा। उदाहरण के लिए, अगर आप एक बार यह कहें कि यह दीपक कभी बाती या तेल के बगैर जला था और बाद में कहें कि बत्ती के बिना उसका उजाला असम्भव है, तो यह कथन ईमानदारी की कमी ही दर्शाता है।” ईसामसीह की एक माँ थीं, लेकिन भौतिकवादी दार्शनिकों के अनुसार प्रथम मानव का न तो कोई पिता था और न माता।

**18**

**ईसामसीह की महानता**

1. प्रश्न: पितृविहीन होने की खूबी और लाभ क्या हैं?

2. उत्तर: महापुरुष तो महापुरुष ही हैं, चाहे वह मानव पिता से उत्पन्न हुआ हो या नहीं। अगर पितृविहीन होने में कोई विशेषता होती तो आदम (आदिमानव) सभी ईशदूतों और संदेशवाहकों से बढ़-चढ़ कर होता, क्योंकि उसका न कोई पिता था और न माता। महानता और गौरव की संवाहक वस्तुएँ तो दैवीय परिपूर्णता की भव्यताएँ और दीप्तियाँ होती हैं। सूरज पदार्थ और रूप से उत्पन्न हुआ है जिनकी तुलना पिता और माता से की जा सकती है, फिर भी वह सम्पूर्ण है। अंधकार के पास न तो पदार्थ है, न कोई रूप, फिर भी वह निरी अपूर्णता है। आदम के भौतिक जीवन का पदार्थ था धूल, लेकिन इब्राहीम का भौतिक पदार्थ विशुद्ध बीज था। और यह निश्चित है कि शुद्ध और उत्तम बीज मिट्टी और पत्थर से श्रेष्ठ है।

3. इसके अतिरिक्त जॉन 1:12-13 में कहा गया है: “जिसने भी ‘उसको’ स्वीकार किया उनको उसने ईश्वर के पुत्र बनने की शक्ति दी, उनको भी जो उसके नाम पर विश्वास करते हैं: जो न रक्त से, न मांसल इच्छा से, न आदमी की इच्छा, बल्कि ईश्वर से उत्पन्न थे।”76 जॉन के इस अनुवाक्य से स्पष्ट आशय है कि ‘पट्टशिष्यों’ का अस्तित्व भी किसी मौलिक शक्ति के बजाय एक आध्यात्मिक सत्ता से उत्पन्न होता है। ईसा की महानता तथा प्रतिष्ठा किसी पिता से मुक्त उनका अस्तित्व होने में नहीं, बल्कि उनकी दिव्य पूर्णताओं, उद्गारों तथा वैभवों में हैं। अगर ईसा की महानता पिता के अभाव के कारण होती, तब तो आदम उनसे भी अधिक महान हो जाते, क्योंकि उनके न पिता थे और न माता।

4. ओल्ड टेस्टामेण्ट में कहा गया है: “और प्रभु परमेश्वर ने मनुष्य को जमीन की धूल से बनाया और उसके नासापुटों में जीवन की श्वांस फूंकी, और आदमी एक जीवित आत्मा बन गया।”77 ध्यान दीजिए कि, आदम के जीवन की चेतना से, अस्तित्व में आने की बात कही गई है। इसके अतिरिक्त, पट्टशिष्यों के सम्बन्ध में जॉन का वचन सिद्ध करता है कि प्रत्येक महापुरुष की पावन सत्ता - सच्चा अस्तित्व - ईश्वर से ही उत्पन्न होती है और वह अपने अस्तित्व के लिए ‘पावन चेतना’ की फूंक (श्वांस) का ऋणी होता है।

5. हमारा तात्पर्य यह है कि किसी पिता की अनुपस्थिति में अस्तित्व धारण कर महत्तम मानव सिद्धि हो तब तो आदम सभी से आगे निकल जायेंगे, क्योंकि उनके कोई माता-पिता नहीं थे। मनुष्य की रचना किसी जीवित पदार्थ से होना उसके लिए अधिक अच्छा है या धूल से? निश्चित ही, जीवित पदार्थ से उत्पन्न होना बेहतर है। लेकिन ईसा का जन्म ‘पावन चेतना’ से हुआ और उसी के माध्यम से वह अस्तित्व में आये।

6. संक्षेप में, इन शुद्धात्माओं, इन ईश्वरावतारों का गौरव और गरिमा उनकी लोकोत्तर पूर्णताओं, उनके भावोद्गारों तथा उनकी भव्यताओं के फलस्वरूप हैं, अन्य किसी कारण से नहीं।

**19**

**सच्चा बपतिस्मा**

1. मैथ्यू 3:13-15 में कहा गया है: “तब ईसा गैलिली से जोर्डन जॉन के पास आते हैं, उनसे बपतिस्मा लेने के लिए। लेकिन जॉन ने उनको मना किया और कहा कि मुझे तुझसे बपतिस्मा लेने की आवश्यकता है और तू मेरे पास आया है? और उत्तर देते हुए ईसा ने उनसे कहा, इस समय ऐसा ही होने दो: क्योंकि इस प्रकार समस्त धर्मपरायणता का पालन करना ही हमारे लिए उचित है। तब उन्होंने (जॉन) उनको बपतिस्मा दिया।”

2. प्रश्न: ईसा को सहज पूर्णता प्राप्त थी, फिर उनको बपतिस्मा लेने की क्या आवश्यकता जान पड़ी और इसमें कौन-सा विवेक था?

3. उत्तर: बपतिस्मा का सार है पश्चाताप के द्वारा विशुद्धिकरण। जॉन लोगों को सचेत करते, प्रेरित करते, पश्चाताप कराते, और इसके बाद उन्हें बपतिस्मा देते थे। यह स्पष्ट है कि यह शुद्धिकरण सभी पापों के लिए पश्चाताप का एक प्रतीक होता है, मानों कोई कह रहा है: “हे परमेश्वर! जैसे मेरा शरीर दैहिक मलिनताओं से स्वच्छ-शुद्ध हो गया है, उसी प्रकार से मेरी चेतना को भी प्रकृति जगत की मलिनताओं से स्चच्छ एवं निर्मल कर दे जो तेरी दिव्य देहरी के अयोग्य है।” पश्चाताप अक्ख़ड और उद्धत मनोवृत्ति से आज्ञापालन की वृत्ति की ओर लौटना है। परमात्मा से दूरी और उससे वंचित होने के अनुभव के बाद मनुष्य पश्चाताप करता है और स्वयं को निर्मल बनाता है। इस प्रकार यह शुद्धिकरण इस कथन का प्रतीक है कि “हे ईश्वर! मेरे हृदय को शुद्ध कर दे और अपने प्रेम के सिवा सभी से स्वच्छ और निर्मल कर दे।”

4. ईसा की इच्छा हुई कि जॉन द्वारा संस्थापित इस रिवाज को उस समय सभी के द्वारा व्यवहार में लाया जाये, अतः उन्होंने स्वयं को इसके लिये प्रस्तुत किया, ताकि आत्माएँ जाग्रत हो सकें और पूर्ववर्ती धर्म से निर्गत विधान चरितार्थ हो जाये। इस प्रथा की संस्थापना यद्यपि जॉन ने की, लेकिन उसने पश्चाताप द्वारा शुद्धिकरण को दर्शाया था जिसका प्रचलन सभी ईश्वरीय धर्मों में रहा है।

5. ऐसा नहीं है कि ईसा को बपतिस्मा की आवश्यकता थी। लेकिन वह इसके लिए प्रस्तुत हुए, क्योंकि उस समय यह कार्य ईश्वर के सम्मुख व्यवहार योग्य और स्वीकार्य था और दैवीय जगत के सुसमाचारों का पूर्वाभास देता था। तथापि, बाद में उन्होंने कहा कि सच्चा बपतिस्मा प्राकृत जल से नहीं, बल्कि चेतना से और जल से और अन्यत्र, चेतना से और अग्नि से, होता है।78 यहाँ ‘जल’ से तात्पर्य प्राकृत जल नहीं है, क्योंकि अन्यत्र स्पष्ट रूप से कहा गया है कि बपतिस्मा चेतना से और अग्नि से ही होना चाहिए। इस बाद वाले कथन से स्पष्ट हो जाता है कि अभिप्राय प्राकृत आग और पानी नहीं है, क्योंकि आग से बपतिस्मा सम्भव नहीं है।

6. इसलिए “चेतना” का अर्थ है दैवीय कृपा, “जल” का अर्थ है ज्ञान और जीवन, और “अग्नि” का तात्पर्य है ईश्वर के प्रति प्रेम। क्योंकि प्राकृत जल मनुष्य के हृदय को नहीं, बल्कि उसके शरीर को स्वच्छ करता है और स्वर्गिक जल तथा चेतना जो ज्ञान और जीवन हैं, मनुष्य के हृदय को स्वच्छ और शुद्ध बनाते हैं। दूसरे शब्दों में, जो हृदय ‘पावन चेतना” की कृपा का भागी बनता है और निर्मल हो जाता है वह सच्चरित तथा शुद्ध बन जाता है। प्रयोजन यह है कि क्रोध, कामवासना, दुनियादारी, अहंकार, बेईमानी, पाखण्ड, छल, आत्मप्रेम इत्यादि जो प्रकृति जगत की मलिनताएँ हैं उनसे मानव की वास्तविकता निर्मल और शुद्ध हो जाए।

7. पावन चेतना की संपोषक कृपा के अतिरिक्त अन्य किसी साधन से मनुष्य निष्फल तथा स्वार्थी कामनाओं के आक्रमण से अपनी रक्षा नहीं कर सकता। इसीलिए कहा गया है कि बपतिस्मा चेतना के साथ, जल के साथ और अग्नि के साथ होना चाहिए - अर्थात ईश्वरीय कृपा की चेतना के साथ, ज्ञान और जीवन रूपी जल और ईश्वर-प्रेम रूपी अग्नि के साथ। इसी चेतना, इसी जल तथा इसी अग्नि से मनुष्य को बपतिस्मा दिया जाना आवश्यक है, ताकि वह सर्वदास्थायी अनुग्रह का भागी बन सके। ऐसा न हो तो प्राकृत जल से बपतिस्मा दिए जाने का लाभ ही क्या? बिल्कुल नहीं, यह जल वाला बपतिस्मा पश्चाताप का और पापों से छुटकारे की चाहत का प्रतीक था।

8. लेकिन बहाउल्लाह के धर्मविधान में इस प्रतीक की अब आवश्यकता नहीं रही, क्योंकि वास्तविकता, जो चेतना तथा ईश्वर-प्रेम का बपतिस्मा दिया जाना है, सुस्थापित और कार्य में परिणत हो गई है।

**20**

**बपतिस्मा और ईश्‍वर का परिवर्तनशील विधान**

1. प्रश्न: बपतिस्मा का शुद्धिकरण उपयोगी और आवश्यक है, या अनुपयोगी और अनावश्यक? अगर उसकी आवश्यकता थी तो उसको रद्द क्यों किया गया? और अगर वह अनुपयोगी और अनावश्यक था तो अनावश्यक होने के बावजूद जॉन ने उसे प्रचलित क्यों किया?

2. उत्तर: दशाओं का परिवर्तन तथा रूपान्तरण और युगों का अनुक्रम तथा चक्र सापेक्ष जगत की अत्यावश्यक अपेक्षाएँ हैं और आवश्यक अपेक्षाओं को चीजों की वास्तविकता से पृथक् नहीं किया जा सकता। इस प्रकार आग से उष्मा को, पानी से आर्द्रता को या सूरज से किरणों को अलग करना असम्भव है, क्योंकि ये सारभूत अपेक्षाएँ हैं। और जब परिवर्तन तथा रूपान्तरण सभी सापेक्ष वस्तुओं की अपेक्षाएँ हैं, तब ईश्वर के आदेश भी बदलते समय के अनुरूप बदल जाते हैं। उदाहरण के लिए, मूसा के दिनों में वर्तमान दशाओं के लिए जो कुछ अपेक्षित और अनुरूप था वही मूसा का विधान था। किन्तु, ईसा के दिनों में वे दशाएँ इतनी बदल गई कि मूसा का विधान मानवजाति की आवश्यकताओं के अनुपयुक्त और प्रतिकूल हो गया।, और इसीलिए उसे निरस्त किया गया। इस प्रकार ईसा ने ‘सब्त’ को भंग किया और तलाक का निषेध किया। उनके बाद उनके चार शिष्यों ने, जिनमें पीटर और पॉल भी थे, ऐसे पशुओं के मांस को खाने की अनुमति दी जिनका तौरेत में निषेध किया गया था। इनमें उन पशुओं के मांस की खपत छोड़ी गई थी जिनका गला घोंटा गया था, या प्रतिमाओं को जिनकी बलि दी गई थी और जिनकी हत्या की गई थी। उन्होंने व्यभिचार भी वर्जित किया।79 इस प्रकार उन्होंने इन चार आज्ञाओं को बनाये रखा। बाद में, पॉल ने गलाघोंटे गए पशुओं, मूर्तियों को जिनकी बलि दी गई और जिनकी हत्या की गई उन पशुओं को भी खाने की अनुमति दी। लेकिन उन्होंने व्यभिचार का निषेध बनाए रखा। इस प्रकार रोमन्स 14:14 में वह लिखते हैं, “मैं जानता हूँ, और प्रभु ईसामसीह ने मुझे विश्वास दिलाया है कि अपने आपमें कुछ भी अस्वच्छ नहीं है, लेकिन जो व्यक्ति किसी वस्तु को गंदा मानता है उसके लिए वह गंदी है।” इसके अतिरिक्त, ‘टीटस’ में लिखा है (11: 15): “पवित्रजनों के लिए सभी चीजें शुद्ध हैं, लेकिन जो मलिन और अविश्वासी हैं उनके लिए कुछ भी शुद्ध नहीं है, बल्कि उनका चित्त और अन्तःकरण तक मलिन होता है।”

3. इस परिवर्तन, विस्थापन और निरसन के पीछे यह तथ्य था कि ईसा के युग की तुलना मूसा के युग से नहीं की जा सकती। दशाएँ और अपेक्षाएँ पूर्णतया बदल गई थीं तथा पूर्ववर्ती आदेशों को इसी कारण रद्द किया गया।

4. विश्व के शरीर की तुलना मानव शरीर से की जा सकती है, और ईशदूतों तथा ईश्वर के संदेशवाहकों की किसी योग्य चिकित्सक से। मनुष्य सदैव एक सी दशा में नहीं रहता है। विभिन्न बीमारियाँ उसे पीड़ित करती हैं और प्रत्येक रोग के लिए विशेष उपचार की आवश्यकता होती है। इसलिए कोई योग्य चिकित्सक सभी व्याधियों का उपचार एक ही विधि से नहीं करता है, बल्कि इन तमाम रोगों एवं दशाओं की अपेक्षाओं के अनुसार चिकित्सा तथा औषधियों के प्रकार बदल जाते हैं। कोई व्यक्ति गर्मी की अधिकता से उत्पन्न किसी बीमारी से बहुत अधिक पीड़ित हो सकता है तो सुयोग्य चिकित्सक विवशतः शीतलकारी औषधियों की व्यवस्था देता है।80 जब किसी अन्य अवसर पर इस व्यक्ति की शारीरिक संरचना में बदलाव आता है और गर्मी के स्थान पर ठंड के प्रकोप से वह कष्ट पाता है, तब चिकित्सक आवश्यकतावश शीतलकारी दवाएँ एक ओर रखकर तापनकारी औषधियाँ निर्धारित करता है। यह परिवर्तन और हेर-फेर रोगी की दशा के अनुसार अपेक्षित होता है और चिकित्सक की कुशलता का यह एक स्पष्ट प्रमाण है।

5. उदाहरण के लिए, विचार कीजिए कि तौरेत का विधान क्या आज इस युग में लागू किया जा सकता है? बिल्कुल नहीं, ईश्वर की सौगन्ध! यह एकदम असम्भव होगा, और इसका कारण यह है कि ईसा के समय में तौरेत का विधान ईश्वर के द्वारा आवश्यकतानुसार रद्द किया गया। इसी प्रकार, विचार कीजिए कि बपतिस्मादाता जॉन के दिनों में बपतिस्मा का शुद्धिकरण लोगों को जाग्रत करने और उनकी भर्त्‍सना करते हुए समस्त पापों से उनका पश्चाताप कराने एवं ईसामसीह के दैवीय राज्य की प्रतीक्षा करने के काम आया। लेकिन आज एशिया में कैथोलिक और रूढ़िवादी, शिशुओं को पानी और जैतून के तेल के मिश्रण में कुछ इस तरह डुबोते हैं कि इस अग्नि परीक्षा में कुछ बीमार पड़ जाते हैं और बपतिस्मा के समय कांपते तथा संघर्ष करते हैं। अन्यत्र, धर्मयाचक बपतिस्मा का जल मस्तक पर छिड़कते हैं। लेकिन किसी प्रसंग में ये बच्चे किसी आध्यात्मिक भावना का अनुभव नहीं करते। तब इससे क्या भला हो सकता है? दूसरे व्यक्ति आश्चर्य करते और पूछते हैं कि इस नन्हें बच्चे को पानी में क्यों डुबोया जा रहा है क्योंकि इससे न तो कोई आध्यात्मिक जागृति होती है और न आस्था का लाभ मिलता है, महज एक परम्परागत रिवाज की अदायगी हो जाती है। किन्तु बपतिस्मादाता जॉन के दिनों में ऐसा नहीं था। जॉन पहले लोगों को सावधान करते हुए समझाते थे, पश्चाताप कराते थे, और ईसामसीह के आगमन की अनुभूति करने का उनको उपदेश देते थे। इसके बाद जो व्यक्ति बपतिस्मा का शुद्धिकरण ग्रहण करता था, वह बड़ी ही दीनता और विनम्रता के साथ अपने पापों के लिए पश्चाताप करता था, और इसी प्रकार अपना शरीर भी स्वच्छ तथा शुद्ध करता था और पूर्ण लालसा के साथ दिन-रात और प्रतिक्षण ईसामसीह के आगमन और प्रभु के साम्राज्य में प्रवेश की प्रतीक्षा करता था।

6. थोड़े शब्दों में, हमारा तात्पर्य यह है कि भिन्न-भिन्न कालों की दशाओं तथा आवश्यकताओं में परिवर्तन एवं रूपान्तरण ही धार्मिक नियमों के निरसन का कारण होता है, क्योंकि ऐसा समय आता है जब वे पूर्ववर्ती आदेश परिवर्तित दशाओं के लिए समयानुकूल नहीं रह जाते हैं। विचार कीजिए कि आधुनिक काल की आवश्यकताएँ मध्यकाल की अपेक्षाओं से कितनी अधिक भिन्न हैं। क्या यह सम्भव है कि पिछली सदियो के आदेश इन परवर्ती कालों में कार्यान्वित हो सकें? यह स्पष्टतः प्रत्यक्ष है कि यह पूर्णतया असम्भव होगा। इसी प्रकार, कई शताब्दियों के अन्तराल के बाद, जो कुछ वर्तमान के लिये आवश्यक है वह उस भावीकाल की आवश्यकताओं के उपयुक्त नहीं रह जाएगा, और पुनः परिवर्तन एवं रूपान्तरण अपरिहार्य होगा।

7. यूरोप में नियम निरन्तर परिवर्तित एवं परिमार्जित हो रहे हैं। कितने अधिक नियम जो यूरोपीय तंत्रों और धर्मविधानों में कभी थे, तब से निरस्त किये गए हैं। ये परिवर्तन विचारों, प्रथाओं तथा दशाओं में रूपान्तरण के फलरूप हुए और उनके बगैर मानव जगत का कल्याण खण्डित हो जाता।

8. उदाहरण के लिए, तौरेत सबाथ का नियम भंग करने वाले किसी भी व्यक्ति के लिए मृत्यु दण्ड निर्धारित करती है। और तौरेत में वस्तुतः ऐसे दस मृत्यु दण्डों की व्यवस्था दी गई है। इन आदेशों का क्रियान्वयन क्या हमारे समय में किया जा सकता है? स्पष्ट है कि यह नितान्त असम्भव है। इस प्रकार वे परिवर्तित तथा रूपान्तरित हुए हैं और नियमों में यह परिवर्तन एवं रूपान्तरण अपने आप में परमात्मा के अत्युत्कृष्ट विवेक का पर्याप्त प्रमाण है।

9. इस विषय पर गहराई से विचार करने की आवश्यकता है, और इसका कारण सुस्पष्ट है। कल्याण हो उनका जो विचार करते हैं।

**21**

**रोटी और मदिरा**

1. प्रश्न: ईसामसीह ने कहा: “मैं जीवित रोटी हूँ जो आकाश से उतरी है। यदि कोई मनुष्य इस रोटी में से खाएगा तो वह सदैव जीवित रहेगा।”81 इस वचन का अर्थ क्या है?

2. उत्तर: इस रोटी का अर्थ है दैवीय परिपूर्णताओं का दिव्य-आहार। दूसरे शब्दों में, जो व्यक्ति इस आहार में भागी बनता है, अर्थात् जो कोई ईश्वर की प्रवहमान कृपा प्राप्त करता है, उसके प्रकाश से दीप्ति ग्रहण करता है और ईसामसीह की पूर्णताओं में से अपना भाग हस्तगत करता है - वह शाश्वत जीवन की उपलब्धि करेगा। इसी प्रकार रक्त का अर्थ है जीवन की चेतना, जो दैवीय पूर्णताओं, स्वर्गिक वैभवों और शाश्वत मनोहरता में होती है। शरीर के सारे अंग रक्त के परिभ्रमण से ही जीवन रूपी सम्पोषण प्राप्त करते हैं।

3. जॉन 6:26 में कहा गया है: “तुम सब मुझे खोज रहे हो, क्योंकि तुमने चमत्कार नहीं देखे, लेकिन तुमने रोटियाँ तो खायीं, और तृप्त हुए।” स्पष्ट है कि जिन रोटियों को शिष्यों ने खाया और जिनसे वे तृप्त हुए, वे लोकोत्तर कृपा ही थीं। उसी अध्याय के पद 33 में कहा गया है: “क्योंकि ईश्वर की रोटी वह (ईशदूत) है जो आसमान से नीचे आता है और विश्व को जीवन प्रदान करता है।” यह स्पष्ट है कि ईसा का शरीर आसमान से नहीं उतरा, बल्कि वह तो मेरी के गर्भ से आया। ईश्वर के लोक से जो अवतरित हुआ वह ईसामसीह की चेतना थी। ईसा अपने शरीर के बारे में बोल रहे हैं यह जानकर यहूदियों ने आपत्ति की, जैसा कि उसी अध्याय के पद 42 में उल्लिखित है: “और उन्होंने कहा, क्या यह यूसुफ का पुत्र ईसा नहीं है, जिसके माता-पिता को हम जानते हैं? फिर वह कैसे कहता है कि मैं आसमान से उतरा?”

4. विचार कीजिए कि यह तथ्य कितना स्पष्ट है कि दैवीय रोटी से ईसा का अभिप्राय था उनकी चेतना, उनकी बहुआयामी मनोहरता, उनकी पूर्णताएँ, तथा उनकी शिक्षाएँ। पूर्वोक्‍त अध्याय के पद 63 में कहा गया है: “चेतना ही अनुप्राणित करती है, हाड़-मांस से कोई लाभ नहीं है।”

5. इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि ईसामसीह की चेतना एक दैवीय अनुग्रह थी जो आकाश से अवतरित हुई थी और इस चेतना के निस्सरणों को जो कोई भी ग्रहण करता है, अर्थात् उसकी अलौकिक शिक्षाओं को अंगीकार करता है - वह चिरस्थायी जीवन की सिद्धि करेगा। अनुवाक्य 35 में इस प्रकार कहा गया है: “और मसीह ने उनसे कहा, मैं जीवन रूपी रोटी हूँ, जो मेरे पास आएगा वह कभी भूखा नहीं रहेगा और जिसका मुझ पर विश्वास है वह कभी प्यासा नहीं रहेगा।”

6. ध्यान दीजिए कि “उसके पास आने” को वह खाने के रूप में और “उनमें विश्वास” को पीने के रूप में अभिव्यक्त करते हैं। अतः यह स्पष्ट रूप से स्थापित हो जाता है कि दैवीय आहार दैवीय अनुग्रहों, आध्यात्मिक वैभवों, लोकोत्तर शिक्षाओं तथा ईसा के सर्वग्राही सत्यों में है। और खाने का अर्थ है उनके समीप आना और पीने का तात्पर्य है उनमें विश्वास करना। कारण यह कि ईसा के पास एक प्राकृतिक और एक दिव्य दोनों प्रकार के शरीर थे। प्रकृत तत्वों से निर्मित शरीर को सूली दे दी गई, किन्तु उनकी दिव्य देह जीवित, शाश्वत और सार्वकालिक जीवन का स्रोत है। प्राकृत शरीर उनकी मानवीय प्रकृति और दिव्य शरीर उनकी दिव्य प्रकृति है। हे दयामय परमेश्वर! कुछ लोग कल्पना करते हैं कि परम प्रसाद (यूखारिस्त) की रोटी ईसा की वास्तविकता है और ईश्वरत्व तथा पवित्र चेतना उसी में उतरे हैं तथा उसमें मौजूद हैं। जबकि एक बार लेने के बाद परम प्रसाद कुछ ही मिनटों में पूरी तरह विघटित होकर समग्रतः रूपान्तरित हो जाता है। तब इस प्रकार की भ्रान्त धारणा कैसे की जा सकती है? इतनी गम्भीर भ्रान्ति के लिए मैं ईश्वर से क्षमा याचना करता हूँ!

7. इन शब्दों का आशय यह है कि ईसा के प्राकट्य से पवित्र शिक्षाएँ जो चिरस्थायी अनुग्रह हैं, दूर-दूर तक फैलीं, मार्गदर्शन की किरणें चमक उठीं और जीवन की चेतना मानव सत्ताओं को मिलीं। जिसने समुचित रूप से मार्गदर्शन ग्रहण किया उसने जीवन पाया और जो भटका रहा वह सदा-सदा के लिये मृत्यु के वशीभूत हुआ। वह रोटी जो आकाश से इस धराधाम पर आई थी वह ईसा की दिव्य देह और उनके आध्यात्मिक तत्व थे। इसी रोटी को शिष्यों ने खाया और इसी के माध्यम उन्होंने शाश्वत जीवन लाभ प्राप्त किया।

8. शिष्यों ने ईसा के हाथ से अनेक बार भोजन ग्रहण किया था, फिर वह अंतिम ब्यालू (रात्रि-भोजन) ही विशिष्ट कैसे हुआ? अतः यह स्पष्ट है कि दैवीय रोटी का अर्थ यह सांसारिक रोटी नहीं, बल्कि ईसा का आध्यात्मिक शरीर रूपी दिव्य-आहार है, अर्थात् दिव्य अनुग्रह और लोकोत्तर परिपूर्णताएँ, जिनके भागी उनके शिष्य बने और जिनसे वे पूर्ण संतुष्ट हुए।

9. इसी तरह, विचार कीजिए कि जब ईसा ने रोटी को धन्य करते हुए उसे अपने शिष्यों को दिया और कहा, “यह मेरा शरीर है,”82 तब वह व्यक्तिशः उनके साथ दृष्टिगोचर और स्पष्टतः साकार स्वरूप में विद्यमान थे। वह रोटी और मदिरा में रूपान्तरित नहीं हुए। यदि वह स्वयं रोटी और मदिरा बन जाते तो वह शरीर में और व्यक्ति के रूप में उनके सामने सुस्पष्टतया उपस्थित नहीं रह पाते।

10. अतः यह स्पष्ट है कि रोटी और मदिरा प्रतीक थे जिनका अर्थ है: मेरी कृपादृष्टि और मेरी पूर्णताएँ तुम्हें प्रदान कर दी गई हैं और इस विविध कृपा का भागी होने के कारण तुम्हें शाश्वत जीवन साध्य हो गया है और दिव्य-आहार के तुम्हारे भाग तथा अंश की प्राप्ति हो गई है।

**22**

**ईसा के चमत्कार**

1. प्रश्न: माना जाता है कि ईसा ने कुछ चमत्कार किए थे। इन विवरणों को शाब्दिक अर्थों में लिया जाना चाहिए या उनका कोई दूसरा आशय है? कारण कि ठोस जांच-पड़ताल के बाद, वह स्थापित लक्ष्य है कि किसी वस्तु में सन्निहित उसकी प्रकृति में परिवर्तन नहीं होता है। सभी सृजित वस्तुएँ एक वैश्विक विधान और संगठन के अधीन हैं जिनसे तनिक भी विचलन सम्भव नहीं है और इसीलिए कुछ भी उस विश्वव्यापक नियम का सम्भवतया उल्लंघन नहीं कर सकता।

2. उत्तर: ईश्वरावतार चमत्कार पूर्ण कार्यों और आश्चर्यनजक प्रतीकों के उद्गम होते हैं। कोई कठिन और असम्भव विषय उनके लिये सम्भव तथा अनुमति के योग्य होता है। वे असाधारण कर्म एक असाधारण शक्ति के जरिए प्रदर्शित करते हैं। प्रकृति से अतीत किसी शक्ति से वह प्रकृति जगत पर अपना प्रभाव डाल सकते हैं। प्रत्येक ईश्वरावतार ने विस्मयजनक चीजें कर दिखाई हैं।

3. लेकिन पवित्र धर्मग्रन्थों में एक विशेष शब्दावली का प्रयोग किया गया है, और ईश्वरावतारों की दृष्टि में इन अद्भुत कार्यों तथा चमत्कारों का कोई महत्व नहीं होता, यहाँ तक कि उनका उल्लेख करने की भी इच्छा वे नहीं करते हैं कारण कि इन चमत्कारों को अगर सबसे बड़ा प्रमाण मान भी लिया जाता, तो मात्र उन्हीं के लिए वे स्पष्ट प्रमाण होते जो उनके घटित होते समय सामने उपस्थित थे, उनके लिए नहीं जो अनुपस्थित थे।

4. उदाहरण के लिए, किसी अनास्थावान खोजी को अगर मूसा और ईसा के चमत्कारों के बारे में बताया जाए, तो वह यह बात नहीं मानेगा। वह कहेगा: “चमत्कारों का श्रेय बहुत पहले कुछ मूर्तियों को भी दिया गया है जिन्हें भारी जनसमूह द्वारा प्रत्यक्ष देखा गया बताया जाता है और पुस्तकों में इसका उल्लेख है। ब्रम्ह के चमत्कारों का तो ब्राह्मणों ने संकलन कर एक पूरी पुस्तक ही रच डाली है।” इसके पश्चात् वह जिज्ञासु पूछेगा: “हम यह कैसे जान सकते हैं कि यहूदी तथा ईसाई सत्य और ब्राह्मण झूठ बोलते हैं? कारण कि दोनों परम्पराएँ हैं और दोनों का एक पुस्तक में उल्लेख किया गया है। प्रत्येक ऊपर से देखने पर विश्वसनीय या अविश्वसनीय दिखाई दे सकता है, जैसाकि अन्य प्रत्येक वृतान्त के साथ है। यदि एक सत्य है, तो दोनों को ही सच्चा होना चाहिए। यदि एक को स्वीकार किया जाता है, तो दोनों को ही स्वीकार करना होगा।” इसलिए चमत्कार अंतिम प्रमाण नहीं हो सकते, क्योंकि जो लोग चमत्कार प्रदर्शन के समय प्रत्यक्षदर्शी थे उन्हीं के लिए वे मान्य प्रमाण हैं, और जो लोग नहीं थे उनको उनका विश्वास नहीं दिलाया जा सकता।

5. जो अन्तदृष्टि से सम्पन्न हैं वे ईश्वरावतार के दिनों में उससे सम्बन्धित सभी चीजें चमत्कारपूर्ण ही पाएंगे। कारण कि ये बातें अन्य सभी कुछ से विशिष्ट होती हैं, और यह विशिष्टता ही अपने आप में सम्पूर्ण चमत्कार है। विचार कीजिए कि ईसामसीह ने कैसे नितान्त एकाकी, किसी सहायक या रक्षक के बगैर, दल-बल या सेवाओं के बिना, परम दीनता के साथ, विश्व के समस्त राष्ट्रों के समक्ष ईश्वर की पताका ऊँची की। कैसे वह अकेले उनके समक्ष खड़े रहे, और कैसे अन्त में उन सबको अपने अधीन कर लिया, भले ही बाहरीतौर पर उनको सूली पर चढ़ा दिया गया। अब देखिए कि, यह सम्पूर्ण चमत्कार ही है और इस तथ्य से किसी भी तरह मुंह नहीं मोड़ा जा सकता। ईसा की सच्चाई के लिए वस्तुतः किसी दूसरे प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं है।

6. बाहरी चमत्कारों का सत्यान्वेषियों के लिए कोई महत्व नहीं है। उदाहरण के लिए, किसी अंधे को दृष्टिवान बना दिया जाता है, लेकिन अंत में वह फिर दृष्टि से वंचित होगा, क्योंकि उसकी मृत्यु होगी और उसकी सभी इन्द्रियाँ और अंगों की शक्तियाँ उसका साथ छोड़ देंगी। इसलिए अंधों को दृष्टि प्रदान करने का कोई स्थायी महत्व नहीं है, क्योंकि दृष्टि-शक्ति को अन्त में पुनः नष्ट होना ही है। और अगर किसी मुर्दे को पुनर्जीवित किया जाए तो उससे लाभ क्या है, क्योंकि उसे पुनः मरना होगा। महत्वपूर्ण बात है सच्ची अन्तर्दृष्टि प्रदान करना, सदा-सर्वदा बना रहे ऐसा जीवन प्रदान करना, अर्थात आध्यात्मिक और दिव्य जीवन, क्योंकि भौतिक जीवन रहेगा नहीं और इसका होना, न होने के ही समान है। जैसा कि ईसा ने अपने शिष्य को उत्तर देते हुए कहा था: “मृतकों को अपना मृतक दफनाने दो” क्योंकि “जो हाड़-मांस से जन्म लेता है वह हाड़-मांस ही होता है और जो चेतना से उत्पन्न है वह चेतन ही होता है।”83

7. विचार कीजिए कि लोग बाह्य रूप से दैहिक स्तर पर जीवित थे उनकी गणना ईसा ने मृतकों में की, क्योंकि सच्चा जीवन, शाश्वत जीवन और सच्चा अस्तित्व आध्यात्मिक अस्तित्व ही होता है। इस प्रकार, यदि पवित्र धर्मग्रन्थ मृतकों के उत्थान की बात कहते हैं तो उसका यही अर्थ होता है कि उन्होंने सर्वदास्थायी जीवन की उपलब्धि की। यदि वे कहते हैं कि किसी अंधे को दृष्टि-सम्पन्न बनाया गया तो इस देखने का अर्थ होता है सच्ची अन्तर्दृष्टि। अगर वे कहें कि किसी बहरे को श्रवण से सम्पन्न बनाया गया तो इसका अर्थ होगा कि उसे एक अन्तःकर्ण मिला और आध्यात्मिक श्रवणशक्ति का लाभ हुआ। यह गॉस्‍पल के मूलपाठ का ही सुस्थापित तथ्य है, जहाँ ईसामसीह कहते हैं कि वे उनके जैसे लोग हैं जिनके बारे में ईसाइयाह ने एक बार कहा था: “उनकी आँखें हैं पर वे देखते नहीं, उनके कान हैं पर वे सुनते नहीं और मैं उनको रोगमुक्त करता हूँ।”84

8. हमारा तात्पर्य यह नही है कि ईश्वरावतार चमत्कार सम्पन्न नहीं कर सकते। ऐसा करना वस्तुतः उनके अधिकार में हैं। लेकिन उनकी दृष्टि में जो महत्वपूर्ण और फलप्रद है वह है आन्तरिक दृष्टि, आध्यात्मिक श्रवणशक्ति, और शाश्वत जीवन। इस प्रकार, पवित्र धर्मग्रन्थों में जहाँ भी लिखा है कि ऐसा एक अंधा था और वह देखने लगा, तो इसका अर्थ यही है कि वह अन्दर से अंधा था और उसे आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि का लाभ हुआ, या वह अज्ञानी था और ज्ञानसम्पन्न बन गया, या प्रमादग्रस्त था और जाग्रत हो गया, या सांसारिक था और दैवीय बन गया।

9. यह आन्तरिक दृष्टि, श्रवण, जीवन और उपचार शाश्वत होते हैं, अतः सचमुच महत्वपूर्ण हैं अन्यथा पशुजीवन और पाशविक शक्तियों का क्या महत्व, मूल्य और उपयोगिता है? उतना ही, जैसे कोई निकम्मा मनोरथ, जो कुछ ही दिनों में चला जाएगा। उदाहरण के लिए, यदि किसी बुझे दीपक को जला दिया जाये तो वह फिर बुझ जाएगा। लेकिन सूर्य का प्रकाश सदैव तेजस्विता के साथ चमकता है और यही महत्वपूर्ण है।

**23**

**ईसा का पुनरूत्थान**

1. तीन दिन पश्चात् ईसा के पुनरूत्थान का अर्थ क्या है?

2. उत्तर: ईश्वरावतारों का पुनरूत्थान शरीर का पुनर्जीवित होना नहीं है। जो कुछ उनसे सम्बन्धित होता है - अर्थात् उनकी दशाएँ और स्थितियाँ, उनकी सारी गतिविधियाँ, स्थापनाएँ, शिक्षण, उनकी व्याख्यायें, उदाहरण, निर्देश-उपदेश - वह सब गूढ़ और आध्यात्मिक प्रकृति का होता है। वह सांसारिक्ता के क्षेत्र का नहीं होता है।

3. आसमान से अवतरित ईसा का प्रसंग भी ऐसा ही है। गॉस्‍पल के अनेकानेक अनुच्छेदों में साफ-साफ कहा गया है कि ‘मानवपुत्र’ आसमान से अवतरित हुआ, या आसमान में है, या आसमान में चला जाएगा। इस तरह जॉन 6: 38 में कहा गया है: “क्योंकि मैं आसमान से नीचे आया,” और जॉन 6: 42 में लिखा है: “और उन्होंने कहा, क्या ईसा नहीं है, यूसुफ का पुत्र, जिसके माता और पिता को हम जानते हैं? तब वह यह कैसे कहता है कि मैं आसमान से उतरा।” और जॉन 3: 13 में कहा है: “और किसी मनुष्य ने आसमान में आरोहण नहीं किया है, मानव-पुत्र ने भी नहीं जो आसमान में है।”

4. विचार कीजिए कि यह कैसे कहा गया है कि मानव-पुत्र आसमान में है, जबकि उस समय ईसा पृथ्वी पर निवास कर रहे थे। इसी तरह इस पर भी विचार कीजिए कि पुस्तक स्पष्ट रूप से कहती है कि ईसा आसमान से आए जबकि वह मेरी के कोख से आए और उनके शरीर का कोख से जन्म हुआ था। अतः यह स्पष्ट है कि मानव-पुत्र के आसमान से अवतरित होने के दावे का अर्थ शब्दार्थ के स्थान पर गूढ़ार्थ है और ईसा का आगमन भौतिक न होकर एक आध्यात्मिक घटना है। अर्थ यह है कि यद्यपि देखने में ईसा का जन्म मेरी की कोख से हुआ, फिर भी वास्तविकता यह है कि वह उस सत्य-सूर्य की पीठ पर सवार हो कर आकाश से आए जो अधिदैविक राज्य के दिव्य क्षेत्र में चमकता है। और जब यह तथ्य प्रतिष्ठापित हो गया कि ईसा दिव्य राज्य के आध्यात्मिक आकाश से आये तो तीन दिनों तक धरती में उनके अदृश्य रहने का अर्थ भी शाब्दिक के बजाय गूढ़ ही होना चाहिए। इसी प्रकार, धरती के गर्भ से उनका पुनरूत्थान भी एक गूढ़ विषय है और यह भौतिक दशा का ही द्योतक है। और आसमान में उनका आरोहण, इसी भाँति, भौतिक प्रकार का नहीं, बल्कि आध्यात्मिक है।

5. पृथक रूप से देखें तो विज्ञान ने दिखा दिया है कि यह प्राकृत आकाश असीम अन्तरिक्ष, व्यर्थ और रिक्त है, जिसमें असंख्य ग्रह-नक्षत्र गतिमान हैं।

6. इसीलिए हम ईसा के पुनरूत्थान का अर्थ इस प्रकार से स्पष्ट करते हैं - ईसा की शहादत के पश्चात् उनके पट्टशिष्य विचलित और किंकर्तव्यविमूढ़ हुए। ईसा की सत्ता, जो उनकी शिक्षाओं, अनुग्रहों, उनकी पूर्णताओं और उनकी आध्यात्मिक शक्ति में है, उनके बलिदान होने के बाद दो-तीन दिनों के लिए छिप गई और गुप्त बनी रही। उसका कोई बाह्य स्वरूप या साकार दर्शन नहीं रहा - वास्तव में, यह लगा कि वे पूर्णतया नष्ट ही हो गये। जिन लोगों ने सचमुच उनमें विश्वास किया था वे संख्या में गिने-चुने ही थे और वे भी हैरान और असमंजस की स्थिति में थे। इस प्रकार ईसा का धर्म निर्जीव शरीर मात्र रह गया। तीन दिन बाद वे पट्टशिष्य सुदृढ़ और अटल बने, ईसा के ‘महान उद्देश्य’ को सहायता देने के लिए उठे, दैवीय शिक्षाओं के उन्नयन का संकल्प लिया, अपने प्रभु की चेतावनियों पर अमल करने का निश्चय किया और उनकी सेवा करने की पूरी कोशिश की। तब जाकर ईसा की सत्ता या उनका यथार्थ दीप्तिमान् हुआ, उनकी शोभा-सुषमा दमक उठी, उनके धर्म को नवजीवन मिला और उनकी शिक्षाएँ तथा प्रबोधन प्रत्यक्ष तथा दृष्टिगत हुए। दूसरों शब्दों में, ईसा का धर्म जो निर्जीव शरीर जैसा बन गया था, नवजीवन की चेतना से अनुप्राणित हुआ और ‘पावन चेतना’ की कृपा ने उसे परिव्याप्त कर लिया।

7. इस तरह का अर्थ ईसा के पुनरूत्थान का है, और यही सच्चा पुनरूत्थान था। लेकिन धर्मयाचक वर्ग गॉस्‍पल का अर्थ ग्रहण नहीं कर सके और यह रहस्य समझ नहीं पाये, अतः उन्होंने दावा किया है कि धर्म विज्ञान के विपरीत है, क्यों अन्य दूसरी बातों के ही समान, ईसा का भौतिक शरीर से प्रकृत आसमानों में आरोहण गणितीय विज्ञानों के विपरीत है। लेकिन जब इस विषय की सत्यता प्रकट कर दी गई और इस प्रतीक को समझा लिया गया है, तो यह किसी मामले में विज्ञान के विरूद्ध नहीं रहा है, बल्कि विज्ञान तथा विवेक-विचार दोनों से समर्पित और सम्पुष्ट हुये हैं।

**24**

**पट्टशिष्‍यों पर पवित्र चेतना का अवतरण**

1. प्रश्न: गॉस्‍पल में लिखा है कि पट्टशिष्यों पर पवित्र चेतना का अवतरण हुआ। इस अवतरण की विधि और उसका अर्थ क्या था?

2. उत्तर: पवित्र चेतना का अवतरण मानव शरीर में वायु के प्रवेश की तरह नहीं होता है। एक शाब्दिक चित्र या विवरण के बजाय यह एक रूपक या साम्यता है। यहाँ जो अर्थ दिया गया है वह किसी दर्पण में सूर्य के अवतरण जैसा है, अर्थात् सूर्य की प्रभा का दर्पण में प्रतिबिम्बन।

3. ईसा के देहावसान के उपरान्त, पट्टशिष्य व्यथित हुए। उनके विचारों और मतों में भिन्नता उत्पन्न हुई, लेकिन बाद में दृढ़ और एक हो गए। पेन्टीकोस्ट में वे एकत्र हुए, संसार से अपना सम्बन्ध तोड़ा, स्वयं की कामनाओं का त्याग किया, सभी पार्थिव सुविधाओं और सुखों का परित्याग किया, अपने तन-मन अपने प्रियतम को न्यौछावर किए, घर छोड़ दिए, अपनी सभी चिन्ताओं एवं सम्पत्तियों से बिदा ली और अपना अस्तित्व तक भुला दिया। इसके बाद ही उन्हें कृपापूर्वक दैवीय सहायता प्रदान की गई और पवित्र चेतना की शक्ति प्रकट हुई। ईसा की आध्यात्मिक शक्ति की विजय हुई और ईश्वर-प्रेम ने जड़ जमा ली। उसी दिन उनको दैवीय सम्पुष्टियाँ प्राप्त हुईं और प्रत्येक पट्टशिष्य ने ईश्वर के धर्म का शिक्षण करने के लिए एक भिन्न दिशा में प्रस्थान किया। प्रत्येक ने प्रमाण तथा साक्ष्य प्रस्तुत करने के लिए अपना मुख खोला।

4. इस प्रकार ‘पावन चेतना’ के अवतरण का अर्थ है कि पट्टशिष्य मसीही चेतना से आकर्षित हुए, उन्होंने निरन्तरता तथा दृढ़ता उपलब्ध की, ईश्वर के प्रति प्रेम की भावना से नवजीवन पाया और ईसा को अपने चिरंजीवी सहायक एवं रक्षक के रूप में देखा। वे महज बूंद थे और महासागर बन गए, वे दुर्बल पतंगे थे और ऊँची उड़ान भरने वाले गरूड़ बन गए, वे सकल निर्बलता थे और बल सम्पन्न बन गये। वे सूर्य की ओर उन्मुख हुए दर्पणों के समान थे। यह निश्चित है कि सूर्य की रश्मियाँ और दीप्ति उनमें प्रतिबिम्बत होगी।

**25**

**पावन चेतना**

1. प्रश्न: “पावन चेतना” का अर्थ क्या है?

2. उत्तर: “पावन चेतना” का अर्थ है ईश्वर की कृपा-वर्षा और वे देदीप्यमान किरणें जो ईश्वर के अवतार से प्रस्फुटित होती हैं। इस प्रकार ईसा सत्य रूपी सूर्य की किरणों के केन्द्र थे और इस समर्थ केन्द्र से, अर्थात ईसा के यथार्थ से, ईश्वर की महिमा अन्य दर्पणों में चमकी। ये दर्पण पट्टशिष्यों के यथार्थ स्वरूप थे।

3. पट्टशिष्यों पर पावन चेतना के अवतरण का अर्थ यह है कि उस भव्य दैवीय मनोहरता ने अपना प्रकाश तथा अपनी समुज्‍ज्‍वल कान्ति उनकी सत्ताओं पर प्रक्षेपित की। कारण कि दूसरी दृष्टि से तो, निर्गमन और प्रतिगमन, अवतरण और उत्तराधिकार आत्माओं के नहीं, शरीरों के लक्षण हैं - अर्थात् निर्गमन और उत्तराधिकार का सम्बन्ध बुद्धिगम्य बारीकियों से नहीं, केवल इन्द्रिगम्य यथार्थों से है। बुद्धिगम्य यथार्थ, जैसे तर्क, विचार, प्रेम, ज्ञान, कल्पना न प्रवेश करते हैं, न बाहर निकलते हैं और न अन्तर्निहित होते हैं, बल्कि वे सम्बन्धों को सूचित करते हैं।

4. उदाहरण के लिए, ज्ञान जो मस्तिष्क द्वारा अर्जित एक स्वरूप है, एक बुद्धिगम्य वस्तु है, और उसके बारे में यह कहना, कि वह चित्त में प्रवेश करता है या इससे निकलता है, बेतुकी बात है। वह अपेक्षाकृत सम्बन्ध है, वैसे ही जैसे दर्पण में छवि प्रतिबिम्बित होती है।

5. इस प्रकार यह स्पष्ट और सिद्ध होता है कि बुद्धिगम्य यथार्थ प्रविष्ट नहीं हो सकते या अन्तर्निहित नहीं होते हैं। निष्कर्ष यह कि पावन चेतना के लिए चढ़ना, उतरना, प्रवेश करना, बाहर आना, मिश्रित या सन्निहित होना किसी प्रकार सम्भव नहीं है। अधिक से अधिक वह दर्पण में सूर्य के प्रतिबिम्ब की भाँति दिखाई देती है।

6. इसके अतिरिक्त, पवित्र धर्मग्रन्थों में जहाँ चेतना की ओर संकेत है वहाँ अभिप्राय व्यक्ति विशेष का होता है, जैसाकि वार्तालाप में औपचारिक तौर पर कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति साक्षात् या मूर्त चेतना है, या दया तथा उदारता का साकार स्वरूप है। इस प्रसंग में दृष्टि दीपक पर नहीं बल्कि प्रकाश पर होती है।

7. उदाहरण के लिए, ‘प्रतिज्ञाबद्ध’ के संदर्भ में, जो ईसा के बाद आएगा, जॉन 16: 12 में कहा गया है: “अभी मुझे कई बातें तुमसे कहनी हैं, लेकिन इस समय तुम उनको ग्रहण नहीं कर सकते। तथापि जब वह, सत्य की चेतना आएगा तो वह तुम्हें सम्पूर्ण सत्य का मार्ग दिखाएगा, क्योंकि वह अपनी ओर से नहीं बोलेगा, बल्कि जो कुछ वह सुनेगा उसी को बोलेगा।”

8. अब जरा सावधानी से विचार कीजिए कि “क्योंकि वह अपनी ओर से नहीं बोलेगा, बल्कि जो कुछ वह सुनेगा वही बोलेगा” शब्दों का स्पष्ट रूप से यही निहित अर्थ है कि ‘सत्य की चेतना’ ने एक पुरुष का मूर्त रूप धारण किया है जिसके पास एक आत्मा है, जिसके पास सुनने के योग्य कान, बोलने वाली एक जिह्वा है। ईसा को इसी प्रकार ‘सत्य की चेतना’ कहा जाता है। यह उसी तरह की अभिव्यक्ति है जैसा हम प्रकाश के बारे में बोलते हैं, लेकिन हमारा तात्पर्य प्रकाश और दीपक दोनों से होता है।?

**26**

**ईसा का दूसरी बार आगमन और निर्णय दिवस**

1. पवित्र धर्मग्रन्थों में यह लिखा है कि ईसामसीह वापस आऐंगे और उनकी वापसी कुछ निश्चित चिह्नों की पूर्ति पर निर्भर है। जब वह पुनः आएंगे तो कुछ चिह्न उपस्थित होंगे। उन चिह्नों में कुछ हैं: “सूर्य अंधकारग्रसित हो जायेगा और चन्द्रमा अपना प्रकाश नहीं देगा और नक्षत्र आसमान से गिरेंगे।” उस समय “पृथ्वी के सभी जनसमुदाय” “मातम” और विलाप करेंगे, और “मानव-पुत्र का चिह्न” “आसमान में” प्रकट होगा “और लोग मानव-पुत्र को शक्ति और बड़ी भव्यता से युक्त आसमान के बादलों में आता हुआ देखेंगे।85” बहाउल्लाह ने इन पदों की विस्तृत व्याख्या किताब-ए-ईकान में की है। अतः यहाँ उसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है। वहाँ देखें और इन प्रतीकों का अर्थ आप समझ सकेंगे।86

2. अब इस विषय पर मैं एक अगली बात कहना चाहूंगा जो इस प्रकार है। ईसा का प्रथम आगमन भी आसमान से हुआ था, जैसा कि गॉस्‍पल में साफतौर से कहा गया है। स्वयं ईसामसीह भी कहते हैं कि मानव-पुत्र आसमान से नीचे आया और मानव-पुत्र आसमान में है और किसी मनुष्य ने आसमान में आरोहण नहीं किया है सिवाय उसके जो आकाश से नीचे उतरा।87 इस प्रकार सभी को यह स्वीकार है कि ईसा आसमान से अवतरित हुए, जबकि बाहर से देखने पर तो वह मेरी के गर्भ से हुए थे।

3. अब, जिस प्रकार वह पहली बार प्रकट रूप से गर्भ से, पर यथार्थ में आसमान से आए, उसी तरह दूसरी बार वह प्रकटतः गर्भ से परन्तु यथार्थतः आसमान से आएंगे। ईसा के द्वितीय आगमन के संदर्भ में जिन दशाओं का गॉस्‍पल में उल्लेख है, वे वस्तुतः वही हैं जिनका विवरण उनके प्रथम आगमन के वास्ते दिया गया था, जैसा पहले बताया जा चुका है।

4. ईसाइयाह की पुस्तक से विदित होता है कि मसीह पूर्व तथा पश्चिम पर विजय प्राप्त करेगा, धरती के सभी राष्ट्र उसकी छत्रछाया में एकत्र होंगे, उसका राज्य स्थापित होगा, वह किसी अज्ञात स्थान से आएगा, पाप कर्म करने वाले लोगों की जांच की जाएगी और न्याय इस सीमा तक प्रबल होगा कि भेड़िया और मेमना, चीता और बकरी, दूध पीता बच्चा और विषधर सर्प एक ही घाट पर, एक मैदान में, और एक ही घर में साथ-साथ रहेंगे। प्रथम आगमन की दशाएँ भी यही थीं, किन्तु उनमें कोई बाह्य रूप से सत्य नहीं हुई। इस तरह यहूदियों ने ईसा की नुक्ताचीनी की, और - ईश्वर न करे- उनको पिशाच तक कहा,88 और उनको ईश्वर के प्रसाद का विध्वंसक और सबाथ का तथा ईश्वरीय विधान का भंजक माना, और मृत्युदण्ड दिया। बताना यह है कि इन उपर्युक्त दशाओं में हर एक का एक अन्तःअर्थ है, लेकिन यहूदी उन्हें समझे नहीं और इसीलिए उनको पहचानने से रह गये।

5. ईसा का द्वितीय आगमन समान नमूने के अनुसार है। जितने चिह्न और दशाएँ सूचित की गई हैं उन सभी के अन्तरार्थ हैं, उनके शब्दार्थ ग्रहणीय नहीं हैं। कारण कि दूसरे अर्थ में लें तो, अन्य बातों के साथ एक बात यह बताई गई है कि तारे पृथ्वी पर गिरेंगे। अब, तारे तो अन्तहीन और असंख्य हैं और आधुनिक गणितज्ञों ने यह तथ्य सुनिश्चित और सिद्ध किया है कि सूर्य का द्रव्यमान पृथ्वी के द्रव्यमान से करीब पन्द्रह लाख गुना अधिक है। स्थिर तारों में प्रत्येक, सूर्य से एक हजार गुना बड़ा है। यदि ये धरती तल पर गिरें तो उनके लिए जगह कहाँ होगी? यह तो ऐसा होगा मानों हिमालय जैसे सौ करोड़ विशाल पर्वत सरसों के एक दाने पर आकर गिरें। ऐसी बात विवेक से और विज्ञान की दृष्टि से (और वस्तुतः सरल सामान्य बुद्धि के विचार-बिन्दु से भी) नितान्त असम्भव ही है। और इससे भी अधिक आश्चर्यजनक यह है कि ईसा का यह कथन है: संयोगवश मैं तब आऊँगा जब तुम सो रहे होगे, क्योंकि मानव-पुत्र का आगमन किसी चोर के आने जैसा होता है।89 चोर शायद मकान में होगा और गृहस्वामी इससे अनजान होगा।

6. अतः यह स्पष्ट रूप से व्यक्त है कि इन चिह्नों के अर्थ आन्तरिक हैं, और उनको शाब्दिक दृष्टि से ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए। ये अर्थ ‘किताब-ए-ईकान’ में पूर्णरूप से स्पष्ट किये गये हैं, अतः उसका अध्ययन करें।

**27**

**त्रित्व**

1. प्रश्न: त्रित्व और उसके तीन ‘व्यक्तियों’ का तात्पर्य क्या है?

2. उत्तर: दिव्यता की वास्तविकता एकाकीपन से भी परे पवित्र और सृजित वस्तुओं की समझ से भी अगम्य है। नश्वर मन-मस्तिष्क और बुद्धि से किसी भी तरह उसकी कल्पना नहीं की जा सकती है। समस्त मनुष्यों की अवधारणा से बढ़कर वह है। उस यथार्थ में कोई विभाजन नहीं है, क्योंकि विभाजन और विविधता सृजित और सापेक्ष वस्तुओं के लक्षण हैं। ‘अपरिहार्य सत्ता’ का अतिक्रमण करती अप्रत्याशित घटनाएँ या संयोग वे नहीं हैं।

3. ईश्वरीय वास्तविकता एकाकीपन से परे शुद्ध और निर्मल है, फिर द्वैतवाद से तो कितना ही अधिक परे होगा। उस दैवीय वास्तविकता का उपाधियों तथा श्रेणियों की धारिता के साथ उतरना अपूर्णता के समान, परिपूर्णता से विपरीत और नितान्त असम्भव ही है। वह सदैव निर्मलता एवं विशुद्धता के अत्युच्च शिखरों पर रहा है और सदा रहेगा। ईश्वर के प्राकट्य और रहस्योद्घाटन के सन्दर्भ में जो कुछ कहा गया है उसका सम्बन्ध उसके अस्तित्व की विभिन्न कोटियों में उतरने से नहीं, बल्कि उसके प्रकाश की देदीप्यमानता से है।

4. ईश्वर विशुद्ध परिपूर्णता है और समग्र सृष्टि अपूर्णता। अतः ईश्वर के अस्तित्व की कोटियों में अवरोहण बड़ी से बड़ी अपूर्णता होगी। निश्चय ही, उसका प्राकट्य, आविर्भाव तथा उसकी प्रभा एक स्वच्छ, चमकीले, परिष्कृत दर्पण में सूर्य के दर्शन के समान हैं।

5. सभी सृजित वस्तुएँ परमात्मा की समुज्‍ज्‍वल प्रतीक हैं। उदाहरण के लिए, सूर्य की किरणें सभी पार्थिव वस्तुओं पर चमकती हैं, फिर भी मैदानों, पहाड़ों, वृक्षों तथा फलों पर पड़ने वाला प्रकाश केवल उतनी ही मात्रा में होता है जितने से वे दिखाई दें, उनका विकास सुनिश्चित हो और वे अपने अस्तित्व के उद्देश्य को साध सकें। किन्तु ‘परिपूर्ण मानव’ स्वच्छ दर्पण की भाँति है जिसमें सत्य का सूर्य अपने सम्पूर्ण गुणों एवं पूर्णताओं के साथ प्रकट एवं प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार ईसा की सत्ता अधिक से अधिक विशुद्धता एवं निर्मलता का एक चमत्कार, परिमार्जित दर्पण थी। सत्य रूपी-सूर्य, ईश्वरत्व का सारतत्व, उस दर्पण में प्रकट हुआ और अपना प्रकाश तथा ऊष्मा उसमें व्यक्त की, लेकिन वह पावनता के शिखरों और निर्मलता के आकाश से उसमें निवास करने के लिए स्वयं नहीं उतरा। इसके विपरीत, वह अपनी उत्तुंगता और उदात्ता में ही निवास किया करता है, लेकिन अपने समस्त सौंदर्य तथा पूर्णता के साथ उस दर्पण में दृष्टिगत एवं व्यक्त होता है।

6. अब, अगर हम यह कहें कि हमने उस सूर्य के दो दर्पणों में दर्शन किये हैं - एक ईसा और दूसरा पवित्र चेतना - अथवा, दूसरे शब्दों में, कहें कि सूर्य केवल एक है और, उसका कोई समकक्ष या भागीदार नहीं है, तो हम पुनः सच ही बोलेंगे।

7. हमारे शब्दों का आशय यह है कि ईसा की सत्ता एक निर्मल दर्पण थी जिसमें सत्य रूपी सूर्य, अर्थात् वह दैवीय सत्व, असीम पूर्णताओं एवं गुणों के साथ प्रकट हुआ और चमका। ऐसा नहीं है कि वह सूर्य जो ईश्वरत्व का सारतत्व है, कभी विभाजित या विविध हुआ - क्योंकि वह एक रहता है - लेकिन वह दर्पण में व्यक्त हुआ। इसीलिए ईसामसीह ने कहा था, “पिता पुत्र में है,” अर्थात् वह सूर्य इस दर्पण में व्यक्त तथा दृश्य है।

8. पावन चेतना ईश्वर की कृपा-वर्षा है जो ईसा की वास्तविकता में प्रकटित और अवतरित हुई। संदेशवाहक ईसा के हृदय में अवस्थित है और पावन चेतना उनकी चेतना का स्थान है। अतः, यह प्रमाणित और संस्थापित है कि दिव्यता का सार सम्पूर्ण एकत्व है और उसका कोई समकक्ष, तुल्य अथवा साम्य नहीं है।

9. यह ‘त्रित्व’ के तीन ‘व्यक्तियों’ का वास्तविक अर्थ है। नहीं तो, ईश्वर के धर्म की आधारशिलाएँ ऐसी कुतर्कपूर्ण समस्या पर आश्रित हो जाएँगी जिसकी धारणा कोई मन-मस्तिष्क कभी नहीं कर सकता। और जिसकी धारणा नहीं की जा सकती है? इस प्रकार की बात किसी बुद्धिगम्य स्वरूप में कितनी ही कम ढली हो, मानव तर्क उसे ग्रहण नहीं कर सकता। वह मात्र कोरी कल्पना ही रहेगी।

10. अन्ततः, यह स्पष्टीकरण ‘त्रित्व के तीन व्यक्तियों’ का अर्थ स्पष्ट करने के साथ ही ईश्वर के एकत्व को भी प्रतिष्ठापित करता है।

**28**

**ईसामसीह का पूर्व-अस्तित्व**

1. प्रश्न: जॉन के गॉस्‍पल के इस वाक्यांश का अर्थ क्या है: और अब, “हे पिता, तू मुझे अपने स्वत्व की उस भव्यता से अभिमण्डित कर जो विश्व के अस्तित्व से पूर्व तेरे साथ मेरी भी थी।”90

2. उत्तर: पूर्व-अस्तित्व दो प्रकार का होता है। एक है मूलभूत पूर्व-अस्तित्व जो किसी कारण से उत्पन्न या प्रेरित नहीं होता है, बल्कि स्वयं में ही वर्तमान रहता है। उदाहरण के लिए, सूरज स्वयं ही चमकता है। वह अपने प्रकाश के लिए अन्य नक्षत्रों की ज्योति पर निर्भर नहीं होता। इसको मूलभूत या मौलिक प्रकाश कहा जाता है। लेकिन चन्द्रमा का प्रकाश सूर्य से आता है, क्योंकि चन्द्रमा को अपनी ज्योति के लिए सूर्य की आवश्यकता है। इस प्रकार, प्रकाश के सम्बन्ध में, सूर्य कारण है और चन्द्रमा कार्य। पहला यानि सूर्य प्राचीन, पूर्ववर्ती और प्रथम है, जबकि चन्द्रमा से पहले कोई अन्य आता है।

3. दूसरे प्रकार का पूर्व-अस्तित्व अस्थायी या अल्पकालिक पूर्व-अस्तित्व है जिसका कोई प्रारम्भ नहीं है। ईश्वर का लोकोत्तर जगत काल से परे निर्मल है। ईश्वर के सम्बंध में, भूत, भविष्य और वर्तमान सब समान है। बीता हुआ कल, आज का दिन और आने वाला कल सूर्य में नहीं होता।

4. इसी प्रकार, प्रतिष्ठा तथा विशिष्टता के सम्बन्ध में भी पूर्वता है, अर्थात् परम विशिष्ट, विशिष्ट से पहले आता है। इस तरह, ईसामसीह की वास्तविकता, जो ‘ईश-शब्द’ हैं, निस्संदेह रूप से तत्व, गुणों एवं विशिष्टता के रूप में सभी सृजित वस्तुओं के पहले से ही है। मानव स्वरूप में दृष्टिगत होने से पहले वह ‘ईश-शब्द’ परम निर्मल तथा भव्य स्थिति में था और अपनी महिमा के शिखर पर परिपूर्ण सौंदर्य एवं ऐश्वर्य में निवास कर रहा था। ‘परमोच्च’ की प्रज्ञा से जब उस ईश-शब्द ने भव्यता के पराकाष्ठ-बिन्दु से अपना प्रकाश इस मूर्त स्वरूप जगत पर प्रवाहित किया, तो हाड़-मांस के जरिए उस पर प्रहार किया गया। इस प्रकार वह यहूदियों के हाथों में जा पड़ा, अज्ञानियों और अन्यायियों का कैदी बना और अन्त में उसे सूली पर चढ़ा दिया गया। इसी कारण उन्होंने ईश्वर का आह्वान करते हुए कहा: “इस दैहिक जगत के बन्धन से मुझे मुक्त कर दे और इस नश्वर पिंजड़े से मुझे मुक्त कर, ताकि मैं आरोहण कर महानता तथा महिमा के शिखरों तक आ सकूँ, अपनी पूर्व निर्मलता और भव्यता पुनः प्राप्त करूँ जिसका मैं हाड़-मांस की दुनिया में वास करने से पहले उपभोग करता था, उस चिरस्थायी राज्य में आनन्द-लाभ कर सकूँ, और इस अदृश्य जगत के निराधार क्षेत्र - अपने सच्चे घर के लिए उड़ान भरूँ।

5. जैसा कि आप ने देखा है, ईसा के स्वगारोहण के पश्चात उनकी महानता और महिमा हृदयों की दुनिया में और पृथ्वी के गन्तव्यों के भी पार, धूल-माटी तक प्रतिष्ठित हुई। जब तक वह भौतिक दुनिया में रहे, तब तक वह धरती के सबसे कमजोर कौम, यहूदियों की घृणा और निन्दा के पात्र बने रहे, जिन्होंने यही उचित समझा कि उनके पावन मस्तक पर कांटों का ताज रखा जाए। लेकिन उनके स्वर्गारोहण के पश्चात सभी राजाओं के रत्न-जटित ताज कांटों के उस ताज के सम्मुख विनत और वशीभूत हो गए।

6. देखिए कि इस दुनिया में भी ईश-शब्द ने कैसी महिमा अर्जित की !

**29**

**पाप और प्रायश्चित**

1. प्रश्न: प्रथम कोरेन्थियस 15: 22 में लिखा है: “जिस प्रकार आदम में सभी मरते हैं, उसी तरह ईसा में सबको जीवित किया जाएगा।” इन शब्दों का अर्थ क्या है?

2. उत्तर: जान लो कि मनुष्य की प्रकृति भौतिक और आध्यात्मिक दो प्रकार की है। भौतिक प्रकृति की विरासत आदम से मिली है, जबकि आध्यात्मिक प्रकृति की विरासत ईश-शब्द की वास्तविकता से मिली है। ईश-शब्द ईसा की आध्यात्मिकता है। भौतिक प्रकृति आदम से जन्मी है, लेकिन आध्यात्मिक प्रकृति ‘पावन चेतना’ की कृपा से सम्पन्न हुई है। भौतिक प्रकृति प्रत्येक अपूर्णता का उद्गम-स्थल है और आध्यात्मिक प्रकृति समस्त पूर्णता का स्रोत है।

3. ईसा ने अपना बलिदान दिया ताकि मानवजाति भौतिक जगत की अपूर्णताओं से मुक्त और आध्यात्मिक प्रकृति के सद्गुणों से सम्पन्न बन सके। दैवीय सत्ता के अनुग्रह से अस्तित्वमान हुई यह आध्यात्मिक प्रकृति समस्त पूर्णताओं की समष्टि है, और ‘पवित्र चेतना’ के श्वासोच्छ्वास से उत्पन्न होती है। यह दिव्य पूर्णताओं का पुंज है, यह प्रकाश, आध्यात्मिकता, मार्गदर्शन, उत्कर्ष, उच्च मनस्विता, न्याय, प्रेम, उदारता, सभी के प्रति सौजन्यता और परोपकारी कर्म है। यह जीवन ही जीवन है। यह आध्यात्मिक प्रकृति सत्य-सूर्य के ऐश्वर्यों की ही एक उज्‍ज्‍वल कान्ति है।

4. ईसामसीह ‘पावन चेतना’ के केन्द्र हैं। ‘पवित्र चेतना’ से उनका जन्म है, पवित्र चेतना से ही उनका पालन-पोषण हुआ है, पवित्र चेतना से ही उनका अवतरण है - अर्थात् उनकी वास्तविकता आदम की वंशपरम्परा की उपज नहीं, बल्कि पवित्र चेतना से उत्पन्न है। इस कथन से कि “जैसे आदम में सभी मरते हैं, वैसे ही ईसा में सबको जीवित किया जायेगा” का अर्थ इसीलिए यह है: आदम को सामान्य रूप से “मनुष्य का पिता” कहा जाता है, अर्थात् वह मानवजाति के भौतिक जीवन का कारण है और उसका स्थान सांसारिक पितृत्व का है। वह यद्यपि जीवनदायी नहीं है किन्तु एक जीवित आत्मा है, जबकि ईसा मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन का कारण हैं, और चेतना के संदर्भ में उनका स्थान आध्यात्मिक पितृत्व का है। आदम जीवित आत्मा है, ईसामसीह जीवनदायी चेतना हैं।

5. इस भौतिक जगत में मनुष्य नैसर्गिक प्रवृत्तिजन्य कामनाओं के आवेग के अधीन है, जिनका अपरिहार्य निष्कर्ष पाप होता है, क्योंकि ये कामनाएँ न्याय तथा सदाचार के नियमों से आबद्ध नहीं होतीं। मानव शरीर प्रकृति का एक बंदी है, अतः वह प्रकृति के निर्देशों के अनुसार ही कार्य करता है। तात्पर्य यह कि, पाप - जैसे रोष, ईर्ष्‍या, कलहप्रियता, लोभ, कृपणता, अज्ञान, विद्वेष, भ्रष्टाचार, अहंकार और निर्दयता - भौतिक जगत में अवश्य ही रहेंगे। ये सारी पाशविक प्रवृत्तियाँ मनुष्य की प्रकृति में विराजती हैं। जो मनुष्य आध्यात्मिक शिक्षा से वंचित रह गया है, वह एक पशु के समान ही है। वह उन अफ्रीकावासियों के जैसा है जिनके कार्य, व्यवहार, और आचरण शुद्ध रूप से सहज वृत्तिपरक हैं और जो प्रकृति की मांगों के अनुसार आचरण करते हैं, यहाँ तक कि एक दूसरे को चीर-फाड़ कर खा जाते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मनुष्य की यह भौतिक दुनिया पाप की दुनिया है और इस तल पर मनुष्य पशु से अलग नहीं है।

6. पाप प्रकृति की मांगों से प्रेरित होता है। प्रकृति की ये स्फुरणाएँ जो दैहिक अस्तित्व के प्रमाणचिह्न हैं पशु के सम्बन्ध में पाप नहीं हैं, लेकिन मनुष्य के सन्दर्भ में पाप हैं। पशु क्रोध, वासना, ईर्ष्‍या, निर्दयता और अहंकार जैसी अपूर्णताओं का स्रोत है। ये सभी निन्दनीय गुण पशु के स्वभाव में पाये जाते हैं, और पशु के मामले में इनसे पाप की रचना नहीं होती है, जबकि मनुष्य के विषय में ये पाप है।

7. आदम मनुष्य के भौतिक जीवन का कारण है, लेकिन ईसा की सत्ता, अर्थात् ईश-शब्द, उसके आध्यात्मिक जीवन का कारण है। वह जीवनदायी चेतना है, तात्पर्य यह है कि, मनुष्य के भौतिक जीवन से आरोपित सारी अपूर्णताएँ उस ‘अनासक्ति के सारतत्व’ की शिक्षा तथा मार्गदर्शन के जरिए मानवीयय पूर्णताओं में परिवर्तित हो जाती हैं। इसीलिए ईसा जीवनदायी चेतना थे और समस्त मानवजाति के आध्यात्मिक जीवन का कारण थे।

8. आदम भौतिक जीवन का निमित्त था। मनुष्य का भौतिक संसार चूंकि अपूर्णताओं का क्षेत्र है और अपूर्णता चूंकि मृत्यु के तुल्य है, इसीलिए पॉल ने अपूर्णता की तुलना मृत्यु से की है।

9. लेकिन अधिकांश ईसाइयों का विश्वास है कि वर्जित वृक्ष के फल खाकर आदम ने अतिचार और पाप किया था और इसी सीमोल्लंघन के भीषण तथा अनर्थकारी परिणाम सदैव के लिए उसकी संततियों को विरासत में प्राप्त हुए। इस प्रकार आदम मनुष्य की मृत्यु का कारण बन गया है। लेकिन यह अविवेकपूर्ण और स्पष्टतया भ्रान्तिमूलक है, क्योंकि इसका अन्तरार्थ यह है कि सभी मनुष्य जिनमें ईशदूत और ईश्वर के संदेशवाहक भी हैं, स्वयं के किसी अपराध या पाप के बगैर और केवल आदम की वंशपरम्परा में उत्पन्न होने के कारण ही, पापों के दोषी बन गए और उन्होंने ईसा के बलिदान के दिन तक नरक की यातनाएँ भोगीं। यह बात ईश्वरीय न्याय के प्रतिकूल है। आदम अगर पापी था, तो इब्राहीम का पाप क्या था? इस्हाक और यूसुफ का दोष क्या था? मूसा का अतिचार क्या था?

10. लेकिन ईसा ने, जो ईश-शब्द थे, अपने प्राणों का बलिदान दिया। इसके दो अर्थ हैं- एक बाह्य और एक वास्तविक अर्थ। बाहरी अर्थ यह है: ईसा का अभिप्राय या एक ‘महोद्देश्य’ का उन्नयन करना, जिसके लिए मानवजाति की शिक्षा, मानव संतानों में नवजीवन का संचरण और सारी मानवता का प्रबोधन आवश्यक था। और इतने महान ‘उद्देश्य’ के उन्नयन के लिए - जो धरती के सभी राष्ट्रों के उसके विरोधी का सामना कर सके - यह आवश्यक था कि उस महोद्देश्य का संवाहक अपना खून बहाए और अपने क्रूसारोपण तथा मृत्यु को आमंत्रित करे। इसीलिए जिस क्षण अपना ध्येय प्रकट किया, उसी समय ईसामसीह ने अपना जीवन न्योछावर कर दिया, सूली का स्वागत अपना सिंहासन मानकर किया, हर घाव को मलहम और हर विष को मधुरतम मधु माना और लोगों को शिक्षा तथा मार्गदर्शन प्रदान करने के लिए कटिबद्ध हुए। स्वयं का उन्होंने बलिदान किया ताकि लोगों को जीवन की चेतना प्रदान कर सकें और शरीर को होम कर दिया ताकि दूसरों में उस चेतना का संचार कर सकें।

11. किन्तु, बलिदान का दूसरा अर्थ यह है: ईसामसीह एक बीज के समान थे और इस बीज ने अपने स्वरूप का त्याग इसलिए किया कि उसका वृक्ष उगे और वह विकसित हो। बीज का रूप ले नष्ट हो गया, लेकिन उसकी वास्तविकता प्रत्यक्ष हुई और वह भी वृक्ष के बाह्य स्वरूप में अपनी पूरी महिमा तथा सौंदर्य के साथ।

12. ईसा का स्थान परम पूर्णता का स्थान था। वे दैवीय पूर्णताएँ सभी आस्थावान् आत्माओं पर सूरज के समान दमकीं और उस प्रकाश की देन उनकी सत्ताओं में प्रकट तथा प्रदीप्त हुई। इसीलिए वह कहते हैं: “मैं वह रोटी हूँ जो आसमान से उतरी है, जो कोई भी इस रोटी को खाएगा वह नहीं मरेगा।”91 अर्थात्, जो भी व्यक्ति इस दिव्य-आहार में सम्मिलित होगा, वह शाश्वत जीवन लाभ प्राप्त करेगा।

13. बीज के स्वरूप का त्याग वृक्ष के लिए हुआ, लेकिन उसकी पूर्णताओं का प्रकटन और प्रत्यक्षीकरण इसी बलिदान के प्रताप से सम्भव हुआ। कारण कि वृक्ष उसकी शाखाएँ, उसकी पत्तियाँ और उसके फल उस बीज के भीतर नीहित और अप्रकट थे, लेकिन जब बीज का स्वरूप बलिवेदी पर अर्पित हुआ, तो उसकी परिपूर्णताएँ पत्तों, फूलों तथा फलों के रूप में पूर्णतया साकार हो गईं।

**30**

**आदम और हौवा**

1. प्रश्न: आदम और उस वृक्ष से उसके खाने की कहानी का सत्य क्या है?

2. उत्तर: तौरेत में लिखा है कि ईश्वर ने आदम को ‘अदन की वाटिका’ में काम करने और उसकी देख-रेख करने के लिए रखा था और उससे कहा था: “उन्मुक्त होकर बगीचे के सभी वृक्षों के फल खाना, लेकिन शुभ और अशुभ वृक्ष के नहीं, क्योंकि यदि तूने उस वृक्ष से खाया तो तू निश्चित ही मर जाएगा।”92 इसके बाद कहा जाता है कि ईश्वर ने आदम को सुला दिया, उसकी पसलियों से एक हड्डी ली और आदम का सहचर बनने के लिए एक स्त्री की रचना की। आगे बताया जाता है कि सप्र ने उसी वृक्ष से खाने के लिए उस स्त्री को प्रलोभित करते हुए कहा, “ईश्वर ने उस वृक्ष से तुमको खाने का निषेध इसलिए किया है कि तुम्हारी आँखें न खुलें और अशुभ से पृथक शुभ की पहचान तुम न कर सको।”93 तब हौवा ने उस वृक्ष से खाया और उसके देने पर आदम ने भी खाया। इससे उन दोनों की आँखें खुल गईं। उन्होंने स्वयं को नग्न अवस्था में देखा, तो पत्तों से अपनी नग्नता ढकी। तब ईश्वर ने उनकी भर्त्‍सना की और आदम से कहा: “क्या तूने वर्जित वृक्ष के फल खाए हैं?” आदम ने उत्तर दिया: “हौवा ने मुझे लालच दिया था।” तब ईश्वर ने हौवा को फटकारा, तो उसने कहा: “मुझे सप्र ने लालच दिया था।” इस पर सप्र को बुरा-भला कहा गया और इस प्रकार सप्र तथा हौवा और उनकी संततियों के बीच शत्रुता कायम हो गई और ईश्वर ने कहा: “मनुष्य हमारे समान बन गया है, शुभ और अशुभ को जानने वाला। सम्भवतः वह जीवन के वृक्ष से खाए और सदैव जीवित रहे।” इसलिए ईश्वर ने जीवन-वृक्ष की रक्षा की।94

3. यदि हम इस विवरण को शब्दों के शुष्क अर्थ में लें जैसाकि उनके सामान्य प्रयोग से सूचित होता है तो वह वस्तुतः बहुत विचित्र ही होगा और मानव मन-मस्तिष्क उसे स्वीकारने, समर्थन देने या उसकी कल्पना करने से भी दूर भागेगा। क्योंकि इतनी विस्तृत व्यवस्थायें और विवरण, ऐसे कथन तथा झिड़कियाँ किसी बुद्धिमान व्यक्ति से भी आना अविश्वसनीय ही होगा, स्वयं ईश्वर से तो आने की बात जाने दें, जिसने इस असीम ब्रह्माण्ड को परम पूर्ण स्वरूप में व्यवस्थित और उसके असंख्य प्राणियों को उच्चतम व्यवस्था, दुरूस्ती और पूर्णता से सज्जित किया है।

4. तनिक ठहर कर विचार करें: यदि इस विवरण के बाह्यार्थ को किसी बुद्धिमान व्यक्ति के साथ घटित हुआ माना जाए, तो सभी समझदार व्यक्ति निश्चित रूप से उसे अस्वीकार करेंगे। वे तर्क-वितर्क करेंगे और कहेंगे कि इस प्रकार की योजना और व्यवस्था सम्भवतः ऐसे किसी व्यक्ति से अग्रसर नहीं हो सकती। अतः आदम और हौवा का वृत्तान्त, वृक्ष से उनका खाना और बैकुण्ठ से उनका निष्कासन प्रतीक और दैवीय रहस्य हैं। उनके सर्वग्राही अर्थ और अद्भुत प्रतिपादन हैं, किन्तु मात्र दैवीय रहस्यों के अन्तरंग ज्ञाता और सर्वभरणकर्ता प्रभु के कृपाभाजन जन ही इन प्रतीकों के सच्चे अभिप्राय से अवगत हैं।

5. अतः तौरेत के इन अनुवाक्यों के अनेक अर्थ हैं। उनमें से एक अर्थ हम समझाएंगे। “आदम” शब्द से तात्पर्य है आदम की चेतना, और “हौवा” का अर्थ है उसका स्वत्व। पवित्र धर्मग्रन्थों के कुछ लेखांशों में जहाँ स्त्रियों का उल्लेख हुआ है वहाँ अभीष्ट अर्थ मानव स्वत्व ही है। “शुभ और अशुभ का वृक्ष” से तात्पर्य है भौतिक जगत, कारण कि चेतना का दिव्य क्षेत्र विशुद्ध अच्छाई और समग्र दीप्ति है, लेकिन भौतिक जगत में प्रकाश और अंधकार, अच्छाई और बुराई, और सभी प्रकार की द्वन्द्वात्मक सत्ताएँ प्राप्त हैं।

6. सप्र का अर्थ है भौतिक जगत के प्रति आसक्ति। भौतिक जगत के प्रति चेतना की यह अनुरक्ति ही आदम की चेतना और स्वत्व को स्वतंत्रता के क्षेत्र से बन्धन की दुनिया में निर्वासित किए जाने का कारण बनी और उसे ‘दिव्य एकता’ के राज्य से मानव अस्तित्व के जगत में ले आई। जब आदम की चेतना और स्वत्व ने एक बार भौतिक जगत में प्रवेश किया, तो वह स्वतंत्रता के आकाश से च्युत होकर बन्धन के धरातल में जा उतरा। परमोच्च निर्मलता तथा समग्र शुभता में उसका वास था और इसके बाद उसने शुभ और अशुभ की दुनिया में कदम रखा।

7. “जीवन का वृक्ष” का अर्थ है अस्तित्व जगत की सर्वोच्च कोटि, अर्थात् ईश्वर के ‘शब्द’ और उसके सार्वभौम अवतार का स्थान। वह स्थान वस्तुतः तब तक सुरक्षित रखा गया, जब तक अपने सार्वभौम प्राकट्य के सर्वोच्च प्रकाशन हेतु उसने प्रकट होकर अपनी ज्योति नहीं बिखेरी। कारण कि, दैवीय पूर्णताओं के उद्यन तथा प्राकट्य के सम्बन्ध से, आदम की संस्थिति भ्रूण की थी। वयस्कता तथा परिपक्वता प्राप्त करने की संस्थिति ईसा का स्थान थी, और ‘परम महान ज्योतिपुंज’95 का उद्यन सारतत्व एवं गुणों की पूर्णता का सोपान था। इसीलिए ‘परमोच्च बैकुण्ठ’ का जीवन-वृक्ष सम्पूर्ण निर्मलता एवं शुचिता के धुरी का केन्द्र, अर्थात्, ईश्वर के सार्वभौम अवतार का द्योतक है। कारण कि, आदम के दिनों से ईसामसीह के समय तक शाश्वत जीवन और ऊर्ध्‍वस्थ जगत की सर्वग्राही पूर्णताओं का अत्यल्प ही उल्लेख हुआ था। यह जीवन-वृक्ष ईसा की सत्ता के मुकाम का संकेत है। उनके धर्मविधान में इसे लगाया गया, और चिरस्थायी फलों से अलंकृत किया गया।

8. अब इस पर विचार कीजिए कि यह व्याख्या कितनी सघनता से वास्तविकता के अनुरूप है। जब आदम की चेतना और स्वत्व भौतिक संसार के प्रति आसक्त हुए, तो वे स्वतंत्रता के क्षेत्र से निकलकर बंधन के क्षेत्र में चले गए। प्रत्येक परवर्ती पीढ़ी के साथ यही स्थिति बनी रही, और भौतिक संसार के प्रति चेतना तथा स्वतत्व की यह अनुरक्ति - जो पाप है - आदम की संततियों को विरासत में प्राप्त हुई। यह आसक्ति ही वह सप्र है जो आदम की वंशानुगत संतानों की चेतनाओं के बीच में, उनके साथ शत्रुभाव से, सर्वदा रहेगा, क्योंकि संसार के प्रति आसक्ति चेतनाओं के बंधन का निमित्त बन गई है। यह बंधन वह पाप है जो आदम से लेकर उसकी संततियों तक अग्रसारित हुआ है, क्योंकि इसने मनुष्यों को, अपनी सारभूत आध्यात्मिकता की पहचान और उदात्त लक्ष्यों की उपलब्धि, से वंचित कर दिया है।

9. ईसा के पावन श्वांस-समीर और ‘परम महान ज्योतिपुंज’ की निर्मल प्रकाशावलियाँ दूर-दूर तक फैलीं। मानवीय सत्ताएँ, अर्थात् वे आत्माएँ, जो ईश-शब्द की ओर उन्मुख हुई, उनकी नानाविध कृपा की भागी बनीं, वे इस आसक्ति और पाप से बच गईं। उनको शाश्वत जीवन प्रदान किया गया, बंधन की जंजीरों से मुक्त किया गया और उन्होंने स्वतंत्रता के क्षेत्र में प्रवेश किया। उनको पार्थिव दुर्गुणों से परिशुद्ध किया गया तथा दैवीय सद्गुणों से सम्पन्न बनाया गया। यह ईसा के इन शब्दों का अर्थ है कि मैंने अपना लहू संसार के जीवन के लिए दिया।96 अर्थात, मैंने इन परीक्षाओं, पीड़ाओं तथा विपत्तियों को सहा, यहाँ तक कि सबसे बड़े बलिदान का वरण इसी अंतिम उद्देश्य की सिद्धि और पापमोचन को सुनिश्चित करने के लिए किया, अर्थात् चेतनाओं की भौतिक संसार से अनासक्ति और दिव्य जगत के प्रति उनके आकर्षण के निमित्त - ताकि वे आत्माएँ उठ सकें जो मार्गदर्शन का सारस्वरूप और लोकोत्तर जगत की पूर्णताओं का साक्षात् स्वरूप बन सकें।

10. ध्यान दीजिए कि इन शब्दों का यदि शाब्दिक अर्थ ही ग्रहण किया जाये, जैसे ‘पुस्तक’97 के लोगों ने कल्पना की, तो यह नितान्त अन्याय और पूर्णरूप से पूर्व नियति ही होगी। वर्जित वृक्ष के निकट जाकर यदि आदम ने पाप किया, तो ‘ईश्वर के मित्र’ यशस्वी इब्राहीम का पाप क्या था, मूसा की भूल क्या थी, जिन्होंने ईश्वर से वार्तालाप किया था? ईशदूत नूह से कौन-सा अपराध बन पड़ा और सत्यवादी यूसुफ ने कहाँ अतिचार कर डाला? ईशदूतों ने कौन-सी गलती की, और शुद्धात्मा जॉन से कौन-सी चूक हो गई? आदम के पाप के कारण, यदि दैवीय न्याय इन ज्योतिर्मय देहधारी विभूतियों को कष्ट सहने के लिए विवश करता, तो ईसा के आगमन के समय तक क्या नरक की यातना और उनके बलिदान से उस अधम आग से उनका बचाव भी नहीं होना चाहिए था? ऐसी धारणा हर नियम और सिद्धान्त की परिधि से परे है और कोई विवेकशील व्यक्ति इसे कदापि स्वीकार नहीं कर सकता।

11. अर्थ अपेक्षाकृत वही है जिसका पहले उल्लेख किया गया है। आदम है आदम की चेतना और हौवा उसका स्वत्व। वृक्ष भौतिक संसार है, और सप्र सांसारिकता है। यह आसक्ति जो पाप है आदम की संततियों को विरासत में मिली है। पावनता की श्वांस-समीरों से ईसा ने आत्माओं की इस आसक्ति से रक्षा की और उनको इस पाप से मुक्त किया।

12. इसके अतिरिक्त, आदम का यह पाप इसके पद-स्थान से असंगत नहीं है। इस सांसारिक आसक्ति के कुछ ठोस परिणाम भी हुए, तथापि आध्यात्मिक जगत के प्रति अनुरक्ति के सम्बन्ध से उसे फिर भी एक पाप ही माना जाता है। इस प्रकार कहावत “सदाचारीजनों के सत्कर्म निकटस्थ जनों के पाप होते हैं।” की सत्यता स्थापित होती है। दूसरी ओर, आसक्ति शरीर की शक्ति के समान है, जो चेतना की शक्ति के सम्बन्ध में अपूर्ण है, बल्कि तुलनात्मक दृष्टि से वह वस्तुतः सिर्फ निर्बलता ही है। इसी प्रकार, भौतिक जीवन दैवीय जगत के शाश्वत अस्तित्व तथा जीवन की तुलना में मृत्यु ही माना जाता है। इसीलिए ईसा ने इस सांसारिक जीवन को मृत्यु बताते हुए कहा था, ‘मृतको को अपना मृतक दफनाने दो।”98 उन आत्माओं ने यद्यपि संसार का जीवन भी जिया, किन्तु ईसामसीह की दृष्टि में वह जीवन मृत्यु के ही समान था।

13. आदम के सम्बन्ध में बाइबिल में दिए गये विवरण के अर्थों में यह मात्र एक अर्थ है। चिन्तन कीजिए, ताकि अन्य अर्थ भी आप खोज सकें।

**31**

**पावन चेतना की निन्दा**

1. प्रश्न: “सभी प्रकार की ईशनिन्दा और पापों के लिए मनुष्य को क्षमा किया जाएगा: किन्तु ‘पवित्र आत्मा’ की दैवीय निन्दा के लिये मनुष्य को क्षमा नहीं किया जाएगा। और यदि कोई मानव-पुत्र के विरूद्ध कुछ बोलता है तो इसके लिए उसे क्षमा किया जाएगा: परन्तु जो कोई पवित्र आत्मा के विरूद्ध बोलेगा तो इसके लिए उसे क्षमा नहीं मिलेगी, न तो इस लोक में और न परलोक में।”99

2. उत्तर: ईश्वरावतारों के निर्मल तत्वों के दो आध्यात्मिक पद हैं। एक स्थान है दिव्य अभिव्यक्ति की संस्थिति, जिसकी तुलना सूर्य के गोले से की जा सकती है। दूसरा है दीप्ति एवं प्रकाशना का अवस्थान, जिसकी तुलना दिव्य प्रकाश एवं पूर्णताओं से की जा सकती है - यही ‘पवित्र चेतना’ है। कारण कि, पावन चेतना ईश्वर की नानाविध मनोहरता तथा पूर्णताएँ हैं और ये दैवीय पूर्णताएँ सूर्य की किरणों तथा ताप के समान हैं। अपनी देदीप्यमानता के प्रताप से सूर्य, सूर्य है, क्योंकि इन किरणों के अभाव में वह सूर्य नहीं रहेगा। ईश्वर की पूर्णताएँ यदि ईसा में प्रकट होकर प्रत्यक्ष न होतीं, तो वह ईसा नहीं होते। वह वास्तव में हू-बहू ईश्वरावतार इसलिए हैं, कि उनमें दैवीय पूर्णताएँ प्रकाशित हैं। ईश्वर के ये दिव्य-दूत, दैवीय पूर्णताएँ अर्थात ‘पावन चेतना’ हैं जो उनमें व्यक्त होती हैं।

3. यदि कोई आत्मा ईश्वरावतार से दूरी बना कर रहती है, तो सम्भवतः तब भी उसे जगाया जा सकता है, क्योंकि हो सकता है कि उसे वह जान नहीं पाया और दैवीय पूर्णताओं के मूर्त स्वरूप में उसे पहचान नहीं सका। लेकिन उन दैवीय पूर्णताओं से ही यदि वह द्वेषभाव रखता है जो स्वयं ‘पावन चेतना’ हैं, तो यही प्रदर्शित होता है कि चमगादड़-सरीखा वह व्यक्ति प्रकाश का विद्वेषी है।

4. प्रकाश के प्रति विद्वेष असाध्य और अक्षम्य है, अर्थात् ऐसी किसी आत्मा के लिए ईश्वर के निकट पहुंचना असम्भव है। यहाँ यह दीपक अपने प्रकाश के कारण दीपक है, प्रकाशरहित होने पर वह दीपक नहीं होगा। यदि कोई आत्मा दीपक के प्रकाश से घृणा करती है तो यह ऐसा ही है, मानो वह आत्मा अंधी हो और प्रकाश का बोध नहीं कर सकती, और यह दृष्टिहीनता शाश्वत अपवंचन का कारण है।

5. यह स्पष्ट होता है कि, आत्माओं को ‘पावन चेतना’ के उन आशीषों से कृपा-लाभ होता है जो ईश्वरावतारों में प्रत्यक्षरूप से दृष्टिगत होते हैं, अवतार के व्यष्टिगत व्यक्तित्व से नहीं। तात्पर्य यह है कि, यदि कोई आत्मा पावन चेतना से विकीर्णित अनुग्रहों का भागी बनने से रह गयी, तो वह ईश्वर की कृपा से वंचित रह जाती है, और यह अपवंचन स्वतः दैवीय क्षमादान को ठुकराने के बराबर होता है।

6. यही कारण है कि अनेक आत्माएँ ऐसी हुई हैं जिन्होंने ईश्वरावतारों का विरोध इसलिए किया कि वे यह इस सत्य की अनुभूति नहीं कर सकीं कि वे अवतार हैं, लेकिन जब एक बार उनको पहचाना तो उनके मित्र बन गईं। इस तरह, ईश्वरावतार के प्रति वैरभाव शाश्वत अपवंचन का निमित्त नहीं बना, क्योंकि वे दीपधारक के शत्रु थे और जानते नहीं थे कि यह ईश्वर के देदीप्यमान प्रकाश का आसन है। वे प्रकाश के शत्रु नहीं थे और जब उन्होंने कभी यह समझा कि दीपधारक प्रकाश का ही आसन है, तो वे आत्माएँ सच्चा मित्र बन गईं।

7. हमारा तात्पर्य यह है कि दीपधारक से दूरी शाश्वत अपवंचन का कारण नहीं है, क्योंकि उसे जाग्रत कर उसका सही मार्गदर्शन किया जा सकता हैं लेकिन स्वयं प्रकाश के ही प्रति शत्रुता शाश्वत अपवंचन का निमित्त बनती है, और इसका कोई उपचार नहीं है।

**32**

**‘‘आह्वान अनेकों का होता है  
पर चुने कुछ ही जाते हैं’’**

1. प्रश्न: गॉस्‍पल में ईसामसीह कहते हैं: “आह्वान अनेक का होता है पर चुने कुछ ही जाते हैं।”100 और कुरआन में लिखा है: “जिस किसी को वह चाहता है उसे अपनी दयालुता के लिए चुनता है।”101 इन वचनों में निहित विवेक क्या है?

2. उत्तर: यह समझ लो कि ब्रह्माण्ड की व्यवस्था और पूर्णता के लिए यह अपेक्षित है कि अस्तित्व का प्रकाशन अनगिनत स्वरूपों में हो। अतः सृजित वस्तुओं को एक ही कोटि, स्थान, ढंग, प्रकार या प्रजाति के रूप में साकार नहीं किया जा सकता। श्रेणी के अन्तर, स्वरूप की विशेषताएँ और किस्मों तथा प्रजातियों की बहुलता अपरिहार्य है। इस प्रकार खनिज, वनस्पति, पशु एवं मानव जगतों का होना अत्यावश्यक है, क्योंकि मात्र मनुष्य के माध्यम से अस्तित्वमय संसार को समुचित रूप से व्यवस्थित, सुसज्जित, संगठित और परिपूर्ण नहीं बनाया जा सकता था। इसी प्रमाण से, केवल पशुओं, वृक्षों तथा खनिजों को लेकर भी, इस संसार का इतना अद्भुत स्वरूप, उसकी सुगठित व्यवस्था और सूक्ष्म सज-धज नहीं बन पाती। अस्तित्व अपनी परम पूर्णत्व के साथ दमके, इसके लिये कोटियों एवं श्रेणियों के अन्तर, प्रकारों तथा प्रजातियों के विभेद होने ही चाहिए।

3. उदाहरण के लिए, अगर यह वृक्ष पूरा का पूरा, फल बन जाये तो वनस्पति जगत की पूर्णताएँ प्राप्त नहीं की जा सकेंगी, क्योंकि अधिकाधिक सौन्दर्य तथा पूर्णता से भरपूर दिखने के लिए वृक्ष में पत्तियों, फूलों तथा फल सभी आवश्यक हैं।

4. इसी प्रकार मानव-शरीर पर विचार करें। यह आवश्यक है कि वह विभिन्न अंगों, अवयवों तथा इन्द्रियों से मिल कर बना है। मानव शरीर की सुन्दरता एवं पूर्णता के लिए कान, आँख, मस्तिष्क के साथ-साथ नाखून और बाल भी अपेक्षित हैं। मनुष्य यदि सकल रूप में मस्तिष्क, या नेत्र अथवा कान हो, तो यह अपूर्णता के समतुल्य होगा। अतः बालों, बरौनियों, दाँतों तथा नखों का न होना अपूर्णता ही है, यद्यपि नेत्रों के साथ तुलना में नाखून निर्जीव तथा जड़ है और खनिज तथा वनस्पति से मेल खाते हैं, फिर भी मानव शरीर में उनकी अनुपस्थिति अरूचिकर और अप्रिय है।

5. जब तक सृजित वस्तुओं की कोटि पृथक-पृथक है, उनमें से कुछ का दर्जा स्वाभाविक रूप से अन्य से ऊपर होगा। श्रेणी-विभाजन की दृष्टि से चुनाव करने पर, मनुष्य जैसे कुछ प्राणियों का सर्वोच्च कोटि में चयन, पेड़-पौधों जैसी अन्य वस्तुओं का मध्यम कोटि में अनुरक्षण, और खनिज जैसे कुछ और वस्तुओं का निम्नतम कोटि में अपकर्ष, सभी दैवीय इच्छा एवं प्रयोजन के कारण है। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि उच्चतम श्रेणी के लिए मनुष्य का चुनाव ईश्वर की कृपा के कारण है और आध्यात्मिक उपलब्धियों तथा दैवीय पूर्णताओं की दृष्टि से मनुष्यों के बीच अन्तर भी उसी प्रकार सर्वदयामय की पसन्द के कारण है। आस्था जो शाश्वत जीवन है, न्याय का प्रतिफल न होकर कृपा का प्रतीक है। मिट्टी और पानी की इस दुनिया में प्रेमाग्नि की लौ मानवीय प्रयास तथा श्रम से नहीं, आकर्षण की शक्ति से जलती है। यह अवश्य है कि प्रयास और अध्यवसाय से ज्ञान, विद्या तथा अन्य पूर्णताओं का अर्जन किया जा सकता है। तब, अपनी आकर्षण-शक्ति के जरिए दिव्य सौंदर्य के प्रकाश को ही चेतना को झिंझोड़ कर गतिशील बनाना होगा। इसी से कहा गया है, “बुलाया बहुतों को जाता है लेकिन चुने थोड़े ही जाते हैं।”102

6. भौतिक अस्तित्व होने के नाते उनको दोष नहीं दिया जा सकता, उनकी जांच नहीं की जा सकती, या अपनी श्रेणियों तथा स्थानों के लिए उनको जवाबदेह नहीं ठहराया जा सकता। इस प्रकार खनिज, पेड़-पौधे और पशु सभी अपनी-अपनी श्रेणियों में रमणीय और सुखद हैं, लेकिन यदि वे अपनी श्रेणी में त्रुटिपूर्ण रह जायें तो वे निन्दनीय होंगे, क्योंकि श्रेणी अपने आप में समग्रतः परिपूर्ण है।

7. अब मानवजाति को लें, तो उनके बीच दोहरे अन्तर हैं। एक उनकी श्रेणी का अन्तर है और यह अन्तर दोष के योग्य नहीं है। दूसरा अन्तर आस्था और निश्चय के सम्बन्ध में है और इसकी अनुपस्थिति निन्दनीय है। आत्मा यदि इस अनुकम्पा से वंचित रहे और ईश्वर-प्रेम की आकर्षण-शक्ति से रहित है तो अवश्य ही वह अपनी ही लोलुपताओं तथा वासनाओं का शिकार बन जाएगी। अपनी मानव कोटि में वह कितनी ही प्रशंसनीय और मनोरम हो, फिर भी यदि वह उस श्रेणी की पूर्णताओं से वंचित है तो वह अपूर्णता और कमियों का स्रोत बन जाती है और इसी वजह से जवाबदेह होती है।

**33**

**ईशदूतों का प्रत्यागमन**

1. प्रश्न: क्या आप ‘प्रत्यागमन’ के विषय को स्पष्ट करेंगे?

2. उत्तर: बहाउल्लाह ने किताब-ए-ईकान में इस विषय की लम्बी और विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत कर दी है।103 उसे पढ़ने से इस विषय की सत्यता स्पष्ट रूप से व्यक्त हो जाएगी। लेकिन आपने प्रश्न उठाया है तो एक संक्षिप्त स्पष्टीकरण यहाँ भी दिया जा रहा है।

3. अपनी उक्तियों में हम गॉस्‍पल के मूलपाठ को भूमिका के रूप में प्रस्तुत करेंगे। उसमें लिखा है कि जब ज़कारिया के पुत्र जॉन का आविर्भाव हुआ और उन्होंने लोगों के समक्ष ईश्वर के साम्राज्य के आगमन का उद्घोष किया, तो लोगों ने उनसे पूछा, “तू कौन है? क्या तू प्रतिज्ञाबद्ध मसीहा है?” उन्होंने उत्तर दिया, “मैं मसीहा नहीं हूँ।” फिर उन्होंने पूछा, “क्या तू इलियास हैं?” उन्होंने उत्तर दिया, “मैं वह भी नहीं हूँ।”104 ये शब्द स्पष्ट रूप से प्रमाणित करते हैं कि ज़कारिया के पुत्र जॉन वचनदत्त इलियास नहीं थे।

4. लेकिन ताबोत पर्वत पर रूपान्तरण के दिन ईसा ने स्पष्ट रूप से कहा कि ज़कारिया के पुत्र जॉन प्रतिज्ञाबद्ध इलियास हैं। मार्क 9: 11 में कहा गया है: “और उन्होंने उनसे पूछते हुए कहा: धर्मशास्त्री यह क्यों कहते हैं कि पहले इलियास ही आयेंगे? और उन्होंने उत्तर देते हुए उनको बताया: सत्य ही इलियास पहले आयेंगे और सभी वस्तुओं की पुनर्प्रतिष्‍ठा करेंगे और मानव-पुत्र के बारे में इस प्रकार लिखा है कि वह अनेक कष्टों से पीड़ित होगा, और उसकी अवज्ञा की जाएगी। लेकिन मैं तुम लोगों से कहता हूँ, कि इलियास वस्तुतः आ गए हैं और लोगों ने उनके प्रति वही किया है जिसकी ओर उनका झुकाव था, जैसाकि उनके सम्बन्ध में लिखा है।” और मैथ्यू 17: 13 में कहा गया है: “तब शिष्यों नें समझा कि वह उनसे बपतिस्मादाता जॉन के बारे में बोले थे।”

5. तब उन्होंने बपतिस्मादाता जॉन से पूछा, “क्या तू इलियास है?” और उन्होंने उत्तर दिया, “मैं वह नहीं हूँ,” जबकि गॉस्‍पल में कहा गया है कि जॉन प्रतिज्ञाबद्ध इलियास ही थे और यह बात ईसामसीह ने भी स्पष्ट रूप से बताई थी। यदि जॉन इलियास थे, तो उन्होंने क्यों कहा कि वह इलियास नहीं हैं और अगर वह इलियास नहीं थे, तो ईसा ने क्यों कहा कि वह वही हैं।

6. कारण यह है कि हम यहाँ व्यक्ति की वैयक्तिकता का नहीं, बल्कि उसकी पूर्णताओं की वास्तविकता का विचार कर रहे हैं -तात्पर्य यह है कि, जैसी पूर्णताएँ इलियास में थीं, बिलकुल वैसी ही बपतिस्मादाता जॉन में भी अनुभव की गई थीं। इस प्रकार से बपतिस्मादाता जॉन प्रतिज्ञाबद्ध इलियास थे। जिस चीज का विचार यहाँ किया जा रहा है वह सारतत्व105 नहीं, बल्कि सहज गुण-धर्म है।

7. उदाहरण के लिए, गत वर्ष एक फूल था और इस वर्ष भी एक फूल निकला है। जब मैं कहता हूँ कि गत वर्ष का फूल वापस आया है, तो मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि वही फूल उसी रूप की पहचान के साथ लौटा है। लेकिन यह फूल चूँकि उन्हीं गुणों से सम्पन्न है जैसे पिछले वर्ष के फूल थे - क्योंकि इसमें भी वही सुगंध, सुकोमलता, सौष्ठव तथा रंग हैं - इसी से यह कहा जाता है कि गत वर्ष वाला फूल वापस आ गया है तो हम कहते हैं कि पिछले वर्ष का बसंत लौट आया है, क्योंकि जो कुछ पिछले बसंत में मिला था वही सब बाद वाले में पुनः मिलेगा। इसी कारण ईसा ने कहा, “तुम लोग वह सब कुछ प्रत्यक्ष देखोगे जो पूर्ववर्ती ईशदूतों के दिनों में हुआ था।”106

8. हम एक और उदाहरण देते हैं: गत वर्ष एक बीज बोया गया, शाखाएँ तथा पत्ते निकले, फूल और फल आये, और अंत में एक नया बीज उत्पन्न हुआ। जब यह दूसरा बीज बोया जाएगा तो उसका पौधा बढ़कर वृक्ष बनेगा और एक बार फिर वे ही पत्ते, शाखाएँ, फूल तथा फल वापस आयेंगे, और पूर्ववर्ती पेड़ फिर एक बार दिखाई देगा। जिस प्रकार आरम्भ एक बीज था, उसी प्रकार अन्त भी एक बीज है। इसलिए कहते हैं कि बीज वापस आया है। जब हम वृक्ष के वस्तुपरक पदार्थ का विचार करते हैं, तो वह भिन्न होता है, लेकिन जब हम फूलों, पत्तों और फल का विचार करते हैं, तो वही सुगंध, स्वाद और सुकोमलता उत्पन्न होती हैं। इसीलिए, वृक्ष की पूर्णता नए सिरे से वापस आती है।

9. इसी विधि से, यदि हम व्यक्ति का विचार करें, तो वह भिन्न व्यक्ति होता है, लेकिन यदि हम गुणों तथा पूर्णताओं को विचार में लें, तो वही वापस आया होता है। इस तरह जब ईसा ने कहा, “यह इलियास है,” तो उनका तात्पर्य था कि यह व्यक्ति इलियास की, पूर्णताओं, गुणों, वृत्तियों तथा विशेषताओं का मूर्त रूप है। और जब बपतिस्मादाता जॉन ने कहा, “मैं इलियास नहीं हूँ,” तो उनका आशय था, “मैं वही व्यक्ति नहीं हूँ जो इलियास थे।” ईसा ने उनकी सहज वृत्तियों, पूर्णताओं, गुणों तथा विशेषताओं का विचार किया, और जॉन ने अपने भौतिक पदार्थ और व्यक्तित्व की ओर संकेत किया। यह बात इस दीपक जैसी है। कल रात यह यहाँ था, आज रात इसे फिर जलाया जाता है, और आगामी रात को भी यह प्रकाशित होगा। जब हम कहते हैं कि आज रात का दीपक वही है जो गत रात का था, और वह वापस आ गया है, तब हमारा आशय तेल, बत्ती या दिए से नहीं, बल्कि प्रकाश से होता है।

10. इन विचारों को किताब-ए-ईकान में विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया गया है।

**34**

**पीटर और पोप का पद**

1. प्रश्न: मैथ्यू के गॉस्‍पल में ईसामसीह पीटर से कहते हैं: तू पीटर है, और इस चट्टान पर मैं अपना चर्च बनाऊंगा।”107 इस वाक्य का क्या अर्थ है?

2. उत्तर: ईसा का यह वचन पीटर के उत्तर की स्वीकारोक्ति है। जब ईसा ने पूछा: “मैं कौन हूँ, इस विषय में तुम लोगों का विश्वास क्या है?” तो पीटर ने उत्तर दिया: “मेरा विश्वास है कि तू जीवंत ईश्वर का पुत्र है।” तब ईसा ने उनसे कहा: “तू पीटर है”108 (फलस्तीन के उत्तर-पूर्व में स्थित देश) अरामा की भाषा में चूंकि “सेफास” शब्द का अर्थ “चट्टान” है - “और इस चट्टान पर मैं अपना चर्च बनाऊँगा।”अन्य शिष्यों ने ईसा को उत्तर देते हुए कहा था कि वह इलियास, या बपतिस्मादाता जॉन, या जेरेमिया, या कोई ईशदूत है।109

3. रूपक के जरिए और सांकेतिक शब्दों में ईसा का तात्पर्य पीटर के शब्दों की पुष्टि करना था। पीटर नाम का अर्थ चूंकि चट्टान था, इसलिए ईसा ने उनसे कहा: “तू पीटर है, और इस चट्टान पर मैं अपना चर्च बनाऊँगा।” अर्थात्, ईसा के जीवित परमेश्वर का पुत्र होने में तुम्हारा विश्वास ही ईश्वर के धर्म की आधारशिला बनेगा और इसी आस्था पर ईश्वर के चर्च की - जो ईश्वर का विधान है - स्थापना होगी।

4. पीटर की कब्र रोम में होने की बात संदेहपूर्ण और विवादित है। कुछ लोगों का कहना है कि वह एन्टिओक में है।

5. इसके अतिरिक्त, हम ईसा के धर्म के विपरीत कुछ पोपों (धर्माध्यक्षों) के कर्मों का भी मूल्यांकन करेंगे। ईसा ने, क्षुधा पीड़ित और असहाय रहते, बीहड़ों के शाक-पात पर जीवन निर्वाह किया और कभी किसी हृदय को वह व्यथित नहीं देख सके। पोप स्वर्णजटित गाड़ियों में चलते हैं और बड़ी ही शान-शौकत के साथ अपने दिन बिताते हैं। ऐसी सुख-सुविधाओं और ऐश्वर्य के बीच वे रहते हैं जो धरती के सभी राजाओं की विपुल समृद्धि और विषयासक्ति से बढ़कर होती है।

6. ईसा ने किसी को हानि नहीं पहुंचायी, किन्तु कुछ पोपों ने अनेक निर्दोष आत्माओं को मार डाला। इतिहास की पुस्तकों में देखिए। महज अपनी क्षणिक अधिकार-सत्ता को निरापद रखने के लिए कितना खून पोपों ने बहाया है! मानवता के कितने ही हजारों सेवकों को जिनमें ब्रह्माण्ड के रहस्यों की खोज करने वाले विद्वज्जन भी थे, उन्होंने यातनायें दीं, कारावास दिया और उनकी हत्या की, सब कुछ महज मत-भिन्नता के कारण। कितनी प्रचण्डता से सत्य का विरोध किया उन्होंने!

7. ईसा की भर्त्‍सनाओं पर विचार कीजिए और पोपों के रीति-रिवाजों और आचरण की जांच-पड़ताल कीजिए। ईसा की भर्त्‍सनाओं तथा पोपों के प्रशासन के बीच क्या कोई समरूपता है? हम छिद्रान्वेषण नहीं करना चाहते, लेकिन वेटिकन (रोम में पोप का प्रशासन केन्द्र नगर) के इतिहास के पन्ने सचमुच विस्मयकारी हैं। हमारा तात्पर्य यह है कि ईसामसीह के आदेश-निर्देश एक चीज है, और पोप-शासन का आचरण बिलकुल दूसरी, दोनों में तनिक भी मेल नहीं हैं। देखिए कि पोपों की आज्ञा से कितने अधिक प्रोटैस्टेण्ट मारे गये हैं! कैसे-कैसे अन्याय और क्रूरता को बढ़ावा मिला है ! कैसी-कैसी यातनाएँ बरपा हुई हैं! इन कृत्यों से क्या ईसामसीह की मधुर सुवास ग्रहण की जा सकती है? बिल्कुल नहीं, परमेश्वर की नेकनियती की सौगंध! ऐसे लोगों ने ईसा को नहीं माना, जबकि संत बारबरा ने जिनका चित्र हमारे सामने है, उनका आदेश माना, उनकी राह पर चले, और उनकी भत्र्सनाओं पर अमल किया।

8. पोपों में वस्तुतः कुछ आशीर्वादित लोग हुए हैं जो ईसा के पद चिह्नों पर चले हैं। ये लोग विशेष रूप से ईसाई युग की प्रारम्भिक शताब्दियों में हुए जब पार्थिव साधन कम थे और दैवीय दण्ड कठोर थे। लेकिन जब सांसारिक प्रभु-सत्ता के साधन मजबूत हुए, और भौतिक सम्मान तथा सम्पन्नता प्राप्त हुए, तब पोप का शासन ईसा को पूरी तरह भूल गया और भौतिक सुख-सुविधाओं तथा विलासिताओं के बीच पार्थिव साम्राज्य तथा गौरव सम्भालने लगा। उसने लोगों को मौत के मुँह में धकेला, विद्या के विस्तार का विरोध किया, विज्ञानी जनों का उत्पीड़न किया, ज्ञान का प्रकाश अवरूद्ध किया, और हत्या तथा लूटपाट के आदेश दिए। हजारों आदमी, वैज्ञानिक और विद्वान तथा निर्दोष आत्माएँ, रोम की जेलों में मर-खप गईं। ऐसे तरीकों और कर्मों से युक्त, ईसामसीह के प्रतिनिधित्व का दावा कैसे स्वीकार किया जा सकता है?

9. ‘परमधर्मपीठ’ ने ज्ञान के प्रसार का विरोध इस सीमा तक किया, कि यूरोप में यह माना जाने लगा है कि धर्म विज्ञान का शत्रु है और विज्ञान धर्म की आधारशिलाओं का विध्‍वंसक है। जब कि ईश्वर का धर्म सत्य का उन्नायक, विधा तथा विज्ञान का संस्थापक, ज्ञान का आश्रयदाता, मानवजाति का सभ्यताप्रदाता, अस्तित्व के रहस्यों का उद्घाटक, तथा विश्व के दिगन्तों का प्रकाशक होता है। फिर वह ज्ञान का विरोध कैसे कर सकता है। ईश्वर न करे! परमात्मा की दृष्टि में ज्ञान तो, इसके विपरीत, सर्वोच्च मानव सद्गुण और श्रेष्ठतम मानवीय पूर्णता है। ज्ञान का विरोध निरा अज्ञान ही है। जो व्यक्ति ज्ञान तथा विद्या से घृणा करता है, वह इंसान नहीं, बल्कि विचारहीन पशु है। क्योंकि ज्ञान ही प्रकाश, जीवन, आनन्द, पूर्णता और सौन्दर्य है और ज्ञान ही आत्मा को दिव्य देहरी के समीप ले जाता है। मानवीयय जगत का सम्मान और गौरव है वह! वह ईश्वर की सबसे बड़ी देन है। ज्ञान मार्गदर्शन के समान है और अज्ञान त्रुटि का निचोड़ है।

10. सौभाग्यशाली हैं वे जो अपना समय ज्ञान के अनुशीलन में व्यतीत करते हैं, जो ब्रह्माण्ड के रहस्यों के अनावरण में और सत्य के सतर्क अनुसंधान में जीवनयापन करते हैं! और धिक्कार है उन्हें, जो अपने अज्ञान में ही संतुष्ट हैं, जिनको विचारहीन अनुकरण में ही आनन्द आता है, जो अज्ञान और बेसुध या प्रमाद के रसातल में पड़े हैं और इस प्रकार जिन्होंने अपने जीवन नष्ट कर डाले हैं।

**35**

**स्वतंत्र इच्छा और प्रारब्ध**

1. प्रश्न: किसी व्यक्ति द्वारा सम्पन्न किया गया कार्य क्या ईश्वर की जानकारी का विषय बनता है, और नियति की “संरक्षित पाती” में दर्ज होता है? क्या उसका प्रतिरोध करना सम्भव है?

2. उत्तर: किसी वस्तु का ज्ञान उसकी उपस्थिति का हेतु नहीं होता, क्योंकि ईश्वर के मूलभूत ज्ञान में, वस्तुओं के अस्तित्व में आने के पहले और उसके बाद भी, उनकी वास्तविकताओं का ज्ञान सम्मिलित रहता है, लेकिन यह उनके अस्तित्व का निमित्त नहीं होता है। यह ईश्वर की परिपूर्णता की एक अभिव्यक्ति है।

3. दिव्य प्रकटीकरण के माध्यम से जो उद्घोषणाएँ, तौरेत के प्रतिज्ञाबद्ध ईशदूत के आगमन के सम्बन्ध में, ईशदूतों से निस्सृत हुई, ये भी, उसी प्रकार, ईसा के आविर्भाव का हेतु नहीं थीं। लेकिन आने वाले दिनों के गुप्त रहस्य ईशदूतों को प्रकट किए गये। इस तरह वे भावी घटनाओं से परिचित हुए और क्रमशः उनकी घोषणा की। यह ज्ञान तथा प्रकटीकरण इन घटनाओं की उपस्थिति या उनके होने के कारण नहीं थे। उदाहरण के लिए, इस रात प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि सूरज सात घण्टे में निकलेगा, किन्तु सूर्य की उपस्थिति और उदय का कारण यह सामान्य ज्ञान नहीं है।

4. इसी प्रकार, सापेक्ष जगत का ईश्वर का ज्ञान चीजों के स्वरूप को जन्म नहीं देता है। बल्कि, वह ज्ञान, भूत, भविष्य और वर्तमान के विभेदों से मुक्त है। वह ज्ञान सभी चीजों के कार्यान्वयन का निमित्त बने बगैर उनके कार्यान्वयन के साथ एकरूप रहता है।

5. इसी तरह, धर्मग्रन्थों में किसी बात का उल्लेख और अभिलेख उसके अस्तित्व का कारण नहीं है। ईश्वर के देवदूत दिव्य प्रकटीकरण के जरिए इस तथ्य से अवगत होते हैं कि अवश्यंभावी घटनाएँ घटित होंगी। उदाहरण के लिए, दैवीय प्रकाशना के माध्यम से वे जान गये कि ईसा शहीद होंगे, जिसकी उन्होंने क्रमशः घोषणा की। अब प्रश्न यह है कि क्या उनका ज्ञान और जानकारी ही ईसा की शहादत का कारण बनीं? नहीं, बल्कि यह ज्ञान उनकी पूर्णता की एक पहचान है। यह उनकी शहादत का कारण नहीं है।

6. खगोलीय गणनाओं के आधार पर गणितज्ञ यह निर्धारित करते हैं कि एक निश्चित समय पर सूर्य या चन्द्र ग्रहण घटित होगा। यह भविष्य कथन निश्चय ही ग्रहण का कारण नहीं होता है। यह निस्संदेह मात्र साम्यानुमान है, सटीक रूपक नहीं।

**भाग 3**

**ईश्‍वरावतारों की शक्तियाँ एवं दशाएँ**

**36**

**पाँच प्रकार की चेतना**

1. यह जानो कि चेतना सामान्यतः पाँच प्रकार की है। पहली है वानस्पतिक चेतना।110 यह वह शक्ति है जो परमोच्च प्रभु के विवेक तथा आदेश के अनुसार तत्वों के संयोजन तथा मिश्रण से उत्पन्न होती है। अन्य सृजित वस्तुओं के साथ उन तत्वों के पारस्परिक क्रियाओं तथा उन पर उनके प्रभाव और अन्तःसम्बन्धों से यह शक्ति जन्म लेती है। जब ये घटक और तत्व अलग हो जाते हैं तो विकास की मिली-जुली शक्ति का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार, एक ऐसा उदाहरण बिजली का है, जो कुछ संघटक तत्वों के संयोजन का परिणाम होती है। जैसे ही इन तत्वों को पृथक करते हैं, विद्युत शक्ति भी तत्काल बिखर कर समाप्त हो जाती है। वानस्पतिक चेतना ऐसी ही है।

2. इसके पश्चात पशु चेतना है। यह भी तत्वों के मिश्रण से, उनको एक ही संयोजन में मिलाने पर, उत्पन्न होती है। यह संयोजन अधिक सम्पूर्ण होता है और सर्वशक्तिमान् प्रभु के आदेश से जब वह मिश्रण की पूर्णतर श्रेणी में पहुंचता है तो इन्द्रियों की संवेदन-शक्ति से युक्त पशु चेतना अस्तित्व में आती है। यह शक्ति इन्द्रियगम्य यथार्थता का बोध करती है, उनका, जिन्हें देखा, सुना, चखा, सूंघा और छुआ जा सकता है। इन संयोजित तत्वों को विलग तथा विघटित करने के बाद इस चेतना का अस्तित्व स्वाभाविक रूप से समाप्त हो जाता है। यह आप के सामने रखे इस दीपक की भाँति होता है। तेल, बत्ती तथा लौ एकत्र होने पर प्रकाश उत्पन्न होता है, लेकिन तेल खत्म होने, बत्ती समाप्त हो जाने और संघटक तत्वों के अलग होने पर प्रकाश भी बुझ कर समाप्त हो जाता है।

3. मानव चेतना को लें, तो वह दर्पण और सूर्य के सदृश है। अर्थात मानवीय देह जो तत्वों से मिल कर बनी है, संयोजन तथा मिश्रण का सर्वाधिक पूर्ण स्वरूप, सबसे सुदृढ़ सुगठन, सर्वाधिक श्रेष्ठ संयोजन, और समस्त अस्तित्वधारी वस्तुओं में सर्वाधिक परिपूर्ण हैं। यह पशु चेतना के जरिए उत्पन्न तथा विकसित होता है। इस परिपूर्ण शरीर की तुलना दर्पण से और मानव चेतना की तुलना सूर्य से की जा सकती है। कांच टूटने या दर्पण के नष्ट हो जाने से सूर्य से निस्सिरत होती शोभा की कोई हानि नहीं होती है, वह अबाध रूप से विद्यमान रहती है।

4. यह चेतना आविष्कार शक्ति है जिसमें सभी वस्तुएँ सम्मिलित हैं। सभी अद्भुत चमत्कार, समस्त शिल्प और अन्वेषण, सारे महत् कार्य और महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाएँ जिससे आप अवगत हैं, इसी चेतना के उद्घाटन और उसकी आध्यात्मिक शक्ति से, अदृश्य जगत से दृश्य तल पर लाई गई उपलब्धियाँ हैं। इस तरह यह चेतना धरती पर रहती है और अनुसंधान आसमानों में करती है और ज्ञात तथा दृश्य यथार्थ से उसे निकालती है जो अज्ञात है। उदाहरण के लिए, मनुष्य पृथ्वी के इस गोलार्ध में है, लेकिन विचारशक्ति के बल से वह खोजता है, जैसे कोलम्बस ने एक अन्य गोलार्ध अमेरिका की खोज की, जो तब अज्ञात था। मनुष्य के शरीर में भार है, लेकिन अपने खोजे हुए वाहनों की सहायता से वह आकाश में उड़ता है। उसकी गति मन्द है, परन्तु स्वनिर्मित यंत्रों की सहायता से वह सारे पूर्व और पश्चिम की यात्रा तेजी से करता है। संक्षेप में, इस शक्ति के अन्तर्गत सभी वस्तुएँ आती हैं।

5. परन्तु इस मानव चेतना के दो पक्ष हैं: एक दैवीय और एक आसुरी, अर्थात, यह चेतना परम पूर्णत्व और परम अभाव दोनों में समर्थ है। यदि वह सद्गुणों को अर्जित करे तो सभी चीजों में श्रेष्ठतम हो जाती है और यदि अवगुणों को धारण करे तो सर्वाधिक निकृष्ट बन जाती है।

6. अब चेतना की चौथी श्रेणी के सम्बन्ध में, यह लोकोत्तर चेतना है, जो आस्था और सर्वदयामय की उमड़ती कृपा की चेतना है। यह चेतना ‘पावन चेतना’ के श्वांसोच्छ्वास से अग्रसर होती है, और ईश्वर से उत्पन्न एक शक्ति के माध्यम से शाश्वत जीवन का हेतु बन जाती है। यही वह शक्ति है जो सांसारिक आत्मा को दैवीय और अपूर्ण मनुष्य को पूर्ण बनाती है। यह अपवित्र को पवित्र और मूक को वाचाल बना देती है, वासना और कामना के बंधुआ दासों को निर्मल कर देती है और अज्ञानी पर ज्ञान की वर्षा करती है।

7. चेतना की पाँचवी कोटि है ‘पावन चेतना’। यह परमात्मा और उनकी सृष्टि के बीच का माध्यम है। यह सूर्य की ओर उन्मुख दर्पण के समान है। जिस प्रकार कोई स्वच्छ दर्पण सूर्य-रश्मियों को ग्रहण करके उसके अनुदान को दूसरों पर परावर्तित करता है, ठीक उसी प्रकार ‘पावन चेतना’ भी है, जो पावनता के प्रकाश का माध्यम है। इस प्रकाश को वह सत्य रूपी सूर्य से निर्मल हो चुकी आत्माओं तक ले जाती है। यह ‘चेतना’ समस्त दिव्य पूर्णताओं से सज्जित है। जब-जब वह प्रकट होती है तो संसार को पुनर्जीवन प्राप्त होता है, एक नए-चक्र का प्रारम्भ होता है, और मानवता की काया एक नया परिधान धारण करती है। यह चेतना बसंत के समान है। जब वह आता है, तो संसार एक दशा से दूसरी दशा में पहुँच जाता है। बसंतकाल आने पर धरती, खेत और मैदान हरे-भरे हो जाते हैं, सभी प्रकार के पुष्प और सुवासित औषधीय पौधे उग आते हैं, वृक्ष नवजीवन से सम्पन्न हो जाते हैं, उत्तम फल उत्पन्न होते हैं और एक नवीन चक्र का उद्घाटन होता है।

8. ऐसा ही पावन चेतना के व्यक्त होने पर होता है। वह जब कभी प्रकट होती है तो मानव जगत को नवजीवन से सम्पन्न करती है और मानवीय तत्वों को नई चेतना प्रदान करती है। सम्पूर्ण अस्तित्व जगत को वह एक शानदार सज-धज से मण्डित करती है, अज्ञान का अंधकार दूर करती है, तथा मानवीय पूर्णताओं के प्रकाश को देदीप्यमान बनाकर चमकती है। इसी शक्ति से ईसामसीह ने इस चक्र को नवीनता प्रदान की, जहाँ पर दिव्य बासंती काल ने परम ओजस्विता तथा मनोहरता से युक्त अपना तम्बू मानवता के क्षेत्र में गाड़ा था और अपने जीवन प्रदायक समीरों से प्रकाशित आत्माओं की संवेदनाओं को सुवासित किया था।

9. इसी प्रकार से बहाउल्लाह का आगमन एक नया बासन्ती काल था। पावनता की मधुमय सुरभियों के साथ, शाश्वत जीवन के देवदल के साथ और दिव्य जगत से उत्पन्न एक शक्ति के साथ उसका उदय हुआ। विश्व के मध्यतम केन्द्र में उन्होंने ईश्वर की प्रभुसत्ता का सिंहासन प्रतिष्ठापित किया और, पावन चेतना की शक्ति से आत्माओं में नये प्राण फूंके तथा एक नए चक्र का प्रवर्तन किया।

**37**

**ईश्‍वर तथा उसके अवतारों में सम्बन्ध**

1. प्रश्न: दिव्यता की वास्तविकता क्या है और ‘भव्य गरिमामय उद्गमस्थलों’ तथा ‘सर्वदयामय’ के प्रकाश के ‘उदयस्थलों’ से उसका कैसा सम्बन्ध है?

2. उत्तर: यह जान लो कि दिव्यता की यथार्थता और दिव्य ‘सत्व’ की प्रकृति, अनिवर्चनीय निर्मलता और परम पावनता है। अर्थात् वह प्रत्येक स्तुति से परे, अत्यन्त निर्मल और उदात्त है। सर्वोच्च कोटि के अस्तित्वों पर आरोपित समस्त गुण-धर्म इस स्थान के विचार से कल्पना मात्र हैं। उस ‘अदृश्य’ एवं ‘अगम्य’ को कदापि जाना नहीं जा सकता। उस परम ‘सत्व’ को कभी बतलाया नहीं जा सकता। कारण, कि वह दिव्य ‘सत्व’ एक सर्वव्यापक तत्व है और सभी वस्तुएँ उससे परिवेष्ठित हैं। वह सर्वव्यापक निश्चय ही उससे महत्तर ही होगा जो परिवेष्ठित है और इसीलिए जो परिवेष्ठित है वह किसी भी तरह सर्वव्यापक को न तो खोज सकता है और न उसके मर्म को ही समझ सकता है। मानवीयय मन-मस्तिष्क कितना ही अधिक विकसित हो जाएँ, भले ही उच्चतम कोटि की मानवीयय बोधक्षमता साध्य कर लें, किन्तु पराकाष्ठा की सीमा तक उन्नत यह बोधशक्ति, ईश्वरीय वृत्तियों तथा चिह्नों के दर्शन सृष्टि जगत में ही कर पाएगी, दिव्यता के क्षेत्र में नहीं। क्योंकि, सर्वमहिमा प्रभु का मर्म और उसके सहज गुण निर्मलता की अगम्य ऊँचाइयों पर प्रतिष्ठापित हैं, और मानवीय मनःशक्ति तथा प्रज्ञा को उस स्थान का मार्ग कभी नहीं मिलेगा। “मार्ग बंद है, और सारी खोज अस्वीकृत।”111

3. यह स्पष्ट है कि मनुष्य जो कुछ समझता है वह उसके अस्तित्व का ही नतीजा है, और मनुष्य सर्वदयामय का ही एक प्रतीक है। तब कोई प्रतीक रूपी निष्कर्ष उस प्रतीक के सृजनकर्ता को अपने ज्ञान की परिधि में कैसे घेर सकता है? अर्थात् मानवीय समझ जो मनुष्य के अस्तित्व का फल है, ईश्वर को कैसे समझ सकती है? इस प्रकार दिव्यता की वास्तविकता समस्त ज्ञान-बोध से गोपनीय रखी गई है और सभी मनुष्यों के मन-मस्तिष्कों से छिपी हुई है और उस अवस्थान तक ऊपर जाना किसी भी तरह सम्भव नहीं है।

4 हम देखते हैं कि हर निम्न वस्तु अपने से उच्चतर वस्तु की वास्तविकता को समझ पाने में अक्षम है। इस प्रकार पत्थर, मिट्टी, और वृक्ष क्रमशः कितना ही अधिक विकास कर लें, वे मनुष्य के यथार्थ को कभी नहीं समझ सकते। वे दृष्टि, श्रवण या अन्य इन्द्रियों की शक्तियों की कल्पना भी नहीं कर सकते, जब कि मिट्टी-पत्थर आदि और मनुष्य समान रूप से सृजित चीजें हैं। तब यह मनुष्य, एक निरीह प्राणी, सृष्टा के निर्मल सार-सत्व की वास्तविकता को कैसे समझ सकता है? कोई मानवीय प्रज्ञा इस स्थान तक नहीं पहुँच सकती, कोई वाणी उसकी सत्यता का रहस्योद्घाटन नहीं कर सकती और कोई संकेत उसके रहस्य को संकेतित नहीं कर सकता। उस निर्मलता के जगत से धूलकण का भला क्या लेना-देना है, और ससीम मस्तिष्क तथा उस असीम क्षेत्र विस्तार के बीच भला कौन-सा सम्बन्ध हो सकता है? बुद्धि उसे समझने में असमर्थ है और आत्मा जब उसके तत्ववर्णन का प्रयास करती है तो किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाती है। “कोई दृश्य उसे अपने में समा नहीं सकता, लेकिन वह समस्त दृश्य में समाया है और वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, सर्वप्रज्ञ है।”112

5. इस प्रकार, इस सम्बन्ध में, प्रत्येक कथन और प्रत्येक स्पष्टीकरण अधूरा है, प्रत्येक वर्णन और लक्षणों का चित्रण अयोग्य है, प्रत्येक अवधारणा निराधार है, और उसकी गहनताओं के चिन्तन का हर प्रयास निरर्थक है। फिर भी, उन सारतत्वों के भी सारतत्व, उन सत्यों के सत्य, उन रहस्यों के रहस्य के वास्ते, इस अस्तित्वमय जगत में प्रदीप्त प्रतीक, देदीप्यमान चिह्न, अभिव्यक्तियाँ एवं आविर्भाव हैं। उन देदीप्यताओं के ‘उद्गमस्थल,’ उन प्रकटीकरणों के ‘उदयस्थल’ और उन अभिव्यक्तियों के ‘उदयबिन्दु’ हैं। वे पावनता के ‘प्रतिनिधि’, वे सार्वभौम ‘सत्ताएँ’ और दिव्य ‘प्राणी’ जो, ईश्वरत्व के निर्मल तत्व के सच्चे दर्पण हैं। उस अद्वितीय सत्य परमेश्वर की सकल पूर्णताएँ, अनुग्रह तथा ऐश्वर्य उसके पूत-पावन अवतारों की सत्ताओं में स्पष्टतया उसी तरह दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे स्वच्छ तथा बेदाग दर्पण में सूर्य का प्रकाश अपनी पूर्णताओं और अनुग्रहों के साथ पूरी तरह प्रतिबिम्बित होता है और यदि, यह कहा जाये कि दर्पण सूर्य के ही साक्षात स्वरूप, तथा विश्व के दिवानक्षत्र के उदयस्थल है, तो इसका निहित अर्थ यह नहीं है कि सूर्य अपनी निर्मलता की ऊँचाई से उतर आया है, या दर्पण के अन्दर साकार हो गया है, अथवा वह असीम सत्ता इस दृश्य तल पर सीमाबद्ध हो गई है। ईश्वर न करे! मानवीयकरणवादियों का विश्वास है यह! नहीं, ये सारे बखान, स्तुति तथा गुणगान से पूर्ण सारी अभिव्यक्तियाँ इन पवित्र अवतारों के सन्दर्भ में ही होती हैं, अर्थात् ईश्वर के निमित्त हमारा प्रत्येक कथन, स्तुति, नाम या गुणगान अवतारों पर ही लागू होता है। क्योंकि किसी आत्मा ने ईश्वरीय सारसत्व की वास्तविकता की कभी थाह नहीं पायी है कि वह उसकी सूचना दे पाती, उसका वर्णन कर पाती या उसका गुणगान और महिमामण्डन करने में समर्थ हो सकती। अतः ईश्वर के नामों, गुणों तथा पूर्णताओं के विषय में मानवीय सत्ता जो कुछ जानती, खोजती और समझती है उसका सम्बन्ध इन्हीं पवित्र अवतारों से होता है, किसी अन्य से नहीं। “मार्ग विच्छेदित है, और खोज अस्वीकृत।”

6. फिर भी हम ईश्वरीय तत्व पर कुछ नामों तथा गुणों का आरोपण करते हैं और उसकी प्रशंसा में कहते हैं कि वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वदृष्टा, प्रभुसत्तासम्पन्न, सबकी सुनने वाला और अखण्ड जीवन है। इन नामों तथा गुणों का कथन करके हम ईश्वर की पूर्णताओं की पुष्टि नहीं करते हैं। यह गुणगान मात्र यह अस्वीकारोक्ति होती है कि उसमें किसी प्रकार की अपूर्णता हैं।

7. जब हम इस सापेक्ष जगत का निरीक्षण करते हैं, तो देखते हैं कि अज्ञान अपूर्णता और ज्ञान पूर्णता है। तब हम कहते हैं कि निर्मल ईश्वरीय तत्व सर्वज्ञ है। निर्बलता अपूर्णता है, और शक्ति पूर्णता है। अतः हम कहते हैं कि निर्मल दैवीय तत्व सर्वशक्तिमान है। ऐसा नहीं है कि हम उसके ज्ञान, उसकी दृष्टि, उसकी श्रवणशक्ति, उसकी अधिकार सत्ता, या उसके जीवन को समझ सकते हैं, जैसाकि वे अपने आप में हैं। यह सुनिश्चित रूप से हमारी समझ से परे हैं। ईश्वर के सारभूत नाम तथा गुण उसके सारतत्व के ही समरूप होते हैं, और उसका सारतत्व बोधमात्र से ऊँचा तथा निर्मल है। अगर मूलभूत गुण सारतत्व से अभिन्न न हों, तो पूर्व-अस्तित्वों की बहुलता हो जाए और तब इसीलिए सारतत्व एवं गुणों के बीच अन्तर दृढ़तापूर्वक स्थापित और पूर्वभावित हो जाएगा। लेकिन इसका निहितार्थ होगा पूर्व-अस्तित्वों की असीमित श्रृंखला, और यह प्रत्यक्ष भ्रान्ति है।

8. निष्कर्ष यह है कि ये सभी नाम, गुण, प्रशस्तियाँ और स्तुतियाँ केवल ईश्वरावतारों के लिए प्रयुक्त हैं और उनके अतिरिक्त जो भी धारणा या अवधारणा हम कर सकते हैं वह निरा भ्रान्तिजाल है, क्योंकि उस अलख और अगम की ओर जाने वाला पथ हमें कभी नहीं मिल सकता है। इसीलिए कहा गया है, “जिसे पहचान लेने का और अपने गूढ़तम शब्दों में व्यक्त कर देने का तुम सब व्यर्थ ही विश्वास करते हो, वह सब, तुम्हारे ही जैसा एक प्राणी मात्र है और तुम्हारे अपने ही स्वत्वों को वापस मिल जाता है।”113

9. यह स्पष्ट है कि यदि हम ईश्वरत्व की धारणा करने का प्रयास करेंगे तो यह धारणा एक परिधि के अन्दर होगी और हमारा मन-मस्तिष्क वह कारक होगा जो यह परिधि खींचेगा - और यह सुनिश्चित है कि जो परिवेष्ठित कर रहा है वह उससे बड़ा है जिसे परिवेष्ठित किया गया है! इस प्रकार, यह निष्कर्ष निकलता है, कि पवित्र ईश्वरावतारों की यथार्थता के अतिरिक्त, ईश्वर की वास्तविकता के सम्बन्ध में हमारी कोई भी धारणा महज भ्रम होगा, क्योंकि उस दिव्य तत्व तक पहुंचने का कोई साधन नहीं है जो मानवीय प्रज्ञा की पहुंच से पूर्णतया अतीत है।

10. अब विचार कीजिए कि कैसे इस संसार के जनसमुदाय अपनी ही व्यर्थ कल्पनाओं की परिक्रमा करते हुए अपने ही विचारों तथा मनोरथों की प्रतिमाओं की पूजा कर रहे हैं, और जो वे कर रहे हैं उसकी तनिक भी उन्हें खबर तक नहीं है। इन निरर्थक कल्पनाओं को ही वे वह ‘यथार्थता’ मान बैठे हैं जो सभी बोध से ऊपर निर्मल और प्रत्येक संकेत से परे उदात्त है। अपने आप को वे ‘दैवीय एकता’ के प्रस्तावक और दूसरों को मूर्तिपूजक मानते हैं। फिर भी, मूर्तियों में कम-से-कम खनिज अस्तित्व की मौजूदगी तो है, जबकि मानवीय विचारों तथा कल्पनाओं की मूर्तियाँ विशुद्ध मायाजाल ही हैं, क्योंकि इन मूर्तियों के पास पत्थरों तक का अस्तित्व भी नहीं है। “भलीभाँति सावधान रहो, हे अन्तर्दृष्टि वाले जनों।”114

11. यह समझ लो कि पूर्णता की सहज वृत्तियाँ, दैवीय अनुग्रह के निस्सरण, तथा दैवीय प्रकाशना की ज्योतिर्मय रश्मियाँ सभी ईश्वरावतारों में देदीप्यमान हो चमकती हैं, किन्तु सर्वग्राही ‘ईश-शब्द’ ईसा, तथा ‘उसका परम महान नाम’ बहाउल्लाह ऐसी प्रकाशना लेकर आविर्भूत हुए हैं जो समग्र धारणा से परे हैं। कारण, कि वे पूर्ववर्ती अवतारों की सभी परिपूर्णताओं से ही सम्पन्न नहीं है, बल्कि वे उनसे आगे ऐसी पूर्णताएँ भी दर्शाते हैं जो सभी दूसरे अवतारों को उनके अनुयायियों के समान बनाती हैं। इस तरह, इजरायल के ईशदूत दैवीय प्रकाशना के प्रापक थे और वही ईसा भी थे, लेकिन जो ‘ईश-शब्द’ था उसकी प्रकाशना और एक ईसाइया एक जरमिया और एक एलिजा की अन्तः प्रेरणा के बीच कितना अन्तर है।

12. विचार कीजिए कि प्रकाश ईथर के कम्पनों में होता है, जिनसे नेत्र के स्नायु उत्प्रेरित होते हैं और दृष्टि उत्पन्न होती है। अब, ईथर के कम्पन यद्यपि दीपक और सूर्य दोनों में मौजूद हैं, फिर भी सूर्य के प्रकाश और तारों या दीपक के प्रकाश में कितना अन्तर है।

13. मानव चेतना के पास भ्रूणावस्था में कुछ चिह्न तथा अभिव्यक्तियाँ रहती हैं और शैशवास्था, किशोरावस्था, तथा वयस्कावस्था में और अधिक अच्छाइयाँ तथा अभिव्यक्तियाँ उभरती हैं। चेतना एक ही है, फिर भी भ्रूणावस्था में दृष्टि तथा श्रवण शक्तियों का अभाव होता है, जबकि किशोरावस्था तथा वयस्कावस्था की दशाओं में वह अत्यधिक कांति वं भव्यता से मंडित दिखाई देती हैं। इसी प्रकार, अपने विकास के आरम्भ में बीज एक पत्ती मात्र दिखाई देता है जो वानस्पतिक चेतना के उदय का स्थान है। लेकिन फलागमन की अवस्था में वही चेतना, अर्थात सम्वर्द्धन शक्ति, अपनी प्रचुर पूर्णता के रूप में दृष्टिगोचर होती है। फिर भी, उस पत्ती का मुकाम फल के मुकाम से कितना दूर है। कारण यह कि, समय आने पर फल से सौ हजार पत्तियाँ प्रकट होंगी, यद्यपि वे सब उसी वानस्पतिक चेतना के जरिए उत्पन्न और विकसित होंगी। अब तनिक ठहर कर उस अन्तर पर विचार कीजिए जो, एक ओर ईसामसीह की पूर्णताओं तथा सद्गुणों और बहाउल्लाह के वैभवों तथा दीप्तियों और दूसरी ओर इजकील तथा सैमुएल जैसे ‘इजरायल भवन’ के ईशदूतों के सद्गुणों के बीच है। ये सभी दैवीय प्रकाशना के प्राप्तकर्ता थे, लेकिन उनके बीच अपार दूरी है।

**38**

**दिव्य अवतारों की तीन स्थितियाँ**

1. यह समझ लो कि ईश्वरावतारों में असीम विशेषताएँ और पूर्णताएँ होती हैं, लेकिन उनकी केवल तीन स्थितियाँ होती हैं। पहली है: भौतिक स्थिति, दूसरी मानवीय स्थिति जो बुद्धिसंगत आत्मा का स्थान है और तीसरा है दिव्य प्राकट्य तथा दैवीय आभा की स्थिति।

2. भौतिक स्थिति एक कालगत उत्पत्ति है, क्योंकि वह भौतिक तत्वों का संयोजन है और प्रत्येक संयोजन अन्तोगत्वा विघटित ही होना है। यह वस्तुतः असम्भव ही है कि संयोजन के बाद बिखराब न हो।

3. दूसरी स्थिति बुद्धिसंगत आत्मा की है, जो मानवीय वास्तविकता है। इसका केवल आदि है और ईश्वरावतार सामान्य रूप से समस्त मानवजाति को इसमें साझीदार बनाते हैं।

4. तीसरा स्थान दिव्य प्राकट्य और लोकोत्तर भव्यताओं की स्थिति है, जो ‘ईश-शब्द’ ‘चिरस्थायी मनोहरता’ और ‘पवित्र चेतना’ है। इस स्थिति का न आदि है और न अंत, क्योंकि आद्यन्त का सम्बन्ध सापेक्ष जगत से है, ईश्वरीय जगत से नहीं। ईश्वर के लिए आदि और अन्त एक समान हैं। इसी प्रकार, दिनों, सप्ताहों, महीनों और बरसों की, कल और आज की गणना पृथ्वी के सम्बन्ध में बनी है, परन्तु सूर्य में ऐसी चीजें अज्ञात हैं। वहाँ न तो रात्रिकाल है, न आज का दिन और न आगत काल, न तो महीने है, और न वर्ष - सब बराबर है। इसी प्रकार, ईश-शब्द इन सभी दशाओं से ऊपर अत्यन्त निर्मल और सापेक्ष जगत में सम्भवतया वर्तमान प्रत्येक विधान, प्रतिबंध तथा सीमायन से परे परम उदात्त है।

5. यह जान लो कि मानवात्माएँ धरती पर असंख्य युगों और कालचक्रों से मौजूद हैं, तथापि मानवात्मा की मौलिक उत्पत्ति की गई है। और यह चूंकि ईश्वर का एक चिह्न है, अतः एक बार अस्तित्व में आने के बाद से वह चिरस्थायी है। मानव चेतना का आदि तो है पर अन्त नहीं है। यह सदा-सर्वदा रहती है। इसी प्रकार, धरती पर पाई जाने वाली विभिन्न प्रजातियो की एक कालगत उत्पत्ति है, क्योंकि यह सभी मानते हैं कि एक समय था जब धरा-तल पर इन प्रजातियों का कहीं अस्तित्व नहीं था और एक समय तो सचमुच स्वयं धरती का ही वजूद नहीं था। लेकिन अस्तित्व का संसार हमेशा रहा है, क्योंकि यह पृथ्वी इस गोलक तक ही सीमित नहीं है।

6. हमारा तात्पर्य यह है कि मानवात्माओं की यद्यपि मौलिक उत्पत्ति की गई है, तथापि वे अविनाशी, चिरस्थायी और सर्वकालिक हैं। वस्तुओं का यह संसार, मनुष्य के सापेक्ष, अपूर्णता का संसार है और मनुष्य-जगत वस्तु-जगत के सापेक्ष पूर्णता का जगत है। पूर्णता से रहित वस्तुएँ जब पूर्णता के चरम पर पहुंचती हैं तो वे चिरस्थायी हो जाती हैं। एक उदाहरण के रूप में यह बात कही गई है, वास्तविक उद्देश्य समझने का प्रयास करें।

7. अब ईशदूत पद की यथार्थता के सम्बन्ध में, जो ईश-शब्द और परिपूर्ण दैवीय प्रकटन की स्थिति होती है। सूर्य की दीप्ति के समान इसकी ज्योति भिन्न प्रकार की होती है, यद्यपि इसका आदि और अन्त नहीं होता। उदाहरण के लिए, ईसा रूपी प्रतीक पर अत्यधिक भव्यता एवं कान्ति के साथ इसका उदयन हुआ और यह शाश्वत और चिरस्थायी है। देखो कितने विश्व-विजयी राजे-महाराजे, कितने बुद्धिकुशल मंत्री और शासक आये और चले गये, सब के सब गुमनाम होते रहे, जबकि ईसामसीह के समीरण आज भी प्रवाहमान हैं, उनका आह्वान आज भी बुलन्द हो रहा है, उनकी ज्योति अभी तक चमक रही है, उनकी पताका अभी भी फहरा रही है, उनकी सेनाएँ आज भी लड़ रही हैं, उनका मधुर स्वर अभी तक गुंजरित हो रहा है, उनके बादल आज भी जीवनदायी बौछारें बरसा रहे हैं, उनकी बिजली अभी तक कौंध रही है, उनका सुयश आज भी उज्‍ज्‍वल एवं निर्विवाद है, उनकी भव्यता आज भी कान्तिमय और तेजपुंज के रूप में है और प्रत्येक उस आत्मा के लिए भी यही सत्य है जो उनकी छत्रछाया में निवास करती तथा उनके प्रकाश में सहभागी होती है।

8. अतः यह स्पष्ट है कि ईश्वरावतारों की तीन स्थितियाँ होती हैं - भौतिक स्थिति, बुद्धिसंगत आत्मा की स्थिति और दिव्य प्रकटन तथा दैवीय आभा का स्थान। दैहिक स्थिति का तो नष्ट होना अनिवार्य है। जहाँ तक बुद्धिसंगत आत्मा की बात है तो उसके एक आदि होने के बावजूद अंत नहीं है और वह सर्वकालिक जीवन से सम्पन्न है। लेकिन उस पवित्र यथार्थता के प्रसंग में जिसके बारे में ईसामसीह कहते हैं कि “पिता पुत्र में है,”115 तथ्य यह है कि उसका न तो आदि है और न अन्त। उसके “आदि” से तात्पर्य मात्र उनके अपने स्थान के प्रकाशन से है। इस प्रकार समतुल्यता के रूप में, वह अपनी मौन की समता निद्रा से करते हैं। कोई व्यक्ति जो मौन है, सोये हुए के समान होता है और जब वह बोलता है तो मानो वह जाग गया है।116 फिर भी वह निद्रालीन और जाग्रत व्यक्ति एक और वही व्यक्ति है। उसकी पद्गत स्थिति में - उसकी उच्चता, महत्ता, आन्तरिक वास्तविकता, या उसकी सहज प्रकृति में - कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। मात्र इसी कारण, मौन दशा की समता निद्रा से और अभिव्यक्ति की दशा की समता जाग्रतावस्था से की गई है। सोना या जागना, मनुष्य एक ही है - निद्रा सामान्य रूप से एक सम्भव दशा है और जागरण दूसरी। इसी कारण मौन की अवधि की तुलना निद्रा से और व्यक्त रहने तथा मार्गदर्शन देने की अवधि की तुलना जाग्रत अवस्था से की जाती है।

9. गॉस्‍पल में कहा गया है, “आरम्भ में शब्द था और शब्द ईश्वर से संयुक्त था।” तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि ईसा को उनका मसीही स्थान तथा परिपूर्णताएँ उनको बपतिस्मा दिए जाने के समय उपलब्ध नहीं हुए। ऐसा तभी हुआ जब ‘पावन चेतना’ एक फाख्ता पक्षी के रूप में उन पर उतरी। किन्तु ‘ईश-शब्द’ तो निर्मलता के परमोदात्त शिखरों पर सदा से रहा है, और सर्वदा रहेगा।

**39**

**ईश्‍वरावतारों की मानवीय तथा दिव्य स्थितियाँ**

1. हम पीछे कह आए हैं कि ईश्वरावतारों की तीन स्थितियाँ होतीं हैं - पहली, भौतिक सत्ता, जिसका सम्बन्ध मानव शरीर से हैं, दूसरी व्यष्टिगत सत्ता अर्थात बुद्धिसंगत आत्मा और तीसरी, ईश्वरीय प्रकटन जिसमें दिव्य पूर्णताएँ सम्मिलित हैं और जो विश्व के जीवन, आत्माओं की शिक्षा, लोगों के मार्गदर्शन, और सम्पूर्ण सृष्टि के आत्मज्ञान का स्रोत है।

2. दैहिक स्थिति की प्रकृति मानवीय है और देह विघटन का विषय है, क्योंकि यह मौलिक संयोजन होती है, जो भौतिक तत्वों से निर्मित है; अतः, उसका विघटन और बिखराव अवश्मभावी है।

3. परन्तु उस सर्वदयामय के प्राकट्यों की व्यक्तिगत सत्ता एक पवित्र वास्तविकता है और यह इसलिए कि अपने सारत्व तथा सहज गुणों में यह सभी सृजित वस्तुओं से श्रेष्ठ होती है। यह सूर्य के समान होती है, जो अपने अन्तर्निहित स्वभाव के कारण अपरिहार्य रूप से प्रकाश उत्पन्न करता है और किसी अन्य ग्रह से उसकी तुलना नहीं की जा सकती। उदाहरणार्थ, सूर्य के संघटक अंगों की चन्द्रमा के अंगों से किसी प्रकार तुलना नहीं की जा सकती। सूर्य का संयोजन तथा संगठन किरणें उत्पन्न करता है, जबकि चन्द्रमा के संरचक अंगों को प्रकाश की उत्पत्ति के बजाय उसके अधिग्रहण की अपेक्षा होती है। ऐसी दूसरी मानवीय सत्ताएँ आत्माएँ होती है, जो चन्द्रमा की भाँति सूर्य से अपना प्रकाश प्राप्त करती हैं, लेकिन वह पवित्र सत्ता स्वयं एवं स्वतः प्रकाशित होती है।

4. तीसरी स्थिति है दिव्य मनोहरता की स्थिति, उस ‘चिर पुरातन’ के सौंदर्य तथा सर्वदा जीवन्त, सर्वसमर्थ प्रभु की ज्योतियों की प्रभा का प्रकटीकरण। यदि सूर्य पिण्ड के द्रव्य को उसके प्रकाश से पृथक् नहीं किया जा सकता, तो उसी प्रकार पवित्र ईश्वरावतारों की वैयक्तिक यथार्थताओं को दैवीय शोभा तथा प्रकटीकरण से अलग नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार पवित्र अवतारों का स्वधाम-आरोहण मात्र अपने तत्व निर्मित शरीरों का परित्याग है। उदाहरण के लिए, उस दीपक का विचार कीजिए जो आले को प्रकाशित करता है। यदि आले को नष्ट कर दिया जाये तो दीपक की किरणें आले पर पड़ना बन्द हो सकती हैं, लेकिन इससे दीपक की देन में कोई व्यवधान नहीं होता है। पवित्र अवतारों का सदा-वर्तमान अनुग्रह भी प्रकाश की ही भाँति होता है। उनकी वैयक्तिक यथार्थताएँ लैम्प के गोल शीशे जैसी और उनके मानव शरीर आले की भाँति होते हैं। आला नष्ट हो जाये, तो दीपक जलता रहता है। ईश्वरावतार अनेक भिन्न-भिन्न दर्पणों के समान होते हैं, क्योंकि प्रत्येक का अपना निजी व्यक्तित्व होता है, लेकिन जो इन दर्पणों में प्रतिबिम्बित होता है वह एक वही सूर्य है। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि ईसा की सत्ता मूसा की सत्ता से भिन्न है।

5. प्रारम्भ से ही वह निर्मल ‘सत्ता’ असंदिग्ध रूप से अस्तित्व के रहस्य से अवगत होती हैं। बाल्यावस्था से ही महानता के चिह्न अवतार में स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसी देनों तथा पूर्णताओं से सम्पन्न होने के बाद भी, वह स्वयं अपने ही स्थान से अनभिज्ञ कैसे रह सकती है?

6. हमने ईश्वरावतारों की तीन स्थितियों का उल्लेख किया। दैहिक अस्तित्व की स्थिति, वैयक्तिक सत्ता की स्थिति, और पूर्ण ईश्वरीय प्रकटन की स्थिति, जिनकी तुलना सूर्य, उसके ताप और उसके प्रकाश से की जा सकती है। दैहिक स्थिति और बुद्धिसंगत आत्मा, अर्थात् चेतना तथा मन, में दूसरे व्यक्ति भी हिस्सेदार होते हैं। अतः जिन लेखांशों में कहा गया है कि “मैं निद्रालीन लेटा था जब ईश्वर के प्रातसमीर मेरे ऊपर से बहे और मुझे नींद से उठाया,”117 वे ईसा के इस कथन के सदृश ही है, “हाड़“ मांस दुःख-दैन्य से भरा है किन्तु चेतना आनन्दोल्लसित होती है,” या “मैं उत्पीड़ित हूँ,” या “मैं सुख से हूँ,” अथवा “मैं कष्ट में हूँ।” ये सभी कथन दैहिक स्थिति को इंगित करते हैं, और वैयक्तिक सत्ता या दैवीय सत्ता के प्रकटन की स्थिति से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। उदाहरण के लिए, विचार करो कि मानव शरीर को हजारों सुख-दुःख हो सकते हैं जिनसे चेतना पूरी तरह अनजान रहती है। यहाँ तक सम्भव है कि शरीर के कुछ अंग पूरी तरह से क्षतिग्रस्त हो जायें, फिर भी मन-मस्तिष्क का सारतत्व उससे अप्रभावित ही रहे। किसी वस्त्र में अनगिनत चीर-फाड़ हो सकते हैं, लेकिन उसका उद्धारक फिर भी निष्कंटक रह सकता है। इस प्रकार, बहाउल्लाह के शब्द, “मैं निद्रालीन लेटा था जब एक प्रातःसमीर मेरे ऊपर से बहा और उसने मुझे मेरी नींद से उठा दिया” शरीर को इंगित करते हैं।

7. ईश्वरीय जगत में भूत, भविष्य और वर्तमान नहीं होते। ये सभी एक हैं। अतः जब ईसा ने कहा, “आरम्भ में शब्द था”118 तो उनका तात्पर्य था कि वह था, है और रहेगा, क्योंकि ईश्वर के संसार में कोई समय नहीं है। काल का प्रवाह प्राणियों पर है, ईश्वर पर नहीं। अतः प्रार्थना में जहाँ ईसा कहते हैं, “पावनकारी हो तेरा नाम,”119 इसका अर्थ है कि तेरा नाम पावन था, है और रहेगा। पुनः कहूँ कि, प्रभात, मध्यान्ह तथा संध्या पृथ्वी से ही सम्बन्धित हैं, किन्तु सूर्य में न तो प्रभात है, न मध्यान्ह, और न सायंकाल ही है।

**40**

**ईश्‍वरावतारों का ज्ञान**

1. प्रश्न: ईश्वरावतारों की शक्तियों पर और विशेष रूप से उनके ज्ञान पर, कौन-सी सीमाएँ लागू होती हैं?

2. उत्तर: ज्ञान दो प्रकार का होता है: अस्तित्वपरक ज्ञान और औपचारिक ज्ञान, अर्थात् सहजानुभूत ज्ञान और संकल्पनात्मक ज्ञान।

3. वस्तुओं के सम्बन्ध में सामान्यतया लोगो का जो ज्ञान है वह परिकल्पना तथा अवलोकन में है, अर्थात या तो बौद्धिक क्षमता से वस्तु की परिकल्पना की जाती है, या उसे देख कर हृदय-दर्पण में एक स्वरूप उत्पन्न होता है। इस ज्ञान का क्षेत्र बहुत सीमित है, क्योंकि यह प्राप्ति और उपलब्धि पर निर्भर है।

4. किन्तु दूसरे प्रकार का ज्ञान जो अस्तित्वपरक या सहजानुभूत ज्ञान है, मनुष्य के ज्ञान जैसा और अपने स्वत्व की जानकारी है।

5. उदाहरण के लिए, मनुष्य के मस्तिष्क तथा चेतना अपनी सभी स्थितियों एवं दशाओं, अपने शरीर के सभी अंगों तथा अवयवों और अपनी सभी शारीरिक संवेदनाओं के साथ ही अपनी आध्यात्मिक शक्तियों, बोधों तथा दशाओं से अवगत होते हैं। यह एक अस्तित्वपरक ज्ञान है जिसके माध्यम से मनुष्य अपनी स्वंय की दशा की अनुभूति करता है। वह उसको अनुभव भी करता है और उसे समझता भी है, क्योंकि चेतना ने शरीर को घेर रखा है और वह उसकी संवेदनाओं तथा शक्तियों से परिचित है। यह ज्ञान प्रयास तथा प्राप्ति का फल नहीं होता। यह अस्तित्व का विषय है और विशुद्ध दैवीय देन है।

6. वे पवित्र वास्तविकतायें, ईश्वर के सार्वभौम अवतार, चूंकि सभी सृजित वस्तुओं को, उनके सारतत्वों तथा सहज वृत्तियों को, अपने में समाहित करती हैं और वे चूंकि सभी अस्तित्वमान यथार्थताओं से श्रेष्ठ और उनके प्रकाशक, तथा सभी वस्तुओं के संज्ञानी होते हैं, परिणामतः उनका ज्ञान अर्जित नहीं, दिव्य होता है - अर्थात् वह एक दैवीय अनुग्रह तथा एक दैवीय अन्वेषण होता है।

7. इस बिन्दु को स्पष्ट करने के लिए हम एक उदाहरण देते है। पृथ्वी के सभी प्राणियों में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है। पशु, वनस्पति तथा खनिज जगतों की विशेषताएँ उसमें पाई जाती है, अर्थात ये सभी श्रेणियाँ उसमें इस प्रकार समाई हुई हैं कि वह उन सभी से पूर्णतया सम्पन्न है। इन सभी स्तरों और स्थितियों का धनी होने से वह उनके रहस्यों से अवगत और उनके अस्तित्व के भेदों से परिचित है। यह मात्र एक उदाहरण है, अनुरूपता नहीं।

8. संक्षेप में, सार्वभौम ईश्वरावतार सभी सृजित प्राणियों के रहस्यों में सन्निहित सत्य से अवगत होते हैं और इस प्रकार वे ऐसे धर्म की स्थापना करते हैं जो मानवजाति की तत्कालीन दशा के अनुरूप और उसी पर आधारित हो। कारण कि, धर्म वस्तुओं की वास्तविकताओं से उत्पन्न अवश्यंभावी सम्बन्धों में होता है। यदि ईश्वरावतार -दैवीय विधान प्रदान वस्तुओं की वास्तविकताओं से अवगत न हो, यदि वह इन वास्तविकताओं से उत्पन्न अपरिहार्य सम्बन्धों को न समझे, तो वह समय की आवश्यकताओं तथा दशाओं के अनुरूप किसी धर्म की स्थापना निश्चित ही नहीं कर सकेगा। ये ईश्वरीय दूत, ये सार्वभौम अवतार कुशल वैद्य के समान होते हैं, प्राणिजगत मनुष्य के शरीर जैसा है और ईश्वरीय धर्म चिकित्सा तथा औषधि हैं। चिकित्सक प्रभावी उपचार कर सके इस उद्देश्य से यह आवश्यक है कि वह रोगी के सभी अंगों और अवयवों से, उसके शरीर गठन और दशा से पूरी तरह परिचित और अवगत हो। उपचार का निर्धारण चिकित्सक वस्तुतः रोग से ही करता है, क्योंकि पहले वह बीमारी की पहचान करता है और उसके बाद निहित कारण की चिकित्सा करता है। जब तक समुचित रोग का निदान न हो जाए, तब तक कोई चिकित्सा या औषधि कैसे निर्धारित की जा सकती है? अतः यह आवश्यक है कि चिकित्सक के रोगों को शारीरिक बनावट, अंगों, उपांगों और दशा का सम्यक् ज्ञान हो, और इसी तरह वह प्रत्येक रोग तथा उसके उपचार से भी भलीभाँति परिचित हो, ताकि वह उपयुक्त औषधि का निर्धारण कर सके।

9. अतः धर्म वस्तुओं की यथार्थता से उत्पन्न अनिवार्य सम्बन्धों में रहता है। ईश्वर के सार्वभौम अवतार सृष्टि के रहस्यों से अवगत होते हैं और इन अपरिहार्य सम्बन्धों की उन्हें पूरी जानकारी होती है और तदनुसार ईश्वर के धर्म के रूप में वे उनकी स्थापना करते हैं।

**41**

**सार्वभौमिक चक्र**

1. प्रश्न: अस्तित्व जगत में घटित होने वाले सार्वभौमिक चक्रों की चर्चा की गई है। कृपया इस विषय की सत्यता स्पष्ट करें।

2. उत्तर: इस अनन्त आकाश में स्थित प्रत्येक ज्योतिर्मय पिण्ड का अपना परिभ्रमण चक्र होता है। यह वह अवधि है जिसमें वह अपनी कक्षा के पूरे परिक्रमा-पथ को पूरा करता है और उसके बाद एक नया चक्र आरम्भ करता है। उदाहरण के लिए, पृथ्वी, 365 दिन, 5 घंटे, 48 मिनट तथा एक भिन्नांश में एक परिक्रमा आरम्भ करती है। इसी प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, चाहे वह प्रकृति जगत से सम्बन्ध में हो या मानव क्षेत्र हो, बड़ी घटनाओं तथा परिणामों के चक्रों से गुजरता है।

3. जब एक चक्र समाप्त होता है तो एक नया चक्र आरम्भ हो जाता है, और वह पिछला चक्र घटित हुई महत्वपूर्ण घटनाओं के कारण स्मृति से पूरी तरह इस प्रकार लुप्त हो जाता है कि उसका कोई उल्लेख या चिह्न शेष नहीं रहता। इस प्रकार, जैसाकि आप जानते हैं, बीस हजार वर्ष पहले का कोई विवरण हमारे पास नहीं है। हमने यद्यपि बुद्धिसंगत तर्कों के जरिए पहले यह सिद्ध किया है कि पृथ्वी पर जीवन अत्यधिक प्राचीन है - एक या दो लाख नहीं, दस या बीस लाख वर्ष पुराना भी नहीं, बल्कि पुरातनकाल से है। और उन पुरातन कालों के चिह्न तथा लेख पूरी तरह मिट गये हैं।

4. इसी प्रकार प्रत्येक ईश्वरावतार का एक चक्र होता है जिसमें उसका धर्म और उसका विधान पूरी मान्यता तथा प्रभाव में रहता है। एक नए अवतार के आगमन से जब उसके चक्र का अन्त होता है, तो अगला नया चक्र आरम्भ होता है। इस प्रकार चक्रों का प्रवर्तन, समापन और नवीकरण तब तक होता रहता है जब तक इस अस्तित्व जगत में एक सार्वभौम चक्र पूरा नहीं हो जाता। इन चक्रों में महत्वपूर्ण घटनाएँ घटित होती हैं जो अतीत के सभी साक्ष्य और चिह्न मिटा देती हैं। तत्पश्चात विश्व में एक नया सार्वभौम चक्र आरम्भ होता है, क्योंकि अस्तित्व के क्षेत्र का कोई आदि या प्रारम्भकाल नहीं है। इस विषय पर हमने प्रमाण और तर्क पहले भी प्रस्तुत किये हैं, और यहाँ उनकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है।120

5. संक्षेप में, हमारा कथन यह है कि अस्तित्व जगत के एक सार्वभौमिक चक्र में एक बहुत विशाल काल विस्तार और अगणित युग एवं कालखण्ड सम्मिलित रहते हैं। इस प्रकार के चक्र में ईश्वरावतार दृश्य जगत में तब तक दमकते हैं, जब तक एक सार्वभौम और सर्वोच्च अवतार आकर विश्व को दैवीय मान्यताओं का प्रमुख केन्द्र नहीं बना देता और अपने प्रकटीकरण के द्वारा उसे परिपक्व अवस्था प्रदान नहीं कर देता है। जिस चक्र का प्रवर्तन वह करता है उसकी कालावधि सचमुच बहुत लम्बी होती है। उस चक्र की अवधि में अन्य अवतार उस सर्वोच्च अवतार की छत्रछाया में आविर्भूत होते हैं और समय की आवश्यकताओं के अनुसार, भौतिक कार्यकलापों तथा आदान-प्रदानों से सम्बन्धित कुछ नियमों का नवीकरण करते हैं। लेकिन ये मध्यवर्ती अवतार उसी सर्वोच्च ईश्वरावतार के संरक्षण में रहते हैं। हम उस चक्र में हैं जिसका आरम्भ आदम से हुआ था, और जिसके सार्वभौम ईश्वरावतार बहाउल्लाह हैं।

**42**

**दैवीय अवतारों की शक्ति तथा पूर्णताएँ**

1. प्रश्न: उन सत्य-सिंहासनों, ईश्वरावतारों की पूर्णताओं तथा शक्तियों का विस्तार कहाँ तक है, और उनके प्रभाव की सीमाएँ क्या हैं?

2. उत्तर: अस्तित्व-जगत अर्थात् भौतिक सृष्टि पर विचार कीजिए। सौर मण्डल अंधकार से घिरा है। उसकी परिधि के अन्दर, सूर्य ही समस्त प्रकाश का केन्द्र है और सौर मण्डल से जुड़े सभी ग्रह उसकी परिक्रमा करते हैं और उसके अनुग्रह के निस्सरणों से प्रकाशित होते हैं। सूर्य जीवन तथा प्रकाश का स्रोत है और सौर प्रणाली के अन्दर की सभी वस्तुओं की उत्पत्ति तथा विकास का कारण है। सूर्य की ऊष्मा यदि थम जाए, तो सौर मण्डल के अन्तर्गत किसी जीवित वस्तु का अस्तित्व बना नहीं रह सकता। सभी वस्तुएँ अंधकारग्रस्त और शून्य हो जाएंगी। अतः यह स्पष्ट रूप से व्यक्त है कि सूर्य समस्त प्रकाश का केन्द्र और सौर प्रणाली के अन्दर सभी वस्तुओं के जीवन का स्रोत है।

3. इसी तरह, पवित्र ईश्वरावतार सत्य के प्रकाश के प्रमुख केन्द्र, गुप्त रहस्यों के मूलस्रोत और दिव्य प्रेम के उद्गारों के उद्गम होते हैं। हृदयों तथा मन-मस्तिष्क के क्षेत्र पर वे अपनी प्रभा प्रक्षेपित करते हैं और चेतना-जगत पर अपनी चिरस्थायी कृपा बरसाते हैं। वे आध्यात्मिक जीवन प्रदान करते हैं, और आन्तरिक सत्यों तथा तात्पर्यों की भव्यता से द्युतिमान होते हैं। विचार जगत की प्रबुद्धता इन्हीं प्रकाश-केन्द्रों तथा रहस्यों के प्रतिनिधि व्याख्याओं से अग्रसर होती है। उन निर्मल महाप्राणजनों की शिक्षा और प्रकटीकरण का अनुग्रह न हो तो, आत्माओं के संसार तथा विचार क्षेत्र में अंधेरा-ही-अंधेरा होगा। रहस्यों के उन प्रकाशकों की विवेकपूर्ण और सच्ची शिक्षाएँ न हों, तो मानव जगत पाशविक प्रवृत्तियों तथा गुणों का अखाड़ा बन जाए, समस्त अस्तित्व लुप्त होती छाया बन जाये और वास्तविक जीवन समाप्त हो जाए। इसीलिए गॉस्‍पल में कहा गया है: “आरम्भ में शब्द था,” अर्थात् वही सम्पूर्ण जीवन का स्रोत हुआ।121

4. अब पृथ्वी के सभी प्राणियों पर सूर्य के व्यापक प्रभाव का विचार करें और देखें कि उसकी निकटता या दूरी को, उसके उदय और अस्त के कौन-से दृष्टिगोचर प्रभाव और प्रतिफल होते हैं ? एक बार शिशिर आता है, तो किसी दूसरे समय बसंत आता है। कभी ग्रीष्म ऋतु होती है तो कभी शीत ऋतु। सूर्य जब भूमध्य रेखा को पार करता है तो, जीवनदायिनी बसंत ऋतु अपनी पूरी शोभा के साथ प्रकट होती है, और जब वह कर्क संक्रान्ति पर पहुंचता है तब फल पूर्ण परिपक्वता प्राप्त करते हैं, अनाज के पौधे तथा वृक्ष अपने उत्पादन देते हैं, तथा पार्थिव वस्तुएँ विपुल सम्वर्द्धन तथा विकास उपलब्ध करती हैं।

5. इसी तरह, तब पवित्र ईश्वरावतार, जो सृष्टि जगत का सूर्य होता है, हृदयों, मनों तथा चेतनाओं के जगत पर अपनी शोभा बिखेरता है, तब एक आध्यात्मिक बसंतकाल आरम्भ होता है और एक नया जीवन अनावृत्त होता है। तब उस अद्वितीय बसंत बहार की शक्ति दिखाई देती है, और उसके अद्भुत उपहारों के दर्शन होते हैं। इसी प्रकार आप देखते हैं कि प्रत्येक ईश्वरावतार के आगमन के साथ, मानव मनों, विचारों तथा चेतनाओं के क्षेत्र में आश्चर्यजनक प्रगति हुई। उदाहरण के लिए, देखिए कि मन-मस्तिष्क तथा विचारों की दुनिया में कितनी प्रगति इस दैवीय युग में उपलब्ध हुई है - और यह तो प्रभात का प्रारम्भ मात्र है। शीघ्र ही आप स्पष्ट देखेंगे कि किस तरह इन नवीन अनुग्रहों और दैवीय शिक्षाओं का सैलाब इस अंधकारमय जगत पर अपने प्रकाश के साथ उमड़ा है और दुखों से बोझिल इस जगत को उसने परमोच्च बैकुण्ठ में रूपान्तरित कर दिया है।

6 यदि हम प्रत्येक ईश्वरावतार के प्रभाव और अनुग्रहों को पूरी तरह समझाएँ, तो बहुत अधिक समय लगेगा। अतः इस विषय की सत्यता को ग्रहण करने के लिए इस पर स्वयं विचार और मनन करें।

**43**

**दो प्रकार के ईशदूत**

1. प्रश्न: सामान्य रूप से ईशतदूत कितने प्रकार के होते हैं?

2. उत्तर: ईशदूत सामान्यतया दो प्रकार के होते हैं। कुछ स्वतंत्र ईशदूत होते हैं जिनका अनुसरण किया जाता है। दूसरे ईशदूत स्वतंत्र नहीं होते और स्वयं अनुगामी होते हैं।

3. किसी ईश्वरीय धर्म का प्रवर्तक और नये धर्म विधान का संस्थापक प्रत्येक ईशदूत स्वतंत्र होता है। ऐसे ईशदूतों के अवतरण पर विश्व एक नया परिधान धारण करता है, एक नए धर्म की स्थापना होती है और एक नई पुस्तक प्रकट की जाती है। ये ईशदूत किसी मध्यस्थ के बिना सीधे ही दैवीय सत्ता से प्रवहमान अनुग्रह प्राप्त करते हैं। इनकी ज्योति सूर्य की ज्योति के समान मौलिक होती है, जैसे सूर्य अपने आप में और अपने आप से ही प्रकाशित होता है, और उसकी ज्योति किसी अन्य नक्षत्र से अर्जित होने के बजाय एक मूलभूत अपेक्षा है। अर्थात् वे चन्द्रमा नहीं, सूर्य के समान होते हैं। दैवीय एकता के प्रभात के ये दिवास्रोत दैवीय अनुग्रह के मूल उद्गम और यथार्थता के सारतत्व के दर्पण होते हैं।

4. दूसरे प्रकार के ईशदूत अनुगामी और प्रसारक होते हैं, क्योंकि उनका स्थान स्वतंत्र नहीं, पराश्रित होता है। वे स्वतंत्र ईशदूतों से दैवीय अनुग्रह प्राप्त करते हैं, और सार्वभौम ईशदूत पद की सत्ता से मार्गदर्शन का प्रकाश चाहते हैं। वे चन्द्रमा के समान होते हैं, जो अपने आप में और अपने आप से प्रकाशित नहीं होता, बल्कि सूर्य से अपना प्रकाश लेता है।

5. जो सार्वभौम ईशदूत स्वतंत्र रूप से प्रकट हुए, उनमें इब्राहीम, मूसा, ईसा, मुहममद, बाब और बहाउल्लाह हैं। दूसरे प्रकार के ईशदूत जो अनुगामी तथा प्रसारक होते हैं उनमें सोलोमन, डेविड, ईसाइया, जरमिया तथा इजकील सम्मिलित हैं। स्वतंत्र ईशदूत संस्थापक होते हैं, अर्थात् वे एक नये धर्म की स्थापना करते हैं, आत्माओं में नवप्राणों का संचार करते हैं, समाज के नैतिक नियमों को पुनरूज्जीवित करते है और नई जीवनशैली तथा नये स्तर का आचरण प्रवर्तित करते हैं। उनके द्वारा एक नया धर्मविधान प्रकाशित होता है और एक नया धर्म उद्घाटित होता है। उनका आगमन उस बसन्तकाल के समान होता है, जब सभी पार्थिव वस्तुएँ नया वस्त्र धारण करतीं तथा नया जीवन प्राप्त करती हैं।

6. दूसरे प्रकार के ईशदूत जो अनुगामी होते हैं, वे ईश्वर के धर्म का उन्नयन करते हैं, उसका प्रसार करते हैं, और उसके शब्द का उद्घोष करते हैं। उनकी अपनी कोई शक्ति या अधिकार नहीं होता, बल्कि उन्हें वे स्वतंत्र ईशदूतों से प्राप्त करते हैं।

7. प्रश्न: बुद्ध तथा कन्फयूशियस किस वर्ग में आते हैं ?

8. उत्तर: बुद्ध ने भी एक नया धर्म स्थापित किया और कन्फयूशियस ने प्राचीन आचरण तथा नैतिक सिद्धान्तों को नया स्वरूप प्रदान किया। लेकिन मूल नियम पूर्णतया बदल गए हैं, तथा उनके अनुयायी आस्था और उपासना के मूल तरीके से अब नहीं जुडे हैं। बौद्ध धर्म के संस्थापक एक अमूल्य सत्ता थी जिसने ईश्वर के एकत्व की स्थापना की, लेकिन आगे चलकर उनके मूलभूत सिद्धान्त धीरे-धीरे भुला दिये गये और उनका स्थान प्राचीन प्रथाओं तथा अनुष्ठानों ने ले लिया। अंत में तो मूर्तियों और प्रतीकों की पूजा प्रचलित हो गई।

9. विचार कीजिए: उदाहरण के लिए, कि ईसा ने तौरेत की ‘दस आज्ञाओं’ का ध्यान रखने के लिए बारम्बार लोगों को चेतावनी दी और उनके कठोर अनुपालन का आग्रह रखा। इन दस आज्ञाओं में से एक प्रतीकों तथा मूर्तियों की पूजा का निषेध करती हैं।122 फिर भी कुछ ईसाई सम्प्रदायों के चर्चों में असंख्य प्रतीक तथा प्रतिभाएँ हैं। अतः यह सुनिश्चित और स्पष्ट है कि ईश्वर का धर्म लोगों के बीच अपने मूल सिद्धान्त सुरक्षित नहीं रखता है, बल्कि धीरे-धीरे पूरी तरह लुप्त होने के बिन्दु तक उसमें हेर-फेर और परिवर्तन होते रहते हैं। और इस प्रकार पुनः एक नये अवतार का आविर्भाव होता है और एक नया धर्म स्थापित होता है। कारण कि, यदि पूर्व धर्म में परिवर्तन और हेर-फेर न होते, तो नवीनीकरण की कोई आवश्यकता ही न होती।

10. आरम्भ में यह वृक्ष जीवन-शक्ति से भरा और फल-फूल से लदा था, लेकिन शनैः-शनैः यह पुराना, भुक्तशेष और निष्फल हो गया और अन्ततः मुरझा कर क्षीण हो गया। इसीलिए, वह सच्चा माली उसी तने का एक सुकोमल पौधा पुनः रोपता है, ताकि वह दिन-प्रतिदिन बढ़े और विकसित हो, अपनी शरणदायिनी छाया इस स्वर्गिक उपवन में विस्तारित करे और अपने उत्कृष्ट फल उत्पादित करे। ऐसा ही दैवीय धर्मों के साथ होता है। समय बीतने के साथ, उनके मूलभूत नियमों में हेर-फेर हो जाता है, उनमें सन्निहित सत्य पूर्णतया विलुप्त हो जाता है, उनकी चेतना चली जाती है, सैद्धान्तिक नवाचार का उद्भव होता है और वे आत्मा से विहीन काया मात्र रह जाते हैं। यही कारण है कि उनको नया स्वरूप दिया जाता है।

11. हमारा तात्पर्य यह है कि बुद्ध और कन्फयूशियस के अनुयायी अब प्रतीकों और प्रतिमाओं की पूजा करते हैं और ईश्वर के एकत्व से पूर्णतया अनभिज्ञ बन गए हैं। अब वे काल्पनिक देवताओं में विश्वास करते हैं, जैसा प्राचीन यूनानी करते थे। लेकिन उनके मूल नियम-निदेश ऐसे नहीं थे। वस्तुतः वे नियम तथा व्यवहार पूरी तरह भिन्न थे।

12. एक बार पुनः, विचार करें कि ईसाई धर्म के मूलभूत नियम-निर्देश किस हद तक भुला दिए गये हैं और कितने अधिक सैद्धान्तिक नवाचार फूट निकले हैं। उदाहरण के लिए, ईसा ने हिंसा और प्रतिशोध का वर्जन किया था और उसके स्थान पर बुराई तथा क्षति का बदला उदारता और प्रेमल सौजन्यता से देने का आदेश दिया था। लेकिन अवलोकन कीजिए कि कितने अधिक रक्तरंजित युद्ध स्वयं ईसाई राष्ट्रों के बीच ही हुए हैं और कितना अधिक दमन, क्रूरता, रक्तपात और रक्तपिपासु उसके फलस्वरूप उत्पन्न हुए हैं। इनमें अनेक युद्ध तो वस्तुतः पोपों (परम धर्माध्यक्षों) की आज्ञा से किए गए। अतः यह प्रभूत रूप से स्पष्ट होता है, कि कालान्तर में धर्मों में पूरी तरह हेर-फेर और परिवर्तन हो जाता है और इसीलिए उनका नवीनीकरण किया जाता है।

**44**

**ईश्‍वर द्वारा ईशदूतों को लगाई गई फटकार**

1. प्रश्न: पवित्र धर्मग्रन्थों में ईश्वर के देवदूतों के लिए भर्त्‍सना अर्थात् फटकार के कुछ शब्दों का उल्लेख हुआ है। ये शब्द किनके प्रति कहे गए हैं और अन्ततः उनका लक्ष्य कौन है?

2. उत्तर: फटकार अथवा भर्त्‍सना का रूप ग्रहण करने वाला हर दैवीय वचन बाह्य रूप से भले ही ईशदूतों के लिए प्रयुक्त हो, परन्तु वास्तव में वह उनके अनुयायियों के लिए होती है। इसके पीछे और कुछ नहीं, विशुद्ध दयालुता की समझदारी होती है, ताकि लोग ऐसी डांट-फटकार या भर्त्‍सनाओं से व्याकुल, हतोत्साहित या बोझिल न हो जाएँ। इसीलिए ये शब्द ऊपर से तो ईशदूतों को सम्बोधित होते हैं, लेकिन अन्दर से उनके लक्ष्य संदेशवाहक न होकर अनुयायी ही होते हैं।

3. इसके अतिरिक्त, किसी देश का शक्तिशाली और प्रभुसत्तासम्पन्न सम्राट उन सबका प्रतिनिधित्व करता है जो उस देश में निवास करते हैं। दूसरे शब्दों में, जो कुछ वह बोलता है वह सभी का वचन होता है और अंत में जैसा भी समझौता वह करता है वह सभी का समझौता होता है, क्योंकि उसकी सम्पूर्ण प्रजा की इच्छा और उद्देश्य उसकी इच्छा में सम्मिलित होते हैं। इसी प्रकार, प्रत्येक ईशदूत अपने समग्र अनुयायीदल का प्रतिनिधि होता है। इसलिए, ईश्वर उसके साथ जो संविदा करता है और उसके प्रति जो शब्द कहता है वे उसके सभी जनों के लिए प्रयुक्त होते हैं।

4. ईश्वरीय उलाहना और भर्त्‍सना लोगों के हृदयों को बोझिल और पीड़ित करने का कारण बनते हैं और ईश्वर की परिपूर्ण विवेक-बुद्धि इसकी आवश्यकता अनुभव करती है, इसीलिए इस प्रकार का सम्बोधन वह करता है। उदाहरण के लिए, तौरेत में हम देखते हैं कि इस्राइलियों ने मूसा के प्रति विद्रोह किया और कहा: “हम ‘अमालेका’ से नहीं लड़ सकते, क्योंकि वे शक्तिशाली, प्रबल और साहसी है।” तब ईश्वर मूसा और हारून के प्रति झिड़की के साथ बोले, जबकि मूसा में विद्रोहभाव नहीं था और वह पूर्ण तथा आज्ञापालक थे।123 निश्चय ही ऐसा महामानव जो ईश्वरीय कृपा का माध्यम और उसके विधान का समर्थक है, दिव्य आदेश के प्रति आज्ञापरायण होना ही चाहिए।

5. ये पवित्रात्माएँ पेड़ के पत्तों की भाँति होती हैं जो स्वेच्छा से नहीं, वायु से हिलती-डुलती हैं, क्योंकि वे ईशप्रेम के झकोरों से आकर्षित हैं और अपनी इच्छा का उन्होंने परित्याग कर दिया है। उनकी वाणी ईश्वर की वाणी होती है। उनका आदेश ईश्वरादेश और उनका निषेध ईश्वर का निषेध होता है। वे इस लैम्प के शीशे के समान होते हैं जिसका प्रकाश लैम्प की लौ से आता है। प्रकाश यद्यपि शीशे से निकलता दिखाई देता है, लेकिन वास्तव में तो वह अग्नि-लौ से अग्रसर होता है। इसी प्रकार, ईश्वर के दूतों की, जो उसके ही साक्षात स्वरूप होते हैं, गति एवं विश्राम महज मानवीय विचार तरंग से नहीं, बल्कि प्रकटीकरण से गतिमान होते हैं। यदि ऐसा न हो, तो कैसे ईशदूत निष्ठावान प्रतिनिधि और ईश्वर के चुने हुए दूत का आचरण कर सकता है? कैसे वह ईश्वर के आदेशों तथा निषेधों का प्रसार कर सकता है? अतः धर्मग्रन्थों में ईश्वरावतारों पर आरोपित सभी दोषों को अवश्य ही इसी प्रकाश में समझा जाना चाहिए।

6. जय हो परमेश्वर की, कि तुम यहाँ आएं और ईश्वर के सेवकों से मिले हो! क्या तुमको प्रभु की शुभेच्छा की सुरभि के अलावा उनसे कुछ और मिला है? वस्तुतः, और कुछ भी नहीं! स्वयं अपनी आँखों से तुमने देखा है कि कैसे वे दिन-रात अन्य किसी उद्देश्य से नहीं, बल्कि ईश-शब्द को समुचित गरिम प्रदान करने,, आत्माओं को शिक्षा, पोषित करने, मानवजाति के सौभाग्य को पुनर्प्रतिष्‍ठत करने, आध्यात्मिक प्रगति सुनिश्चित करने, विश्व शान्ति का उन्नयन करने, सभी जनसमुदायों एवं राष्ट्रों के प्रति सदेच्छा और सौजन्यता दर्शाने, सर्वसामान्य के हित में अपने को अर्पित करने, निजी भौतिक लाभ का परित्याग करने और मानव जगत की सद्वृत्तियों को प्रोत्साहित करने के लिए पूरी शक्ति से प्रयत्नशील हैं।

7. अब हम अपने विषय पर वापस आएँ। तौरेत में ईसाइया 48: 13 में कहा गया है: “स्पष्ट है कि अभीष्ट अर्थ जेकब नहीं, जिसको इस्राईल कहा गया, बल्कि इस्राईल के लोग हैं। ईसाइया 43: 1 में भी कहा गया है: “लेकिन वह प्रभु जिसने तुमको सिरजा है अब यह कहता है, हे जेकब, और जिसने तुम्हें रचा है, हे इस्राईल, डरो मत, क्योंकि मैंने तुम्हारा उद्धार किया है, मैंने तुमको तुम्हारे नाम से पुकारा है, तुम मेरे हो।”

8. इसके अतिरिक्त, ‘नम्बर्स’ 20: 23-24 में कहा गया है: “और एदोम देश के समुद्र तट पर स्थित होर पर्वत में प्रभु मूसा तथा हारून के प्रति उसने कहा, हारून को अपने लोगों के पास भेजा जाएगा, क्योंकि वह उस देश में प्रवेश नहीं करेगा जिसे मैंने इस्राईल की संतानों को दिया है, क्योंकि तुम लोगों ने मरीबा के जलाशयों पर मेरे शब्द के प्रति अवहेलना की।” और 20: 13 में कहा है: “यह मरीबा का जल है, क्योंकि इस्राईल की संतानों ने प्रभु से संघर्ष किया और उसे उनमें निर्मल किया गया।”

9. ध्यान से देखें कि विद्रोह इस्राईल के लोगों ने किया था, लेकिन आलोचना बाह्य रूप से हारून और मूसा की हुई, जैसाकि ‘ड्यूटरोनॉमी’ (विधि विवरण की पुस्तक) 3: 26 में कहा गया है: “किन्तु प्रभु मुझ पर क्रुद्ध था तुम्हारे निमित्तों से और उसने मेरी नहीं सुनी और प्रभु ने मुझसे कहा, तेरे लिए इतना पर्याप्त है, इस विषय में मेरे प्रति अब कुछ मत बोलना।”

10. अब देखिए कि, यह झिड़की और भर्त्‍सना वास्तव में इस्राईल की संतानों को सम्बोधित थी, जिनको ईश्वर के आदेशों के विरूद्ध उनके विद्रोह के कारण एक लम्बे समय तक जोर्डन से आगे उजाड़ मरूस्थल में, जोशुआ के समय तक, निवास करना पड़ा। यह झिड़की और आलोचना मूसा और हारून के लिए प्रतीत होती थी, लेकिन यथार्थतः यह इस्राईल के लोगों के लिए ही थी।

11. इसी प्रकार, कुरआन में मुहम्मद से कहा गया है: “हमने तुझे प्रत्यक्ष विजय प्रदान की है, ताकि ईश्वर तुझे तेरे विगत और भावी पापों के लिए क्षमादान दे सके।”124 अब ये शब्द प्रकटतः यद्यपि मुहम्मद को सम्बोधित हैं, लेकिन वास्तविकता यह है कि ये उनके सभी जनों के लिए कहे गए थे। और यह चीज ईश्वर के उत्कृष्ट विवेक से प्रस्तुत होती है, जैसाकि हमने पहले कहा था, ताकि लोगों के हृदय पीड़ित, व्याकुल और स्तम्भित न हों।

12. कितनी ही बार ईश्वर के देवदूतों तथा उसके विश्वस्त अवतारों ने अपनी प्रार्थनाओं में अपने पापों तथा त्रुटियों की स्वीकारोक्ति की है! यह केवल दूसरी आत्माओं को शिक्षा देने, ईश्वर के सम्मुख विनत और समर्पणशील होने के लिए उनको प्रेरित तथा प्रोत्साहित करने और अपने पापों तथा दोषों को स्वीकार करने के लिए होता है। कारण कि, ये पवित्र आत्माएँ प्रत्येक पाप से दूर निर्मल और प्रत्येक दोष से मुक्त होती हैं। उदाहरणार्थ, गॉस्‍पल में कहा गया है कि एक आदमी ईसा के पास आया और उसने उनको “अच्छा गुरू” कहा। ईसा ने उत्तर दिया, “तू मुझे अच्छा क्यों कहता है? एक के सिवा कोई अच्छा नहीं है और वह है ईश्वर।”125 अब इसका अर्थ यह नहीं है - ईश्वर न करे कि ईसा पापी थे, बल्कि उनका अभिप्राय, अपेक्षाकृत, उस आदमी को विनम्रता, दीनता, नम्रता और शालीनता सिखाना था। ईश्वर की ये कृपाभाजन आत्माएँ प्रकाशरूप हैं और प्रकाश को अंधकार से नहीं जोड़ा जा सकता। वे चिरस्थायी जीवन होती हैं और जीवन को मृत्यु में नहीं मिलाया जा सकता। वे मार्गदर्शन हैं, और मार्गदर्शन को भटकाव के साथ एकत्र नहीं किया जा सकता। वे आज्ञापरायणता का सारतत्व ही होती हैं, और आज्ञापरायणता विद्रोह के साथ नहीं रह सकती।

13 संक्षेप में, हमारा आशय यह है कि पवित्र धर्मग्रन्थों में अभिलिखित चेतावनियाँ बाहरी तौर पर ईशदूतों अर्थात् ईश्वरावतारों के लिए प्रयुक्त होते हुए भी, वस्तुतः अनुयायीजनों के उद्देश्य से होती हैं। यदि आप बाइबिल का अध्ययन करें, तो यह विषय निश्चित रूप से स्पष्ट हो जाएगा।

**45**

**परम महान अचूकता**

1. पवित्र पद में कहा गया है: “जो ‘ईश्वर के धर्म’ का ‘उदयाँचल’ है उसकी परम महान अचूकता में कोई भागीदार नहीं है। वही है जो सृष्टि जगत में ‘वह जो चाहता है सो करता है’ का मूर्त स्वरूप है। ईश्वर ने यह विशेषता अपने ही स्वत्व के लिए आरक्षित की है, और इतने उदात्त तथा उत्कृष्ट स्थान में किसी के लिए कोई अंश निर्दिष्ट नहीं किया गया है।”126

2. यह जान लीजिए कि अचूकता दो प्रकार की होती है - सारभूत अचूकता और सहज गुण के रूप में अचूकता। दूसरे सभी नामों तथा वृत्तियों के लिए भी यही बात सत्य है। उदाहरण के लिए, किसी वस्तु के तत्व का ज्ञान और उस वस्तु के सहज गुणों का ज्ञान होता है। सारभूत या मौलिक अचूकता सार्वजनिक ईश्वरावतारों तक ही सीमित होती है, क्योंकि अचूकता उनकी सत्ता की एक अपरिहार्य अपेक्षा होती है और किसी वस्तु की अपरिहार्य अपेक्षा को उस वस्तु से पृथक नहीं किया जा सकता। किरणें सूर्य की अनिवार्य अपेक्षा है और उससे अपृथकनीय हैं। शक्ति ईश्वर की अत्यावश्यक अपेक्षा है, अतः उससे वह भी अपृथकनीय है। यदि इन चीजों को उससे अलग कर देना सम्भव हो, तो वह ईश्वर नहीं रह जाएगा। किरणों को अगर सूर्य से पृथक किया जा सके, तो वह सूर्य नहीं रहेगा। इसलिए, यदि कोई व्यक्ति परम महान भ्रमातीतता को सार्वभौम ईश्वरावतार से पृथक किए जाने की कल्पना करे, तो वह सार्वभौम अवतार नहीं होगा और उस आवश्यक परिपूर्णता का अभाव हो जाएगा।

3. लेकिन सहज गुण के रूप में अचूकता आवश्यक अपेक्षा नहीं, बल्कि अचूकता के उपहार की एक किरण होती है जो सत्य रूपी सूर्य से कुछ हृदयों पर चमकती है, और उसका कुछ भाग तथा अंश उनको प्रदान करती है। यद्यपि ये आत्माएँ अनिवार्यतः अचूक नहीं होती हैं, फिर भी वे ईश्वर की देखरेख, सुरक्षा और अचूक मार्गदर्शन के अन्तर्गत होती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ईश्वर भूल से उनकी रक्षा करता है। इस प्रकार, ऐसी अनेक निर्मल आत्माएँ हुई हैं जो स्वयं परम महान अचूकता का ‘उद्गमस्थल’ नहीं थीं, तथापि ईश्वरीय देखरेख और सुरक्षा की छाया तले जिनकी रक्षा-सुरक्षा की गई है। कारण कि, वे ईश्वर तथा मनुष्य के बीच दैवीय कृपा की माध्यम थीं और ईश्वर त्रुटि से उनको संरक्षित न रखता, तो वे सभी निष्ठावानों को उसी प्रकार त्रुटि करने की ओर ले जातीं। इससे तो ईश्वर के धर्म की आधारशिलाओं का ही पूरा-पूरा मूलोच्छेदन हो जाता, जो उसकी उदात्त सत्ता के अयोग्य और अनुपयुक्त होता।

4. थोड़े शब्दों में, अपने सारस्वरूप में अचूकता ईश्वर के सार्वभौम अवतारों तक सीमित है, और एक सहज गुण के रूप में अचूकता निर्मल आत्माओं को प्रदान की जाती है। उदाहरण के लिए विश्व न्याय मंदिर को लें - यदि आवश्यक शर्तों के अन्तर्गत उसकी स्थापना होती है, अर्थात् यदि सम्पूर्ण समुदाय के द्वारा उसे चुना जाता है, तो वह विश्व न्याय मंदिर ईश्वर की सुरक्षा और अचूक मार्गदर्शन के अन्तर्गत होगा। यदि वह न्याय मंदिर, सर्वसम्मति या बहुमत से, किसी ऐसे विषय पर निर्णय लेता है जो ‘पुस्तक’ में स्पष्टता अभिलिखित नहीं है, तो उस निर्णय तथा आदेश को त्रृटि से बचाया जाएगा। यहाँ न्याय मंदिर के सदस्य व्यक्तियों के रूप में अनिवार्यतः अचूक नहीं हैं, लेकिन न्याय मंदिर निकाय ईश्वर की सुरक्षा और अमोध मार्गदर्शन के अन्तर्गत है। इसे प्रदत्त अचूकता कहा जाता है।

5. संक्षेप में, बहाउल्लाह कहते हैं कि ‘जो ईश्वर के धर्म का उदयस्थल है’ वह “वह जैसा चाहता है वैसा करता है” का प्रत्यक्ष स्वरूप होता है। वह कहते हैं कि यह स्थान उसी निर्मल सत्ता के लिए आरक्षित है, और दूसरों को इस मूलभूत पूर्णता में कोई हिस्सा नहीं मिलता। इसका अर्थ यह है कि, सार्वभौम ईश्रावतारों की मौलिक अचूकता चूंकि सिद्ध हो गई है, अतः जो कुछ उनसे निकलता है वह सत्य के समरूप और यथार्थ के अनुरूप ही होता है। वे पूर्ववर्ती धर्म की छाया तले नहीं होते हैं। वे जो कुछ कहते हैं वह ईश्वर का वचन होता है और जो कुछ वे करते हैं वह धर्मसम्मत कर्म होता है और किसी श्रद्धालु को आपत्ति करने का अधिकार नहीं दिया गया है। इसके बजाय, यह आवश्यक है कि इस सम्बन्ध में सम्पूर्ण समर्पणभाव प्रदर्शित करे, क्योंकि ईश्वरावतार पक्के विवेक के साथ कार्य करता है और यह सम्भव है कि मानवीय मन-मस्तिष्क कुछ विषयों में छिपे विवेक को समझ पाने में असमर्थ रहें। इसीलिए, सार्वभौम ईश्वरावतार जो कुछ कहता और करता है वह सद्विवेक का निचोड़ ही होता है और यथार्थता के अनुरूप होता है।

6. अब, यदि कुछ आत्माएँ उस सत्य प्रभु द्वारा प्रदत्त आदेश अथवा उसके कार्य में छिपे रहस्यों को नहीं समझ पाती हैं तो उनको कोई आपत्ति नहीं करनी चाहिए, क्योंकि सार्वभौम ईश्वरावतार “वही करता है जो वह चाहता है।” कितनी ही बार ऐसा हुआ हे कि किसी बुद्धिमान, कुशल और दूरदर्शी व्यक्ति ने कोई कार्य सम्पन्न किया और जो लोग उस कार्य के विवेक को समझ पाने में असमर्थ रहे, उन्होंने आपत्ति की और पूछा कि उसने ऐसा क्यों कहा या किया। यह आपत्ति अज्ञान से प्रेरित होती है और उस बुद्धिमान व्यक्ति की प्रज्ञा उन्मुक्त तथा त्रुटिविहीन होती है।

7. इसी प्रकार, कोई कुशल चिकित्सक तब वही “करता है जो वह चाहता है,” जब किसी रोगी की चिकित्सा करता है। रोगी को आपत्ति करने का कोई अधिकार नहीं है। चिकित्सक जो कुछ भी कहे या करे, वही विवेकपूर्ण और सत्य होता है, और सभी को उसे “वह वही करता है जो वह चाहता है, और वैसा ही निर्दिष्ट करता है जैसी उसकी इच्छा होती है” का मूर्त स्वरूप मानना चाहिए। चिकित्सक निस्संदेह ऐसी औषधियाँ निर्धारित करेगा जो लोक प्रचलित मतों से भिन्न होती हैं, लेकिन क्या उन लोगों को आपत्ति करने की अनुमति दी जा सकती है जिनको विज्ञान और चिकित्सा का कोई ज्ञान नहीं है? बिल्कुल नहीं, ईश्वर की सौगन्ध! इसके विपरीत, उन सबको यही चाहिए कि वह कुशल चिकित्सक जो कुछ निर्धारित कर रहा है उसे चुपचाप स्वीकार करें और उसका अनुशीलन करें। इस प्रकार वह कुशल चिकित्सक “वही करता है जो वह चाहता है,” और उसके अधिकार में रोगियों का कोई साझा नहीं है। पहले, चिकित्सक के कौशल का निश्चय कर लेना आवश्यक है और एक बार यह कर लिया जाए, तब “जो कुछ वह चाहता है वही करेगा।”

8. इसी प्रकार, कोई सेनापति, जो युद्धकला में अप्रतिम है, जो कुछ कहता या आदेश देता है सभी में, वही “करता है जो वह चाहता है” का भाव छिपा है। यही जलयान के उस कप्तान के बारे में सत्य है जो समुद्री यात्रा की कला में निपुण है, तथा यही उस ‘सच्चे शिक्षक’ के सम्बन्ध में सत्य है जिसमें सभी मानवीय परिपूर्णताएँ हैं। अपने कथन और आदेश सभी बातों में वे जो चाहते हैं वही करते हैं।

9. सारांश यह कि “वह जो कुछ चाहता है वही करता है” का यह अर्थ है कि यदि ईश्वरावतार कोई आदेश निर्गत करे, कोई विधान लागू करे, या कोई ऐसा कार्य करे जिसका विवेक उसके अनुयायी समझ पाने में समर्थ न हों, तो अनुयायीजनों को उसके शब्दों या कार्यों के सम्बन्ध में क्षणमात्र के लिए भी संदेह का विचार तक नहीं करना चाहिए। सभी आत्माएँ सार्वभौम अवतार की छत्रछाया में हैं और उनको ईश्वर के धर्म के सर्वोच्च अधिकारी के प्रति समर्पणशील होना ही चाहिए और तिल भर भी विचलित नहीं होना चाहिए। उन्हें तो अपेक्षाकृत अपना प्रत्येक आचरण तथा कर्म ईश्वर के धर्म के अनुरूप ही बना लेना आवश्यक होता है। और इससे यदि वे विचलित होंगे तो ईश्वर के समक्ष वे भर्त्‍सना के पात्र होंगे और जबावदेह ठहराए जाएंगे। यह निश्चित है कि “वह जो चाहता है सो करता है” के अधिकार में उनका कोई साझा नहीं होता है, क्योंकि यह स्थान सार्वभौम ईश्वरावतार तक ही सीमित है।

10. इस प्रकार ईसामसीह - ईश्वर करे मेरी आत्मा उनके निमित्त एक न्योछावर बने! - “जो कुछ वह चाहता है वही करता है” शब्दों के मूर्तिमान स्वरूप थे, लेकिन उनके शिष्यों का उनके इस पदाधिकार में बिलकुल साझा नहीं था। उनके शिष्यों ने उनकी छत्रछाया में निवास किया और उनको उनकी इच्छा तथा आदेश से तनिक भी हटने की अनुमति नहीं दी गई।

**भाग 4**

**मनुष्‍य की उत्पत्ति, शक्तियाँ और दशाएँ**

**46**

**विकासक्रम और मनुष्‍य की वास्तविक प्रकृति**

1. अब हम जैव प्रजातियों के रूपान्तरण और अंगों-अवयवों के क्रमिक विकास के प्रश्न पर आते हैं, अर्थात् मनुष्य क्या पशु जगत से आया है।127

2. कुछ यूरोपीय दार्शनिकों के मन में कभी इस विचार ने अपना स्थान बनाया था। इस असत्यता का आशय समझ पाना इस समय बहुत कठिन है। लेकिन भविष्य में निश्चित रूप से यह स्पष्ट हो जाएगा, और यूरोप के दार्शनिक स्वयं इसकी अनुभूति करेंगे। कारण कि, यह वास्तव में स्पष्ट भूल है। कोई जब तीक्ष्ण दृष्टि से सृष्टि का निरीक्षण करता है, जब कोई सृजित वस्तुओं की जटिलताओं को समझता और इस अस्तित्व जगत की दशा, व्यवस्था तथा सम्पूर्णता का दर्शन करता है, तो उसे इस सत्य पर विश्वास हो जाता है कि ‘‘जो कुछ पहले से वर्तमान है उससे अधिक अद्भुत इस सृष्टि में कुछ नहीं है।”128 कारण कि, सभी विद्यमान वस्तुएँ, चाहे वे धरती पर हों या आसमानों में, यहाँ तक कि यह असीम अंतरिक्ष और जो कुछ उसमें है वह सब, अत्यधिक समुचित रूप से निर्मित, व्यवस्थित, संघटित, क्रमबद्ध स्थित और पूर्ण किया गया है और अपूर्णता के लिए उसमें कोई स्थान नहीं है। यह इस सीमा तक सत्य है कि अगर सारे प्राणी विशुद्ध बुद्धि वाले बन जाएँ और इस अन्त तक जिसका कोई अन्त नहीं है विचार करें, तो भी वे, जो कुछ पहले से ही विद्यमान है उससे बेहतर किसी चीज की कल्पना सम्भवतः नहीं कर सकते हैं।

3. तथापि, अतीत में यदि सष्टि में ऐसी सम्पूर्णता और सौंदर्य की अपूर्णता रह जाती, अगर वह निम्न अवस्था में रह जाती, तो निस्संदेह रूप से अस्तित्व अपर्याप्त और अपूर्ण और इसलिए, अधूरा होता। इस विषय के लिए अत्यधिक मनोयोग और विचार की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए, कल्पना कीजिए कि सम्पूर्ण सापेक्ष जगत, अस्तित्व का समस्त क्षेत्र, मनुष्य के शरीर के समरूप है। यदि वह संयोजन, व्यवस्था, सम्पूर्णता, सौंदर्य और परिपूर्णता जो इस समय मानव शरीर में है, किसी तरह भिन्न प्रकार की होती, तो परिणाम स्वतः अपूर्णता होता।

4. इसलिए, हम यदि किसी समय की कल्पना करें जब मनुष्य पशु जगत का प्राणी था, अर्थात् जब वह मात्र पशु था, तो अस्तित्व अपूर्ण रह जाता। इसका अर्थ यह हुआ कि तब कोई आदमी नहीं रहा होगा और अस्तित्व जगत के इस प्रमुख सदस्य का जो विश्वरूपी शरीर में मनुष्य के मन-मस्तिष्क के समान है, अभाव रह जाता और इस प्रकार विश्व नितान्त अपूर्ण रह गया होता। यह अपने आप में इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि अगर कभी ऐसा कोई समय था जब मनुष्य पाश्विक क्षेत्र का प्राणी था, तो अस्तित्व की सम्पूर्णता नष्ट हो गई होती, क्योंकि मनुष्य ही इस विश्व-काया का प्रमुख अंग है और कोई शरीर अपने प्रमुख अंग के अभाव में निस्संदेह अपूर्ण ही होता है। मनुष्य को हम प्रमुख अंग मानते हैं, क्योंकि सभी सृजित वस्तुओं के बीच अस्तित्व की सभी पूर्णताएँ उसमें सम्मिलित हैं।

5. “मनुष्य” से हमारा तात्पर्य है सम्पूर्ण मानव प्राणी, संसार का प्रमुख प्राणी, जो सभी आध्यात्मिक एवं भौतिक पूर्णताओं का योग है और जो समस्त सृजित वस्तुओं के बीच सूर्य की भाँति है। कल्पना कीजिए एक ऐसे समय की जब ऐसे सूर्य का अस्तित्व नहीं था, दूसरे शब्दों में, जब सूर्य एक अन्य आकाशीय पिण्ड मात्र था। ऐसे समय में, विद्यमान वस्तुओं के बीच सम्बन्ध निस्संदेह रूप से भंग हो जाते। इस बात की कल्पना कैसे की जा सकती है? अगर कोई अस्तित्व जगत की ध्यानपूर्वक जांच करे, तो यही एक तर्क पर्याप्त होगा।

6. हम एक और, अधिक सूक्ष्म प्रमाण देते हैं। अस्तित्व जगत में पाई जाने वाली असंख्य सृजित वस्तुएँ - वे मनुष्य, पशु, पौधे हों या खनिज - निश्चित ही तत्वों से संयुक्त हैं। इसमें संदेह नहीं है कि प्रत्येक वस्तु में दिखाई देती समग्रता, दैवीय सृजन के द्वारा, घटक तत्वों से, उनके समुचित मिश्रण से, उनकी आनुपातिक मात्रा से, उनके संयोजन की विधि से और दूसरी सृजित वस्तुओं के प्रभाव से उत्पन्न होती है। सभी प्राणी एक श्रृंखला की कड़ियों की तरह आपस में जुड़े हैं। पारस्परिक साधन-सहायता, कार्य-सहायता और अंतर्निहित क्रिया उनके कुछ आन्तरिक गुणों तथा उनके स्वरूप-गठन, समृद्धि तथा विकास के कारण हैं। अनेक प्रमाणों तथा तर्कों से यह सिद्ध हो जाता है कि हर एक वस्तु का हर दूसरी वस्तु पर एक प्रभाव और प्रेरणा पूर्ण असर, या तो स्वतंत्र रूप से या कार्य-कारण सम्बन्धों से, पड़ता ही है। सारांश यह कि, हर एक वस्तु की सम्पूर्णता, जिसे आप मनुष्य में, या दूसरे प्राणियों में, उनके अंगों, अवयवों और शक्तियों के सम्बन्ध में देखते हैं, वह उनके घटक तत्वों, उनकी मात्राओं तथा मापों से, उनके मिश्रण की विधि और उनके पारस्परिक कार्य, अन्तःक्रिया, तथा प्रभाव से उत्पन्न होती है। जब ये सब एकत्र होते हैं, तो मनुष्य अस्तित्व ग्रहण करता है।

7. मनुष्य की सम्पूर्णता या समग्रता कुल मिलाकर संयोजक तत्वों, उनकी मात्रा, उनके मिश्रण की विधि और अन्य प्राणियों के साथ पारस्परिक क्रिया और आन्तरिक प्रतिक्रिया से उत्पन्न होती है। और मनुष्य की उत्पत्ति क्योंकि हजारों साल पहले पृथ्वी के उन्हीं तत्वों से, उनकी उसी माप और मात्रा के साथ, संयोजन तथा मिश्रण की उसी विधि के साथ, दूसरे प्राणियों के साथ वैसी ही पारस्परिक क्रियाओं से हुई थी, अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि मनुष्य ठीक वैसा ही तब था जैसा वह आज है। यदि आज से सौ करोड़ वर्षों के बाद भी, इसी विधि से मिश्रित करके और अन्य प्राणियों के साथ इसी पारस्परिक क्रिया के अन्तर्गत एकत्र किए जाएँ तो ठीक इसी प्रकार का मनुष्य बन कर तैयार होगा। उदाहरण के लिए, आज से सौ हजार वर्ष बाद यदि कोई व्यक्ति तेल, अग्नि का, बत्ती, लैम्प और लैम्प को जलाने वाला एकत्र करे - संक्षेप में, जो सारी वस्तुएँ आज आवश्यक हैं वे सब एक जगह एकत्रित कर रखें तो - ठीक ऐसा ही लैम्प प्रस्तुत हो जाएगा।

8. यह विषय सुस्पष्ट और ये तर्क निर्णायक हैं। लेकिन यूरोपीय दार्शनिकों ने जो तर्क प्रस्तुत किए हैं वे अव्यावहारिक और अनिर्णायक है।

**47**

**ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति और मानव-विकासक्रम**

1. यह समझ लो कि यह प्रश्न दिव्यज्ञान के दुरूहतम प्रश्नों में से एक है कि अस्तित्व जगत - अर्थात्, इस अन्तहीन ब्रह्माण्ड - का कोई प्रारम्भ नहीं है।

2. हमने पहले ही स्पष्ट किया है कि ईश्वरत्व के नामों एवं गुणों के लिए सृजित वस्तुओं के अस्तित्व की अपेक्षा होती है। यद्यपि इस विषय की विस्तृत व्याख्या पहले दी गई है,129 किन्तु एक बार पुनः एक संक्षिप्त चर्चा यहाँ की जाएगी। समझो कि दासों के बिना स्वामी की कल्पना नहीं हो सकती, प्रजा से रहित शासक नहीं हो सकता, शिष्यों के अभाव में किसी को शिक्षक नहीं कहा जा सकता, एक सृष्टि के बगैर सृष्टा असम्भव ही है। जिनका भरण-पोषण किया जाना है उनके अभाव में संभरणकर्ता की कल्पना ही नहीं की जा सकती- क्योंकि सभी दिव्य नामों तथा गुणों को सृजित वस्तुओं के अस्तित्व की आवश्यकता है। यदि हम एक ऐसे समय की कल्पना करें जब सृजित वस्तुएँ नहीं थीं, तो यह ईश्वर के ईश्वरत्व को नकारने के समान ही होगा।

3. इसके अतिरिक्त, सम्पूर्ण अनास्तित्व में तो अस्तित्व ग्रहण करने की क्षमता का ही अभाव है। अगर ब्रह्माण्ड पूर्णतया शून्य होता, तो अस्तित्व कभी साकार ही न होता। इस प्रकार, जैसे एकत्व का वह सारतत्व, या दैवीय सत्ता, शाश्वत और सर्वकालिक है - अर्थात्, जैसे उसका आदि-अंत नहीं है - वैसे ही, निष्कर्ष यह निकलता है कि, अस्तित्व जगत, यह अन्तहीन ब्रह्माण्ड भी अनादि है। हाँ, यह सम्भव है कि सृजन का कुछ अंश - कोई आकाशीय पिण्ड, नया बना या विघटित हुआ हो, लेकिन दूसरे असंख्य पिण्ड बने ही रहेंगे और अस्तित्व जगत कभी भंग या नष्ट नहीं होगा। इसके विपरीत, उसका अस्तित्व शाश्वत तथा अपरिवर्तनशील है। लेकिन, प्रत्येक आकाशीय पिण्ड का चूंकि एक आदि है, तो अनिवार्यतः उसका अन्त भी होगा, क्योंकि वैश्विक हो या विशेष, हर संयोजन अनिवार्यतः विघटित होगा, कुछ शीघ्रता से विघटित होते हैं और कुछ धीरे-धीरे। लेकिन जो वस्तु संयोजन से निर्मित है वह अन्ततः विघटित न हो यह असम्भव है।

4. अब यह जानना आवश्यक है कि हर विशालकाय विद्यमान वस्तु आरम्भ में क्या थी। इस बात में संदेह नहीं है कि आरम्भ में मात्र एक उत्पत्ति हुई, क्योंकि दो प्रारम्भ नहीं हो सकते। सभी संख्याओं का मूल एक होता है, दो नहीं, बल्कि संख्या दो को स्वयं एक प्रारम्भ की आवश्यकता है। अतः यह स्पष्ट है कि मूलरूप से पदार्थ एक था और वह एक पदार्थ प्रत्येक तत्व से भिन्न रूप से प्रकट हुआ। इस प्रकार विभिन्न स्वरूप बने और जब वे प्रकट हुए तो प्रत्येक ने एक स्वतंत्र स्वरूप धारण किया और एक विशिष्ट तत्व बना। लेकिन यह विशिष्टता उपलब्ध करने में, उसे अपनी पूरी समग्रता और साकारता प्राप्त करने में, बहुत अधिक समय लगा। फिर इन तत्वों के संयोजन, वर्गीकरण, तथा मिश्रण से असंख्य वस्तुओं ने स्वरूप ग्रहण किया।

5. यह संघटन और क्रम विन्यास, ईश्वरीय प्रज्ञा एवं पुरातन सामर्थ्‍य के जरिए, एक प्राकृतिक व्यवस्था से उत्पन्न हुआ। इस प्रकार यह संघटन और सम्मिश्रण, प्राकृतिक व्यवस्था के साथ, एक उत्कृष्ट प्रज्ञा के अनुसार, एक ब्रह्माण्डीय नियम के अधीन, उत्पन्न हुआ है, तो यह स्पष्ट है कि यह कोई संयोगजन्य संघटन तथा विन्यास नहीं, बल्कि ईश्वरीय सृजन है। यही कारण है कि प्रत्येक प्राकृतिक संयोजन से एक जीवित वस्तु का अस्तित्व बनता है, लेकिन सांयोगिक संयोजन से कोई जीवित वस्तु नहीं बनेगी। इस प्रकार, उदाहरण के लिए यदि मनुष्य अपने पूरे चातुर्य और बुद्धि से किन्हीं तत्वों को एकत्र करके मिलाए, तो कोई जीवित सत्ता नहीं बनेगी, क्योंकि इसका यह काम प्राकृतिक व्यवस्था के अनुरूप नहीं है। जो दुरूह प्रश्न उठ सकता है, उसका यही उत्तर है, कि ये सत्ताएँ चूंकि इन तत्वों के संयोजन तथा सम्मिश्रण से अस्तित्व में आती हैं, तो उन्हीं तत्वों को एकत्र करके और मिला करके क्या हम किसी जीवित वस्तु की रचना नहीं कर सकते? यह विचार भ्रामक है, क्योंकि मूल संघटन एक दैवीय संयोजन है और सम्मिश्रण प्राकृतिक व्यवस्था के अनुसार ईश्वर कृत है और यही कारण है कि इस संयोजन से जीवित वस्तु का सृजन होता और एक अस्तित्व बन जाता है। लेकिन मानव कृत संयोजन से कुछ भी उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि मनुष्य जीवन की रचना नहीं कर सकता है।

6. संक्षेप में, हमने कहा है कि तत्वों के संयोजन से, उनके सम्मिश्रण, विधि, तथा अनुपात से और अन्य सत्ताओं के साथ उनकी पारस्परिक क्रिया से असंख्य स्वरूपों, यथार्थताओं तथा अगणित प्राणियों के अस्तित्व की रचना हुई है। लेकिन यह स्पष्ट है कि यह पृथ्वी मण्डल अपने वर्तमान स्वरूप में नहीं बना था, बल्कि यह सम्पूर्ण वर्तमान, धीरे-धीरे विभिन्न अवस्थाओं को पार करके अपनी मौजूदा सम्पूर्णता में दिखाई दे रहा है। सार्वभौमिक अस्तित्व की समरूपता और तुलना एक विशिष्ट रचना से की जा सकती है, क्योंकि दोनों एक ही प्राकृतिक व्यवस्था, एक ब्रह्माण्डीय नियम और एक ही दैवीय प्रबन्धन के अधीन हैं। उदाहरण के लिए, आप लघुतम परमाणुओं को अपनी सामान्य संरचना में विश्व ब्रह्माण्ड के बड़े-से-बड़े अस्तित्वों के समान पाएंगे। अतः यह स्पष्ट है कि वे एक प्राकृतिक व्यवस्था और एक ब्रह्माण्डीय नियम के अनुसार, शक्ति-सामर्थ्‍य रूपी एक प्रयोगशाला से बन कर निकले हैं और इसीलिए उनकी एक दूसरे से तुलना की जा सकती है।

7. उदाहरण के लिए, मानव भ्रूण माता के गर्भ में उत्पन्न और क्रमशः विकसित होता है और भिन्न-भिन्न रूप तथा स्थितियाँ धारण करता हुआ अन्त में अत्यधिक सौन्दर्य के साथ परिपक्व अवस्था को प्राप्त करता है और अत्यन्त शोभा से युक्त उत्कृष्ट स्वरूप में सामने आता है। इसी प्रकार, जिसे आप सामने देख रहे हैं इस फूल का एक बीज शुरू में छोटा और नगण्य था, लेकिन यह धरती के गर्भ में बढ़ा और विकसित हुआ, और विभिन्न रूप धारण करता हुआ अन्त में इतनी परिपूर्ण जीवन्तता और इस श्रेणी की शोभा के साथ प्रकट हुआ। इसी तरह यह सुनिश्चित रूप से स्पष्ट है कि यह पृथ्वी मण्डल ब्रह्माण्ड के गर्भ में अस्तित्व में आया, वहाँ बढ़ते और विकसित होते हुए, और विभिन्न स्वरूप एवं दशाएँ धारण करते हुए, धीरे-धीरे अन्ततः उसने अपनी वर्तमान सम्पूर्णता प्राप्त की, अनगिनत प्राणियों से अलंकृत हुआ और इतने उत्कृष्ट रूप में दिखाई पड़ा।

8. इसलिए यह स्पष्ट है कि मूल द्रव्य, जो भ्रूण के समतुल्य ही है, ने आरम्भ में संयोजित एवं संयुक्त तत्वों का स्वरूप ग्रहण किया और यह संयोजन करोड़ों युगों तथा सदियों तक, एक आकार तथा स्वरूप से दूसरे में गुजरता हुआ धीरे-धीरे बढ़ता व विकसित होता रहा और अन्त में इतनी सम्पूर्णता, सुव्यवस्था, क्रमबद्धता और दृढ़ता के साथ दृष्टिगोचर हुआ।

9. अब हम अपने विषय पर वापस आते हैं। इस पृथ्वी-मण्डल के गर्भ में अस्तित्व ग्रहण करने से आरम्भ करके, मनुष्य, अपनी माता के गर्भ में भ्रूण की भाँति, क्रमशः बढ़ा और विकसित हुआ और एक आकार तथा स्वरूप से दूसरे में गुजरता हुआ अन्त में इस सौन्दर्य और पूर्णता से, इस शक्ति और संरचना से युक्त होकर उभरा। यह निश्चित है कि आरम्भ में वह इतनी मनोहरता, शोभा तथा परिष्करण से सम्पन्न नहीं था। ऐसा स्वरूप, अंग विन्यास, चारूता और सौष्ठव उसने धीरे-धीरे ही प्राप्त किये है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि, माता के गर्भस्थ भ्रूण की ही भाँति, मानवजाति का भ्रूण एकाएक से इस स्वरूप में प्रकट होकर “पूजनीय हो समस्त सृष्टाओं में सर्वोत्कृष्ट प्रभु!130 शब्दों का मूर्त स्वरूप नहीं बन गया। इसके बजाय, उसने धीरे-धीरे विभिन्न दशाएँ प्राप्त कीं, भिन्न-भिन्न स्वरूप धारण किए, और अन्त में यह पूर्णता, परिष्कृत स्वरूप, सौष्ठव और यह आकृति तथा सुन्दरता उपलब्ध की। अतः यह निश्चित और स्पष्ट है कि इस पृथ्वी ग्रह पर मनुष्य का उसकी वर्तमान सम्पूर्णता तक सम्वृद्धि तथा विकास, माता के गर्भस्थ भ्रूण की सम्वृद्धि तथा विकास की ही भाँति, क्रमिक रूप से और एक से दूसरी स्थिति में तथा एक स्वरूप और आकार से दूसरे में गुजरते हुए ही हुआ है। कारण कि, यह बह्माण्डीय व्यवस्था और ईश्वरीय विधान की अपेक्षाओं के अनुरूप है।

10. तात्पर्य यह है कि मानव भ्रूण भिन्न-भिन्न दशाएँ धारण करता है और अनेक अवस्थाएँ पार करता है और अन्त में वह स्वरूप प्राप्त करता है जो “पूजनीय हो समस्त सृष्टताओं में सर्वोत्कृष्ट प्रभु!” शब्दों की यथार्थता प्रकट करता है। और इस प्रकार वह पूर्ण विकास एवं परिपक्वता के चिह्न प्रदर्शित करता है। इसी विधि से, इस पृथ्वी ग्रह पर मनुष्य के अस्तित्व के आरम्भकाल से, अपना वर्तमान आकार, स्वरूप तथा दशा धारण करने तक अवश्य ही एक लम्बा समय व्यतीत हुआ है और अपनी वर्तमान स्थिति में पहुँचने से पहले निश्चित ही उसने अनेक अवस्थाएँ पार की हैं। परन्तु अपने अस्तित्व के प्रारम्भकाल से ही मनुष्य एक विशिष्ट प्रजाति रहा है। माता के गर्भ में मनुष्य के भ्रूण के समान ही है यह - पहले उसकी आकृति विचित्र होती है, उसके बाद यह शरीर विभिन्न आकारों तथा स्वरूपों से गुजरता हुआ अन्त में परम सौन्दर्य और पूर्णता ग्रहण कर लेता है। लेकिन माता के गर्भ में जिस समय भ्रूण, अपने वर्तमान आकार तथा आकृति से पूरी तरह भिन्न, विचित्र स्वरूप में होता है, उस समय भी वह भू्रण किसी पशु नहीं, बल्कि विशिष्ट प्रजाति का होता है। उस प्रजाति के मूल तत्व और सहज यथार्थता में किसी तरह का कोई रूपान्तरण घटित नहीं होता है।

11 अब, अगर कोई अवशिष्ट अंगों का अस्तित्व सिद्ध करे, तो इससे उस प्रजाति की स्वतंत्रता एवं मौलिकता का खण्डन नहीं होगा। अधिक से अधिक यह सिद्ध होगा कि मनुष्य के स्वरूप, आकृति तथा अंगों ने कालान्तर में क्रमिक विकास किया है। लेकिन मनुष्य सदैव एक विशिष्ट प्रजाति रहा है, वह मनुष्य रहा है, पशु नहीं। विचार कीजिए: माता के गर्भ में यदि मनुष्य का भ्रूण एक-से-दूसरे स्वरूप में इस प्रकार से गुजरे कि दोनों में कोई मेल ही न रहे, तो क्या यह इस बात का प्रमाण होगा कि प्रजाति का मूल तत्व रूपान्तरित हो गया है? क्या ऐसा हो सकता है कि शुरू में वह भ्रूण पशु का था और अपने अंगों के क्रमशः व्यक्त और विकसित होने पर वह मनुष्य बन गया? बिल्कुल नहीं, ईश्वर की सौंगंध! कितना निर्बल और निराधार है यह विचार ! कारण कि, मानव प्रजाति की मौलिकता और मानव तत्व की स्वतंत्रता सुनिश्चित रूप से स्पष्ट है।

**48**

**मनुष्‍य तथा पशु में अन्तर**

1. चेतना के विषय पर हमने पहले एक-दो बार वार्तालाप किया है, लेकिन उनको लिपिबद्ध नहीं किया गया था।

2. यह समझ लो कि विश्व में दो प्रकार के लोग हैं, अर्थात, उनके दो समूह हैं। एक समूह मानव चेतना को अस्वीकार करता है और कहता है कि मनुष्य एक प्रकार का पशु है। क्यों? क्योंकि हम देखते हैं कि मनुष्य तथा पशु में एक जैसी सामान्य शक्तियां और इन्द्रियाँ हैं। हमारे चतुर्दिक रिक्त स्थान को भरने वाले सरल और पृथक तत्व असंख्य सम्मिश्रणों के रूप में आपस में मिलते हैं, और प्रत्येक सम्मिश्रण से एक भिन्न प्राणी की उत्पत्ति होती है। इनमें कुछ, शक्तियों तथा इन्द्रियों से सम्पन्न संवेदनशील प्राणी होते हैं। संयोजन जितना अधिक पूर्ण होगा, उतना ही अधिक श्रेष्ठ प्राणी होगा। तत्वों का यह संयोजन मानव शरीर में किसी अन्य प्राणी से अधिक पूर्ण है, और उसके तत्व परिपूर्ण संतुलन में मिश्रित हुए हैं, इसलिए वह अधिक श्रेष्ठ और अधिक पूर्ण है। ऐसा नहीं है, जैसा कहा जाता है कि, मनुष्य में एक विशेष शक्ति तथा चेतना है जिससे दूसरे प्राणी वंचित हैं। पशुओं में भी संवेदी बोध होते हैं, किन्तु मनुष्य की शक्तियाँ कुछ मामलों में अधिक सतेज होती हैं (यद्यपि श्रवण, दृष्टि, स्वाद, गंध तथा स्पर्श जैसी बाह्य इन्द्रियों के सम्बन्ध में, और स्मृति जैसी कुछ आन्तरिक शक्तियों के मामले में, पशु मनुष्य की अपेक्षा अधिक प्रचुरता से सम्पन्न हैं)। यह भी कहा जाता है कि पशु में बुद्धिमानी तथा समझदारी की शक्तियाँ भी होती हैं। वे यह स्वीकारते हैं कि मनुष्य में बुद्धिमत्ता अधिक है।

3. आज के दार्शनिकों के इस प्रकार के दावे हैं। ऐसे उनके शब्द हैं, ऐसी उनकी उक्तियाँ हैं, और ऐसे उनकी कल्पनाओं के निर्देश हैं। और इस प्रकार, विस्तृत शोध के उपरान्त और प्रबल तर्कों से सज्जित होकर, वे मनुष्य को पशु की वंश परम्परा में रखते हैं और कहते हैं कि एक समय मनुष्य पशु था और धीरे-धीरे यह प्रजाति बदली और क्रमशः विकसित होते हुए मानव श्रेणी तक पहुँच गई।

4. लेकिन धर्मविज्ञान के दार्शनिक कहते हैं कि ऐसा नहीं है। यद्यपि मनुष्य बाहरी शक्तियों एवं संवेदनाओं को सामान्य रूप से पशुओं के साथ साझा करता है, फिर भी उसमें एक असाधारण शक्ति है जिससे पशु वंचित है। सभी विज्ञान, कलाएँ, शिल्प और यथार्थताओं के अन्वेषण इसी एक शक्ति से अग्रसर होते हैं। यह ऐसी शक्ति है जो सभी सृजित वस्तुओं को परिवेष्टित करती है, उनकी वास्तविकताएँ समझती हैं, उनके गुप्त रहस्यों का उद्घाटन करती है, और उन पर नियंत्रण करती है। वह शक्ति उन चीजों की भी समझ रखती है जिनका कोई बाह्य अस्तित्व नहीं है, अर्थात्, बुद्धिगम्य, अतीन्द्रिय और अनदेखी यथार्थताएँ, जैसे मन, चेतना, मानवीय वृत्तियाँ एवं गुण, प्रेम और दुःख, जो सभी बुद्धिगम्य तत्व हैं। इसके अतिरिक्त, सभी वर्तमान विज्ञान तथा शिल्प, मनुष्य के सभी बड़े-बड़े उपक्रम और लाखों अनुसंधान किसी समय गुप्त एवं प्रच्छन्न रहस्य थे और उसी सर्वग्राही मानवीय शक्ति ने उनको खोज निकाला और अदृश्य से दृश्य जगत में प्रकट कर दिया है। इस प्रकार, टेलीग्राफ, फोटोग्राफ, फोनोग्राफ- ऐसे सभी बड़े आविष्कार तथा दस्तकारी कभी छिपे हुए रहस्य थे, जिनको उसी मानवीय यथार्थता ने खोजा और अदृश्य से दृश्य जगत में प्रकट किया। ऐसा भी एक समय था जब आप के सामने रखा यह लौह खण्ड और यही नहीं बल्कि प्रत्येक खनिज एक अप्रत्यक्ष रहस्य था। मानवीय यथार्थता ने इस खनिज की खोज की और इसकी धातु को इस परिष्कृत रूप में गढ़ा। मनुष्य की अन्य सभी खोजों तथा आविष्कारों के बारे में भी यही सत्य है। इनकी संख्या अगणनीय है। यह तथ्य अखण्डनीय है और इसको नकारने की कोई गुंजाइश नहीं है।

5. अगर हम यह कहें कि ये सभी प्रभाव पशु प्रकृति और शारीरिक इन्द्रियों की शक्तियों से उत्पन्न होते हैं, तो हम स्पष्ट रूप से, साफ-साफ देखते हैं, कि, इन शक्तियों में पशु मनुष्य से श्रेष्ठ है। उदाहरण के लिए, पशुओं की दृष्टि मनुष्य की दृष्टि से अधिक तीक्ष्ण है, उनकी श्रवणशक्ति अधिक तीव्र है और इसी तरह उनकी घ्राण तथा आस्वादन शक्तियाँ भी अधिक प्रखर हैं। संक्षेप में, जो शक्तियाँ पशु तथा मनुष्य में सामान्य हैं उनमें पशु प्रायः अधिक सक्षम हैं। स्मरणशक्ति का उदाहरण लीजिए: यदि आप किसी कबूतर को यहाँ से किसी दूर देश में ले जाकर छोड़ दें, तो वह मार्ग याद रखेगा और घर लौट आएगा। किसी कुत्ते को यहाँ से ले जाइए और एशिया के मध्य में छोड़ दीजिए, तो वह रास्ता भूले बिना वापस घर आ जाएगा। और यही बात श्रवण, दृष्टि, घ्राण, आस्वाद तथा स्पर्श जैसी अन्य शक्तियों के साथ है। इससे यह स्पष्ट है कि यदि मनुष्य में पशु की शक्तियों से परे कोई शक्ति न हो, तो पशु महत्वपूर्ण खोजों और यथार्थताओं की समझ में निश्चित मनुष्य से आगे बढ़ जाए। इस तर्क से यही निष्कर्ष निकलता है कि, मनुष्य एक ऐसी देन से सम्पन्न और ऐसी पूर्णता का धनी है जो पशु में मौजूद नहीं है।

6. इसके अतिरिक्त, पशु इन्द्रियगोचर वस्तुओं का बोध तो करता है, लेकिन वैचारिक यथार्थताओं का बोध नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए, पशु अपनी दृष्टि क्षमता की सीमा के भीतर देखता है, लेकिन जो कुछ उसके आगे है उसका बोध या धारणा नहीं कर सकता। इस प्रकार, पशु के लिए यह समझ पाना सम्भव नहीं है कि धरती गोलाकार है। लेकिन मनुष्य ज्ञात से अज्ञात का निर्णय करता है, और प्रच्छन्न यथार्थताओं को खोज निकालता है। इस प्रकार उदाहरणार्थ, मनुष्य धरती से सटे आसमान के झुकाव का निरीक्षण करके पृथ्वी की गोलाई का अनुमान कर सकता है। उदाहरण के लिए, अक्का में ध्रुवतारा 33 अंश पर है, अर्थात् यह क्षितिज पर 33 अंश झुका है। उत्तरी ध्रुव की ओर यदि कोई व्यक्ति जाए तो, प्रति अंश दूरी तय करने पर ध्रुवतारा क्षितिज पर एक अंश ऊपर उठ जाता है। अर्थात्, ध्रुवतारे का झुकाव 34 अंश पर पहुंचेगा, फिर 40, 50, 60 और 70 अंशों पर। उत्तरी ध्रुव में पहुंचने पर ध्रुवतारे का झुकाव 90 अंश होगा और वह अपने चरम बिन्दु पर दिखाई देगा, अर्थात् ठीक सिर के ऊपर।

7. अब, ध्रुवतारा गोचर यथार्थता है और ऐसा ही उसका उत्थान भी, अर्थात् यह तथ्य कि ध्रुव के जितना निकट कोई जाता है उतना ही ऊँचा ध्रुवतारा उठता है। और इन दो ज्ञात सच्चाइयों से एक अज्ञात सच्चाई पर से परदा उठता है, अर्थात् यह कि, आसमान झुके हुए हैं। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक अक्षांश पर क्षितिज के ऊपर आकाश दूसरे अक्षांश पर के आकाश से भिन्न है। मनुष्य इस सम्बन्ध को समझता है और इससे, पूर्व में अज्ञात एक तथ्य, अर्थात पृथ्वी की गोलाई के बारे में सोच-विचार करता है। लेकिन पशु के लिए यह समझना असम्भव है। इसी प्रकार पशु के लिए यह समझना भी असम्भव है कि सूर्य केन्द्र है और पृथ्वी उसकी परिक्रमा करती है। पशु इन्द्रियों का दास है, और उनसे सीमाबद्ध है। यद्यपि बाह्यगत शक्तियों एवं संवेदनाओं में पशु मनुष्य से बढ़कर है, फिर भी वह इन्द्रियों की पहुँच या नियंत्रण के बाहर की कोई बात नहीं समझ सकता। अतः यह स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि, मनुष्य एक अनुसंधान शक्ति से सम्पन्न है, जो उसको पशु से पृथक करती है और यह शक्ति और कुछ नहीं, बल्कि मानव चेतना ही है।

8. ईश्वर की स्तुति हो! मनुष्य सदैव बृहत्तर ऊँचाइयों तथा उच्चतर लक्ष्यों की आकाँक्षा करता है। वह सदैव उस जगत से, जिसमें वह निवास करता है, श्रेष्ठतर जगत को पाने की तलाश करता है और अपने अधिकृत दर्जे से ऊपर के दर्जे में चढ़ने का प्रयास करता है। उत्कर्ष के प्रति यह प्रेम मनुष्य के प्रमुख पहचान-चिह्नों में एक है। मैं चकित हूँ कि यूरोप और अमेरिका के कुछ दार्शनिक अपने आपको पशु क्षेत्र में गिराने और इस प्रकार पश्चगमन से संतुष्ट हुए हैं, जबकि अस्तित्व मात्र के लिए उन्नति की ही अभिलाषा करना सदैव आवश्यक है। और इस पर भी, आप उनमें से किसी को जानवर कहें, तो वह बहुत आहत और दुःखी होगा।

9. कितना अन्तर है मनुष्य-जगत और पशु-जगत में ! कितना अन्तर है मनुष्य की उच्चता और पशु की निम्नता में, मनुष्य की पूर्णताओं और पशु के अज्ञान में, मनुष्य के प्रकाश और पशु के अंधकार में, मनुष्य की उन्नति और पशु की अवनति में ! दस साल का अरब का बालक रेगिस्तान में दो-तीन सौ ऊंटों को अपने अधीन रखते हुए मात्र अपनी आवाज से इधर-उधर ले जा सकता है। कोई दुर्बल भारतीय, इसी प्रकार, किसी शक्तिशाली हाथी को ऐसे वश में कर सकता है कि वह कठोर आज्ञापालन से विवश होकर चलेगा। मनुष्य के हाथों सारी चीजें वशवर्ती हुई हैं और वह स्वयं प्रकृति से भी मुकाबला करता है।

10. अन्य सभी प्राणी प्रकृति के बंदी हैं, और अपने को वे उसकी अपेक्षाओं से मुक्त नहीं कर सकते। अकेला मनुष्य ही प्रकृति का सामना कर सकता है। इस तरह, प्रकृति सभी को पृथ्वी के केन्द्र की ओर खींचती है, लेकिन मनुष्य यंत्रों की सहायता से उस से दूर हट कर हवा में उड़ता है। प्रकृति मनुष्य को सागर पार करने से रोकती है, लेकिन मनुष्य जलयान बनाता है और विशाल महासागर के वक्षस्थल के आर-पार जाता है, इत्यादि अंतहीन है यह विषय। उदाहरण के लिए, पहाड़ों और मैदानों को वाहनों से पार करके मनुष्य एक स्थान पर पूर्व तथा पश्चिम की घटनाओं के समाचार एकत्र कर लेता है। इसी प्रकार मनुष्य प्रकृति का प्रतिरोध करता है। अत्यन्त विशाल होते हुए भी समुद्र प्रकृति के नियम से क्षणमात्र भर भी विचलित नहीं हो सकता। अत्यधिक वृहद् होते हुए भी सूर्य प्रकृति के नियम से सुई की नोंक के बराबर भी हट नहीं सकता और न वह कभी मनुष्य की अवस्थाएँ, दशाएँ, गुण, गतियाँ तथा स्वभाव को ही समझ सकता है। फिर कौन-सी शक्ति निवास करती है आदमी की अदना-सी काया में, जिसने यह सब अपनी परिधि में घेर कर रखा है? कैसी विजयिनी शक्ति है यह जो सारी चीजों को अपने वश में कर लेती है?

11. एक बात और है। आधुनिक दार्शनिक कहते हैं: “हमें तो आदमी में कोई चेतना दिखाई नहीं देती और हमने यद्यपि मानव शरीर की अन्तरतम रिक्त स्थानों की जांच की है, लेकिन कहीं किसी आध्यात्मिक शक्ति का बोध होता नहीं है। फिर हम उस शक्ति की कल्पना कैसे करें जो इन्द्रियातीत है?” धर्मविज्ञान के दार्शनिक उत्तर देते हैं: ‘‘पशु चेतना भी तो इंद्रियगम्य नहीं है और हमारी भौतिक शक्तियों से उसका अनुभव नहीं किया जा सकता। आप उसके अस्तित्व का अनुमान कैसे करते हैं? इसमें तो संदेह नहीं है कि आप उस शक्ति के प्रभावों से पशु में एक ऐसी शक्ति का अनुमान करते ही हैं जो वृक्ष में नहीं है और वह इन्द्रियों की शक्ति दृष्टि, श्रवण और अन्य शक्तियाँ हैं। इन ऐन्द्रिक क्षमताओं से आप यह अनुमान करते हैं कि एक पशु चेतना है। इसी प्रकार पूर्वोक्त चिह्नो तथा तर्कों से मानव चेतना के अस्तित्व का भी अनुमान कीजिए। इस प्रकार, पशु में पाये जाने वाले ये चिह्न वृक्ष में जब नहीं मिल सकते, तो आप कहते हैं कि ये ऐन्द्रिक शक्तियाँ पशु चेतना के प्रमाणक चिह्न हैं। इसी प्रकार से, आप मनुष्य में ऐसे चिह्न, शक्तियाँ तथा पूर्णताएँ देखते हैं जो पशुओं में नहीं हैं। इसी से अनुमान कीजिए कि मनुष्य में एक शक्ति है जो पशुओं में नहीं है।“

12. यदि हम वह सब अस्वीकार करें जो इन्द्रियों की पहुंच से परे है, तो हम उन यथार्थताओं को नकारने के लिए बाध्य होंगे जो निस्संदेह रूप से विद्यमान हैं। उदाहरण के लिए, ‘ईथर’ गोचर नहीं है, जब कि उसकी सत्ता सिद्ध की जा सकती है। गुरूत्वाकर्षण शक्ति गोचर नहीं है, किन्तु उसका अस्तित्व भी इसी प्रकार अकाट्य है। इनके अस्तित्व को हम स्वीकार कैसे करते हैं? उनके चिह्नों से। उदाहरण के लिए, यह प्रकाश कम्पनों से बना है, अतः हम इन कम्पनों से उसके अस्तित्व का भी अनुमान करते हैं।

**49**

**विकासक्रम और मनुष्‍य का अस्तित्व**

1. प्रश्न: प्राणियों के विकासक्रम के जिस सिद्धान्त का कुछ यूरोपीय दार्शनिक समर्थन करते हैं उसके सम्बन्ध में आप क्या कहेंगे ?

2. उत्तर: इस विषय पर हमने कुछ दिन पहले चर्चा की थी, लेकिन इसके बारे में हम फिर बताएंगे। संक्षेप में, यह प्रश्न प्रजातियों की मौलिकता या अमौलिकता के तथ्य से उत्पन्न होता है, अर्थात्, मानवजाति का तत्व उसके मूलोद्गम से ही निश्चित था, अथवा वह बाद में पशुओं से आया।

3. कुछ यूरोपीय दार्शनिकों की मान्यता है कि प्रजातियाँ क्रमशः विकसित होती हैं और वे परिवर्तित तथा अन्य प्रजातियों में रूपान्तरित भी हो सकती हैं। इस मत के समर्थन में जो प्रमाण वे देते हैं उनमें एक यह है कि भूगर्भ विज्ञान के सावधानीपूर्वक शोध तथा जांच-पड़ताल से हमें सुनिश्चित रूप से यह स्पष्ट पता चलता है कि पशु जगत के पहले वनस्पति जगत का अस्तित्व था और मनुष्यों से पहले पशु-जगत हुआ। इसके अतिरिक्त, वे यह भी मानते हैं कि वनस्पति जगत तथा पशु जगत दोनों रूपान्तरणों से गुजरे हैं, कारण कि पृथ्वी के किसी संस्तर में उन्हें कुछ पौधे मिले हैं जो अतीत में थे किन्तु अब विलुप्त हो गये हैं। इसका अर्थ यह है कि वे क्रमशः विकसित होकर अधिक सख्त हुए, और उनका आकार तथा रूप बदल गया। इस प्रकार वे प्रजातियाँ बदल गई हैं। इसी प्रकार धरती के संस्तर में कुछ पशु प्रजातियाँ हैं, जो परिवर्तित हुई हैं साँप, जिसके अंग कुण्डलीश्रम होते हैं, अर्थात ये चिह्न इस तथ्य के द्योतक हैं कि उसके कभी पैर थे, जो कालान्तर में लुप्त हो गये और बाद में मात्र एक अवशिष्ट यह इंगित करता है कि दूसरे पशुओं की भाँति मनुष्य कभी दुमधारी था, जिसके चिह्न अभी तक शेष हैं, ऐसा वे जोर देकर कहते हैं। किसी समय वह अंग उपयोगी था, लेकिन जब मनुष्य विकसित हुआ तो उसकी उपयोगिता समाप्त हो गई, और धीरे-धीरे वह अदृश्य हो गई। इसी प्रकार, जब सांप जमीन के नीचे रहने लगे और रेंगने वाले प्राणी बन गये, तो फिर उन्हें पैरों की आवश्यकता नहीं रही और धीरे-धीरे एक अवशेष छोड़कर वे गायब हो गए। उनका मुख्य प्रमाण यही है कि ये अवशिष्ट अंग पूर्व अंगों के अस्तित्व के प्रमाण हैं जो उपयोग के अभाव में धीरे-धीरे लुप्त हो गये हैं और उनके बने रहने से अब कोई लाभ या कोई कारण नहीं है। इस प्रकार, उचित और आवश्यक अंग शेष हैं, जब कि आवश्यक अंग प्रजातियों के रूपान्तरण के फलस्वरूप एक अवशेष छोड़कर धीरे-धीरे लुप्त हो गये।

4. इस तर्क का पहला उत्तर यह है कि पशुओं का मनुष्य से पहले होना इस बात का प्रमाण नहीं है कि मानव प्रजातियों का सारतत्व रूपान्तरित या उसमें हेर-फेर हुआ, या मनुष्य पशु जगत से आया। दीर्घकाल से माना जाता रहा है कि ये भिन्न-भिन्न प्राणी समय-समय पर आये, अतः यह सम्भव है कि स्वाभाविक रूप से पशुओं के बाद ही मनुष्य ने अस्तित्व ग्रहण किया हो। वनस्पति जगत में हम देखते हैं कि भिन्न वृक्षों में एक ही समय पर फल नहीं लगते हैं। इसके विपरीत मौसम आने पर कुछ में पहले और दूसरों में उसके पश्चात आते हैं। यह इस बात का प्रमाण नहीं है कि किसी वृक्ष के परवर्ती फल दूसरे वृक्ष के पूर्ववर्ती फलों से उत्पन्न हुए।

5. दूसरी बात यह कि, ये लघु चिह्न और अवशिष्ट अंग सम्भवतः किसी बड़ी सन्निहित बुद्धिमत्ता से युक्त हैं जिसे मानव अभी तक समझ नहीं सका है। कितनी ही वस्तुएँ इस जगत में देखने में आती हैं जिनमें सन्निष्टि विवेक को आज तक ग्रहण नहीं किया गया है। अतः शरीर विज्ञान अर्थात् शारीरिक अवयवों के सम्बन्धों का विज्ञान कहता है कि पशुओं और मनुष्य के बालों के रंगों में अन्तर, अथवा ओठों की लालिमा या पक्षियों के रंगों की विविधता का कारण और उनमें अन्तर्निहित विवेक अभी तक अज्ञात और गुप्त एवं प्रच्छन्न ही हैं। किन्तु यह ज्ञात हो गया है कि आँख की पुतली इसलिए काली होती है ताकि वह सूर्य-किरणों का अवशोषण कर सके। यदि वह किसी अन्य रंग की होती, जैसे पूरी तरह सफेद, तो वह इन किरणों को अवशोषित नहीं करती। अतः यह कल्पना भलीभाँति की जा सकती है कि जब तक उपर्युक्त वस्तुओं में अन्तर्विष्ट विवेक अज्ञात रहेगा, तब तक पशु या मनुष्य में अवशिष्ट अंगों का कारण और विवेक भी अज्ञात ही रहेगा। कोई तो सन्निहित विवेक निस्संदेह रूप से वर्तमान है, यद्यपि उसे जाना नहीं जा सकता।

6. तीसरी बात यह कि, यदि हम यह मान लें कि कुछ पशुओं या मनुष्य में भी कभी कुछ अंग थे जो लुप्त हो गये हैं, तो यह भी प्रजातियों के रूपान्तरण का पर्याप्त प्रमाण नहीं होगा। कारण कि भ्रूणावस्था के प्रारम्भ से परिपक्वता की प्राप्ति तक मनुष्य भिन्न-भिन्न स्वरूप एवं आकृतियाँ धारण करता है। उसकी आकृति, रूप, गठन तथा रंग बदलते रहते हैं, अर्थात वह एक-से-दूसरे स्वरूप में और एक-से-दूसरी आकृति से गुजरता है। तथापि भ्रूण के निर्माण काल से वह मानव प्रजाति का ही रहता है। अर्थात् वह किसी पशु का नहीं, बल्कि मनुष्य का ही भ्रूण रहता हैं आरम्भ में यह तथ्य दृष्टिगोचर नहीं होता है, परन्तु बाद में वह स्पष्ट और प्रत्यक्ष हो जाता है।

7. उदाहरण के लिए, हम मान लें कि मनुष्य कभी पशु की आकृति से मेल खाता था और उसके बाद क्रमशः विकसित और रूपान्तरित हुआ है। इस कथन की स्वीकृति से भी प्रजातियों का रूपान्तरण सिद्ध नहीं होता। बल्कि इसकी समता उन परिवर्तनों एवं रूपान्तरणों से की जा सकती है। जिनसे होकर पूर्ण विकास और परिपक्वावस्था तक मानव भ्रूण गुजरता है। और अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए, मान लीजिए कि मनुष्य कभी अपने हाथों और पैरों के बल चौपायों की भाँति चलता था या उसके एक दुम थी। यह परिवर्तन और रूपान्तरण माता के गर्भ में स्थित भ्रूण के समान ही है। पूर्ण तथा विकसित होने के पहले भ्रूण यद्यपि प्रत्येक सम्भव विधि से क्रमिक विकास की अवस्थाएँ पार करता है, किन्तु प्रारम्भ से ही वह विशिष्ट प्रजाति का होता है। यही वनस्पति जगत के लिए भी सत्य है, जहाँ हम यह देखते हैं कि प्रजातियों के मूल तथा विशिष्ट लक्षण नहीं बदलते, जबकि उसका रूप, रंग और परिमाण बदलता, रूपान्तरित और विकसित होता है।

8. सारांश यह कि, जिस प्रकार मनुष्य प्रारम्भ से ही मानव भ्रूण रहते हुए माता के गर्भ में प्रगति तथा विकास करता है और एक रूप तथा आकृति से दूसरी रूपाकृति ग्रहण करता है, उसी प्रकार मनुष्य एक सुनिश्चित तत्व भी रहा है, अर्थात् गर्भ-जगत में अपने निर्माण के आरम्भ से ही मानव प्रजाति ही रहा है और धीरे-धीरे एक-से-दूसरे स्वरूप में आया है। इसका अर्थ है कि यह आकृति-परिवर्तन, यह अंग-विन्यास और यह सम्वृद्धि तथा विकास प्रजातियों की मौलिकता का पूर्वाभास नहीं देते हैं। अस्तु, विकास और प्रगति की वास्तविकता को स्वीकारते हुए भी, अपने आविर्भाव के क्षण से ही मनुष्य परिपूर्ण संघटन से सम्पन्न रहा है। उसने भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों पूर्णताओं को प्राप्त करने, और पवित्र, “हम मनुष्य को अपनी छवि में अपनी ही सादृश्यता में बनाएँ”131 का मूर्तिमान स्वरूप बनने की क्षमता एवं शक्ति रखी है। अधिक-से-अधिक, वह पहले से अधिक रमणीक, अधिक परिष्कृत और अधिक मनोहर बना है और सभ्यता की महिमा से वह अपनी वन्य दशा से उसी प्रकार निकल आया है जैसे जंगली फल माली की बागवानी से अधिक उत्तम और मधुर बन जाते हैं और कहीं अधिक मृदुता एवं जीवन-शक्ति प्राप्त कर लेते हैं।

9. मानव जगत के माली ईशदूत होते हैं।

**50**

**मनुष्‍य की मौलिकता के आध्यात्मिक प्रमाण**

1. मानव प्रजाति की मौलिकता के सम्बन्ध में अभी तक जो तर्क हमने प्रस्तुत किए हैं वे तर्कसंगत या बुद्धिसंगत तर्क थे। अब हम आध्यात्मिक तर्क देंगे जो वस्तुतः आधारभूत तर्क हैं। हमने बुद्धिसंगत तर्कों से ईश्वर की सत्ता प्रतिष्ठापित की थी और इसी प्रकार बुद्धिसंगत तर्कों से यह तथ्य भी स्थापित किया था कि अपने आदि और अपने मूल उद्गम से ही मानव सदैव मानव रहा है और उसकी प्रजाति का तत्व शाश्वतकाल से अस्तित्व में है। अब हम इसके आध्यात्मिक प्रमाण प्रस्तुत करेंगे कि मानव अस्तित्व - अर्थात् मानवजाति एक आवश्यक सत्ता है, और मनुष्य के अभाव में ईश्वरत्व की परिपूर्णताएँ उजागर नहीं हो सकतीं। लेकिन ये तर्क बुद्धिसंगत नहीं, बल्कि आध्यात्मिक हैं।

2. प्रमाणों तथा तर्कों की सहायता से हमने बार-बार यह सत्य स्थापित किया है कि मनुष्य सभी प्राणियों में श्रेष्ठतम और सभी पूर्णताओं का समाहार है। वस्तुतः सभी अस्तित्वमान् वस्तुएँ दिव्य ऐश्वर्यों के प्रकटीकरण का अधिष्ठान हैं, अर्थात ईश्वर की दिव्यता के चिह्न सभी वस्तुओं के यथार्थों में प्रकटित हैं। जैसे पृथ्वी वह स्थान है जहाँ सूर्य-किरणें पड़ती हैं। तात्पर्य यह कि सूर्य का प्रकाश, ऊष्मा तथा प्रभाव धरती के प्रत्येक अणु में सुस्पष्ट और प्रकट है। इसी प्रकार इस असीम अंतरिक्ष में ब्रह्माण्ड का प्रत्येक कण ईश्वर की एक पूर्णता की घोषणा करता है। कुछ भी इससे वंचित नहीं है। प्रत्येक वस्तु ईश्वर की दयालुता, या उसकी शक्ति, या उसकी महानता, या उसके न्याय, अथवा उसके सम्पोषक विधान, या उसकी उदारता, या उसकी दृष्टि, या उसकी श्रवणशक्ति, अथवा उसके ज्ञान या उसकी कृपा इत्यादि का एक प्रतीक है।

3. हमारा तात्पर्य यह है कि प्रत्येक अस्तित्वधारी वस्तु आवश्यक रूप से दैवीय महिमाओं के प्रकटीकरण का आधार है, अर्थात् ईश्वर की पूर्णताएँ उसमें व्यक्त और गोचर हैं। यह इसी प्रकार है जैसे सूर्य मरूभूमि, सागर, वृक्षों, फलों, फूलों - सभी पार्थिव वस्तुओं पर चमकता है। अब, अस्तित्व-जगत अर्थात् जो समस्त दैवीय पूर्णताओं के प्रकटीकरण का अधिष्ठान है। अर्थात्, जिन नामों, गुणों तथा पूर्णताओं का आरोप हम ईश्वर में करते हैं उनका एक चिह्न मनुष्य में मौजूद है। अगर ऐसा न होता तो वह इन पूर्णताओं की कल्पना करने या उनको समझने में समर्थ न होता। उदाहरण के लिए, हम कहते हैं कि ईश्वर सर्वदर्शी है। नेत्र उसकी दृष्टि का प्रतीक है। मनुष्य में यदि इस शक्ति का अभाव होता, तो ईश्वर की दृष्टि की कल्पना हम कैसे कर पाते? कारण कि, जन्म से अंधा व्यक्ति कल्पना ही नहीं कर सकता कि देखना होता क्या है। इसी प्रकार जन्म से गूंगा-बहरा व्यक्ति यह नहीं समझ सकता कि सुनना क्या होता है, या कोई निर्जीव यह नहीं जान सकता कि जीवित रहना क्या है।

4. इस प्रकार, ईश्वर का ईश्वरत्व जो समस्त पूर्णताओं का समुच्चय है, मानव-यथार्थ में प्रकट होता है - अर्थात् दैवीय तत्व सभी पूर्णताओं का कुल योग है और इसी स्थान से वह अपनी दीप्ति की एक किरण मानव तत्व पर डालता है। दूसरे शब्दों में, ‘सत्य का सूर्य’ इस दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है। इस प्रकार, मनुष्य ‘सत्य का सूर्य’ के सम्मुख एक पूर्ण दर्पण और उसके प्रतिबिम्बन का एक अधिष्ठान है। सभी दैवीय पूर्णताओं का प्रकाश मानव तत्व में व्यक्त होता है और इसी कारण वह ईश्वर का प्रतिनिधि और देवदूत है। अगर मनुष्य न हो तो विश्व-ब्रह्माण्ड निष्फल हो जाए, क्योंकि अस्तित्व का प्रयोजन ही दिव्य पूर्णताओं का प्रकटीकरण है। अतः हम यह नहीं कह सकते कि किसी समय में मनुष्य नहीं था। हम अधिक से अधिक इतना ही कह सकते हैं कि एक समय ऐसा था जब पृथ्वी नहीं थी और आरम्भ में उस पर मनुष्य मौजूद नहीं था।

5. किन्तु अनादि आदि से लेकर अनन्त अन्त तक एक परिपूर्ण ‘प्राकट्य’ सदैव अस्तित्व में रहा है। यह ‘मनुष्य’ जिसकी हम यहाँ चर्चा कर रहे हैं, कोई वह आदमी नहीं है जिससे ‘परिपूर्ण मनुष्य’ का हमारा अभिप्राय है। क्योंकि वृक्ष का श्रेष्ठतम भाग और उसके अस्तित्व का मूलभूत प्रयोजन फल होता है। फलहीन वृक्ष किसी काम का नहीं होता। इसलिए यह कल्पना नहीं की जा सकती कि उर्ध्‍व या अधोलोकों को में कोई अस्तित्व जगत कभी गायों और गधों से, चूहों तथा बिल्लियों से बसा होने के बावजूद मनुष्य की उपस्थिति से वंचित रहा। कैसा मिथ्या और खोखला मत!

6. ईश्वर का शब्द सूर्य की भाँति सुस्पष्ट है। यह आध्यात्मिक तर्क है, किन्तु इसे भौतिक दर्शनशास्त्रियों के सामने आरम्भ में नहीं रखा जा सकता। बल्कि, पहले हमें बौद्धिक तर्क प्रस्तुत करने होंगे और उसके बाद ही आध्यात्मिक तर्कों की प्रस्तुति की जानी चाहिए।

**51**

**मनुष्‍य में चेतना और मस्तिष्‍क का आविर्भाव**

1. प्रश्न: मानवजाति में मन-बुद्धि और चेतना का उदय धरती पर उसके सम्वर्धन तथा विकास के प्रारम्भ के साथ ही हुआ, अथवा यह एक क्रमिक प्रक्रिया थी? यदि यह उपलब्धि क्रमशः कालान्तर में हुई तो ऐसा अल्पकाल में हुआ या दीर्घ कालोपरान्त?

2. इस भूमण्डल पर मनुष्य के निर्माण का प्रारम्भ माता के गर्भ में भ्रूण के निर्माण के समान ही है। जन्म होने तथा भ्रूण धीरे-धीरे बढ़ता और विकसित होता है और जन्म लेने के बाद भी वह तब तक बढ़ता तथा विकसित होता रहता है जब तक वह परिपक्व अवस्था प्राप्त नहीं कर लेता। शैशवकाल में यद्यपि मन और चेतना के चिह्न पहले से ही मनुष्य में रहते हैं लेकिन पूर्णता की दशा में दिखाई नहीं देते और अपूर्णावस्था में रहते हैं। लेकिन मनुष्य के परिपक्वास्था प्राप्त कर लेने पर मन तथा चेतना चरम पूर्णता के साथ प्रत्यक्ष हो जाते हैं।

3. इसी प्रकार, इस जगत रूपी गर्भ में अपने निर्माण के आरम्भ में, मनुष्य एक भ्रूण जैसा था। धीरे-धीरे क्रमशः उसने प्रगति की, वर्धित-विकसित होते हुए परिपक्वावस्था प्राप्त की और इस अवस्था में मन-बुद्धि और चेतना आत्यधिक परिपूर्णता के साथ प्रकट हो गए। मन और चेतना तो उसमें उसके निर्माण काल के आरम्भ से ही थे, किन्तु गुप्त थे और बाद में ही दिखाई दिए। गर्भ-जगत में भी मन तथा चेतना भू्रणावस्था में होते हैं किन्तु अप्रकट रहते हैं और बाद में ही प्रकट होते हैं। यह ऐसा ही है जैसे बीज: उसके भीतर वृक्ष होता है लेकिन गुप्त और छिपा होता है। बीज जब उगता और विकसित होता है तब वृक्ष अपने सम्पूर्ण स्वरूप में प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार से, सभी प्राणी क्रमिक सोपानों द्वारा वृद्धि और विकास प्राप्त करते हैं। यह विश्व व्यापी और दिव्यतः निर्दिष्ट विधान तथा प्राकृतिक व्यवस्था है। बीज एकाएक वृक्ष नहीं बन जाता है, भ्रूण एकदम मनुष्य नहीं बन जाता, खनिज पदार्थ पल भर में पत्थर का रूप धारण नहीं करता है। ये सब धीरे-धीरे बढ़ते और विकसित होते हैं और अंत में पूर्णत्व की सीमा तक जा पहुंचते हैं।

4. प्राणी विशेष हो या वैश्विक स्तर पर सामान्य प्राणीजन - सभी प्रारम्भ से ही परिपूर्ण और सम्पूर्ण रूप से उत्पन्न किए गए। अधिक से अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि उनकी पूर्णताएँ धीरे-धीरे ही दृष्टिगोचर होती हैं। ईश्वरीय विधान एक है, अस्तित्व का विकासक्रम एक है और दैवीय व्यवस्था भी एक है। बड़े और छोटे सभी प्राणी एक विधान और एक व्यवस्था के अधीन हैं। प्रत्येक बीज में शुरू से ही वृक्ष की सभी पूर्णताएँ होती हैं। उदाहरण के लिए, इस बीज में सभी वानस्पतिक पूर्णताएँ प्रारम्भ से ही विद्यमान थीं, लेकिन वे अदृश्य थीं और क्रमशः दृष्टिगोचर हुई। इस प्रकार बीज से पहले अंकुर निकलता है, फिर शाखाएँ, पत्तियाँ और फूल और अन्त में फल आते हैं। लेकिन बीज के निर्माण के आरम्भ में ही, ये सभी उसमें सम्भावित रूप में थे, भले ही वे बीज में अदृश्य थे। इसी प्रकार, भ्रूण में प्रारम्भ से ही सभी पूर्णताएँ रहती हैं, जैसे चेतना, मन, दृष्टि, गंध और स्वाद। एक शब्द में कहें तो ये सभी शक्तियाँ भ्रूण में अन्तर्निहित होती हैं, किन्तु वे अदृश्य होती हैं और धीरे-धीरे ही प्रकाश में आती हैं।

5. इसी प्रकार, इस भूमण्डल की रचना हुई। आरम्भ से ही उसके सभी तत्व, पदार्थ, खनिज, अंग तथा अवयव उसमें थे, लेकिन वे क्रमशः ही प्रकट हुए। सर्वप्रथम खनिज दृष्टिगत हुए, तत्पश्चात् वृक्ष, फिर पशु और अंत में मनुष्य। लेकिन आरम्भ से ही ये प्रकार और प्रजातियाँ भूक्षेत्र में समाए थे और बाद में क्रमशः उजागर हुए। कारण कि, सर्वोच्च ईश्वरीय विधान तथा विश्वव्यापी प्रकृत व्यवस्था की परिधि में सभी वस्तुएँ हैं और इस नियम के अधीन हैं। इस सार्वभौम व्यवस्था पर जब आप विचार करते हैं, तब आप देखते हैं कि कोई भी वस्तु उत्पन्न होते ही तुरन्त पूर्णत्व की सीमा पर नहीं पहुंचती है, बल्कि क्रमशः सम्वर्द्धित एवं विकसित होते हुए वह अवस्था प्राप्त करती है।

**52**

**चेतना का शरीर में प्रकटन**

1. शरीर में चेतना के प्रकट होने के पीछे कौन-सा विवेक है?

2. शरीर में चेतना के प्राकट्य का विवेक यह है: मानव चेतना दैवीय धरोहर है जिसे प्रत्येक अवस्था को पार करना होगा, क्योंकि अस्तित्व के सोपानों से होकर गुजरना और उनके पार जाना ही उसका पूर्णताएँ प्राप्त करने का साधन है। उदाहरण के लिए, जब कोई व्यक्ति सुव्यवस्थित और क्रमबद्ध तरीके से अनेक भिन्न-भिन्न देशों तथा क्षेत्रों की यात्रा करता है तो यह निश्चित रूप से पूर्णताएँ प्राप्त करने का साधन होगा। क्योंकि यह प्रथमतः विभिन्न स्थल, दृश्य अथवा क्षेत्र देखेगा, दूसरे देशों के कार्यकलापों और परिस्थितियों के बारे में जानेगा, अन्य भूभागों के भूगोल से परिचित होगा, उनकी कलाओं तथा अचरजों से अवगत होगा, उन स्थानों के निवासियों की प्रथाओं, व्यवहार तथा चरित्र की जानकारी प्राप्त करेगा, तत्कालीन सभ्यता एवं प्रगति का साक्षात्कार करेगा, और हर देश की सरकार की राज-नीति, क्षमता तथा ग्रहणशीलता से सूचित होगा। इसी प्रकार, मानव चेतना जब अस्तित्व की विभिन्न श्रेणियों को पार करती है और प्रत्येक श्रेणी तथा अवस्थान पर पहुँचती है - शरीर के भी सोपानों पर - तो निश्चित रूप से वह पूर्णताएँ प्राप्त करती है।

3. इसके अतिरिक्त, यह आवश्यक है कि चेतना के आदर्शों के चिह्न इस संसार के सामने आएँ ताकि सृष्टि क्षेत्र अन्तहीन फलों की उत्पत्ति कर सके, और सापेक्ष जगत का यह शरीर नवजीवन से सम्पन्न होकर दिव्य अनुग्रह दर्शा सके। जैसे, उदाहरण के लिए, सूर्य की किरणों के लिए धरती पर चमकते हुए अपनी ऊष्मा से सभी पार्थिव प्राणियों को सम्पोषित करना आवश्यक है। यदि सूर्य की किरणें तथा ऊष्मा पृथ्वी तक न पहुँचे, तो वह व्यर्थ और उजाड़ हो जाए और उसका विकास रूक जाए। इसी प्रकार, चेतना के आदर्श अगर इस संसार में प्रकट न हों तो वह अंधकारमय और पूर्णतया पशुधर्मी हो जाए। भौतिक शरीर में चेतन तत्व की उपस्थिति से ही यह संसार प्रकाशित होता है। जिस प्रकार मानव-चेतना मानव-काया के जीवन का हेतु है, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत एक शरीर के समान और मनुष्य उसकी चेतना जैसा है। यदि मनुष्य न हो, यदि चेतना की परिपूर्णताएँ प्रत्यक्षीकृत न हों और मन-बुद्धि का प्रकाश इस दुनिया में न चमके, तो यह संसार चेतनारहित शरीर की भाँति हो जाए।

4. एक अन्य प्रतीक के अर्थ में, यह संसार एक वृक्ष और मनुष्य फल की भाँति है। फलहीन वृक्ष किसी काम का नहीं होगा।

5. यही नहीं, मनुष्य में पाए जाने वाले अंग, उसके संरचनात्मक भाग और संघटन, चुम्बक की तरह काम करते और चेतना को आकर्षित करते हैं। चेतना उसमें प्रकट होने के लिए बाध्य होती है। इस प्रकार, जब कोई दर्पण पालिशयुक्त (परिष्कृत) होता है, तो वह सूर्य-किरणों को आकर्षित करने, दीप्तिमान् होने, और शानदार प्रतिरूप प्रतिबिम्बित करने के लिए बाध्य होता है। अर्थात्, जब ये भौतिक तत्व एकत्र होकर आपस में संयुक्त होते हैं, तो प्राकृतिक व्यवस्था के अनुसार और परम पूर्णत्व से युक्त, वे चेतना के लिए चुम्बक बन जाते हैं और चेतना अपनी सभी शक्तियों के साथ उसके भीतर प्रकटित होती है।

6. इस परिप्रेक्ष्य में कोई यह नहीं पूछता है कि सूर्य-किरणों के दर्पण पर पड़ने की क्या आवश्यकता है? कारण कि आध्यात्मिक या भौतिक सभी वस्तुओं के तत्वों को एकसूत्र में आबद्ध करने वाले सम्बन्धों के लिए यह अपेक्षित है जब दर्पण परिष्कृत हो और सूर्य की ओर उन्मुख हो तो वह अपनी किरणों को उसमें प्रकट करेगा। इसी प्रकार, जब तत्व उच्चतम व्यवस्था, क्रमबद्धता और विधि के अनुसार संयुक्त एवं सम्मिश्रित होते हैं तो मानव चेतना स्वयं को उसमें प्रकट करती है। ऐसा ही उस सर्वमहिमामय, सर्वप्रज्ञ का परमादेश है।

**53**

**ईश्‍वर और उसकी सृष्टि में सम्बन्ध**

1. प्रश्न: अपनी सृष्टि के साथ ईश्वर के सम्बन्ध का स्वरूप क्या है? उस परम सत्ता और उस अगम्य का अन्य सभी प्राणियों के साथ कैसा संयोजन है?

2. उत्तर: ईश्वर का उसकी सृष्टि के साथ वही सम्बन्ध है जो सृजनकर्ता और सृजित के बीच, सूर्य तथा विश्व-ब्रह्माण्ड के अंधकारमय पिण्ड समूहों के बीच, और शिल्पकार तथा उसकी दस्तकारी के बीच होता है। सूर्य अपना प्रकाश ग्रहण करने वाले सभी पिण्ड समूहों से स्वतंत्र, न केवल तत्वतः निर्मल है, बल्कि उसका प्रकाश भी तत्वतः धरती से मुक्त एवं निर्मल है। इस प्रकार, पृथ्वी यद्यपि सूर्य से सम्पोषण प्राप्त करती है और उसके प्रकाश की प्रापक है, तथापि सूर्य और उसकी किरणें उससे परे निर्मल हैं। लेकिन यदि सूर्य ही न होता, तो यह भूमि और भूमण्डलीय जीवन नहीं होता।

3. ईश्वर से सृष्टि का प्रसरण निस्सरण के जरिए होने वाला प्रसरण है। तात्पर्य यह कि सृष्टि ईश्वर से निस्सरित होती है, यह उसको प्रकट नहीं करती। अतः सम्बन्ध प्रसरण का है, प्राकट्य का नहीं। सूर्य का प्रकाश सूर्य से निस्सरित होता है, निस्सरण के जरिए प्रकटन132 सूर्य से किरणों के प्रकटन के समान होता है। सत्य-सूर्य का निर्मल तत्व सृष्टि की दशा में विभाजित नहीं हो सकता और न उस दशा में उतर सकता है। उसी प्रकार, सूर्य अपने टुकड़े नहीं करता है और न धरती पर उतरता ही है, किन्तु उसकी किरणें - उसकी भव्यता के निस्सरण - उससे निकलती हैं और अंधेरे पिण्ड़ों को प्रकाशित करती हैं।

4. लेकिन प्रत्यक्ष दर्शन के जरिए होने वाला प्रकटन बीज से शाखाओं, पत्तियों, फूलों और फलों के प्रत्यक्षीकरण के समान होता है। क्योंकि बीज स्वयं शाखाएँ तथा फल बन जाता है और उसका तत्व उनमें उतर आता है। यह प्रत्यक्षीकृत प्रकटन उस परमोच्च के लिए नितान्त असम्भव और निरी अपूर्णता ही होगा, क्योंकि इसके लिए बेशर्त पूर्वाभाव की उत्पादित की वृत्तियाँ ग्रहण करने की, परम स्वतंत्रता भाव को दयनीय निर्धनता बनने की तथा अस्तित्व के सारतत्व को विशुद्ध अस्तित्वहीनता बनने की अपेक्षा होगी और यह किसी भी तरह सम्भव नहीं है।

5. निष्कर्ष यह है कि सभी वस्तुएँ ईश्वर से निस्सरित हुई हैं। अर्थात् ईश्वर के ही माध्यम से सारी चीजें साकार हुई हैं और उसी के जरिए यह सापेक्ष जगत अस्तित्व में आया है। ईश्वर से निस्सरित प्रथम वस्तु वह सार्वभौम यथार्थ है जिसे प्राचीन दार्शनिकों ने “प्रथम बुद्धि” कहा था और जिसे बहाजन “आदि इच्छा” कहते हैं। ईश्वरीय जगत में अपने कार्य के सम्बन्ध से, यह निस्सरण देश या काल से परिसीमित नहीं है और न इसका आदि है न अन्त ही है, क्योंकि ईश्वर के सम्बन्ध में आदि और अन्त एक ही वस्तु है। ईश्वर का पूर्व-अस्तित्व (या पूर्वास्तित्व) अनिवार्य है और अल्पकालिक भी, जबकि सापेक्ष जगत का उद्भव आवश्यक तो है किन्तु अल्पकालिक नहीं - जैसाकि हमने पहले ही एक दिन भोजन के समय बताया है।

6 यद्यपि ‘प्रथम बुद्धि’ अनादि है लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि वह ईश्वर के पूर्व-अस्तित्व में सहभागी है, क्योंकि ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में यह सार्वभौम ‘यथार्थ’ शून्य मात्र है। ईश्वर के पूर्व-अस्तित्व में भाग लेने की बात तो दूर, उसका अस्तित्व होना भी नहीं कहा जा सकता। इसका स्पष्टीकरण एक पिछले अवसर पर किया गया था।

7 जहाँ तक सृजित वस्तुओं की बात है, संघटन में उनका जीवन और विघटन में उनकी मृत्यु है। लेकिन पदार्थ और सार्वभौमिक तत्व पूर्णतया नष्ट नहीं हो सकते। उनका लुप्त होना सम्भव नहीं है। बल्कि, उनका लोप रूपान्तरण मात्र है। उदाहरण के लिए, जब आदमी मृत्य को प्राप्त होता है तो उसका शरीर धूल समान बन जाता है, लेकिन शरीर सर्वथा अस्तित्वहीन नहीं होता है। वह खनिज अस्तित्व को बनाए रखता है, लेकिन एक रूप-परिवर्तन घटित होता है कि एक संघटन विघटन के अधीन हो जाता है। सभी दूसरे प्राणियों के लोप के सम्बन्ध में भी यही सत्य है, क्योंकि अस्तित्व सर्वथा अनस्तित्व नहीं बनता है और अनस्तित्व कभी अस्तित्व नहीं प्राप्त करता है।

**54**

**ईश्‍वर से मानव चेतना का प्रसरण**

1. प्रश्न: मानव चेतना किस प्रकार ईश्वर से अग्रसर होती है, क्योंकि तौरेत में कहा गया है कि ईश्वर ने मनुष्य के शरीर में चेतना का संचार किया?134

2. उत्तर: यह समझो कि प्रसरण दो प्रकार का होता है: निस्सरण द्वारा प्रसरण एवं प्रकटन और साकार स्वरूपग्रहण द्वारा प्रसरण एवं प्रकटन। निस्सरणीकृत प्रसरण उसके प्रवर्तक की दस्तकारी का प्रसरण है। उदाहरण के लिए, लेखक से लेखन प्रसरित होता है। अस्तु, जैसे लेखक से लेखन और वक्ता से वक्तृता निस्सरित होते हैं, ठीक उसी प्रकार ईश्वर से मानव चेतना निस्सरित होती है। लेकिन इसका प्राकट्य नहीं होता, अर्थात् दैवीय तत्व का कोई अंश मानव काया में प्रविष्ट होने के लिए पृथक नहीं हुआ है। वक्ता से जैसे व्याख्यान निकलता है, उसी तरह मानव चेतना निस्सरित होकर मानव शरीर में प्रत्यक्ष हुई है।

3. यह जो प्रत्यक्षीकृत प्रसरण है, वह किसी वस्तु सत्ता की दूसरे स्वरूपों में अभिव्यक्ति है, जैसे बीजों से इस वृक्ष या इस फूल का प्रसरण। क्योंकि बीज ही शाखाओं, पत्तियों और फूलों के स्वरूप में प्रत्यक्ष हुआ है। यह प्रत्यक्षीकृत प्रसरण कहा जाता है।

4. मानव चेतनाएँ निस्सरण द्वारा ईश्वर से अग्रसर होती हैं, उसी प्रकार जैसे वक्ता से वक्तृता और लेखक से लेखन अग्रसारित होता है। अर्थात्, स्वयं वक्ता व्याख्यान नहीं बनता है और लेखक अपना लेखन नहीं हो जाता। सम्बन्ध अपेक्षाकृत निस्सणात्मक प्रसरण का होता है। कारण कि, वक्ता वक्तृता निस्सरित होते समय वह योग्यता तथा शक्ति की परिपूर्ण दशा में बना रहता है, जैसे कोई कार्य उसके कर्ता से निकलता है। वह सच्चा ‘वक्ता’, वह दैवीय तत्व, सदा एक दशा में रहता है और कोई परिवर्तन या हेर-फेर, कोई रूपान्तर या उतार-चढ़ाव उसमें घटित नहीं होता। उसका न आदि है और न अंत। इसलिए ईश्वर से होने वाला मानव चेतनाओं का प्रसरण एक निस्सरणात्मक प्रसरण होता है। जब तौरेत में यह कहा जाता है कि ईश्वर ने मनुष्य में अपनी चेतना फूंकी, तब यह चेतना उस वक्तृता जैसी ही होती है जो उस सच्चे ‘वक्ता’ से निस्सरित होकर मानव सत्ता में प्रभावी होती है।

5. अब, हम यदि प्रत्यक्षीकृत प्रसरण को “खण्डों में विभाजन” की अपेक्षा “प्रकटन” के रूप में समझें तो जैसाकि हमने पहले ही कहा है, यह ‘पावन चेतना’ और ‘शब्द’ के प्रकटन और प्रसरण का वह तरीका है जो ईश्वर से होता हैं। जॉन की गॉस्‍पल में कहा गया है, “प्रारम्भ में शब्द था और वह शब्द ईश्वर युक्त था।”135 तब निष्कर्ष यह निकलता है कि पावन चेतना और शब्द ईश्वर का प्रकटन है और उनमें दिव्य पूर्णताएँ समाहित हैं जो ईसा की सत्ता में प्रदीप्त हुईं। और ये पूर्णताएँ उसी तरह ईश्वर युक्त थीं, जैसे सूर्य जो अपनी सम्पूर्ण भव्यता किसी दर्पण में व्यक्त करता है। कारण कि, “शब्द” से तात्पर्य ईसा का शरीर नहीं, बल्कि वे दिव्य पूर्णताएँ हैं जो उसमें अभिव्यक्त हुई थीं। इस प्रकार ईसा एक स्वच्छ दर्पण के समान थे जो सत्य रूपी सूर्य की ओर उन्मुख थे और सूर्य की पूर्णताएँ, अर्थात् उसका प्रकाश और ऊष्मा, उस दर्पण में स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष हुए। जब हम दर्पण में देखते हैं तो सूर्य दिखायी देता है और हम कहते हैं कि यह सूर्य है। इसलिए शब्द और पावन चेतना जो ईश्वर की पूर्णताओं में हैं, दिव्य प्रकटन हैं। यह गॉस्‍पल के उस अनुवाक्य का तात्पर्य है जिसमें कहा गया है: “शब्द ईश्वरमय था और शब्द ही ईश्वर था।”136 कारण कि, दैवीय पूर्णताओं को दैवीय तत्व से पृथक नहीं किया जा सकता। ईसामसीह की पूर्णताओं को भी ‘शब्द’ कहा जाता है क्योंकि सभी उत्पन्न हुई वस्तुएँ व्यष्टिगत अक्षरों जैसी हैं और वैयक्तिक अक्षर कोई पूर्ण अर्थ वहन नहीं करते हैं। ईसा की पूर्णताएँ एक सम्पूर्ण शब्द के समान है, और किसी शब्द से एक पूरा-पूरा अर्थ निकाला जा सकता है। ईसामसीह की सत्ता जिस प्रकार दैवीय पूर्णताओं का प्रत्यक्षीकरण थी, उसी प्रकार वह एक शब्द भी थी। क्यों? क्योंकि उसमें एक सम्पूर्ण अर्थ समाविष्ट था और इसीलिए उसे ‘शब्द’ कहा गया है।

6. ईश्वर से पावन चेतना और शब्द का प्रसरण एक प्रत्यक्षीकरण प्रसरण तथा प्रकटन है। और यह जान लो कि इसका अर्थ यह नहीं है कि ईश्वरीय तत्व विभाजित या अभिवृद्ध हो गया है, या विशुद्धता और निर्मलता के अपने शिखरों से नीचे उतर आया है। ईश्वर न करें ! यदि एक स्वच्छ तथा निर्मल दर्पण सूर्य के सामने रखा जाए, तो सूर्य का प्रकाश तथा ऊष्मा, उसका स्वरूप तथा छवि उसमें इतने प्रत्यक्ष प्रकट रूप में दिखाई देंगे कि देखने वाला अगर यह कहे कि “यह सूर्य है,” तो वह सत्य ही कहेगा। लेकिन दर्पण तो दर्पण है और सूर्य, सूर्य है। सूर्य मात्र एक सूर्य है और अनेकानेक दर्पणों में दिखाई देने पर भी वह एक ही रहता है। यहाँ अन्तर्निष्ठता, निर्गमन, मिश्रण या अवरोहण के लिए कोई स्थान नहीं है, क्योंकि निर्गमन, पश्चगमन, अन्तर्निष्ठता, अवरोहण और परस्पर सम्मिश्रण चेतनाओं के नहीं, शरीरों के लक्षण एवं अपेक्षाएँ हैं - फिर, पवित्र और निर्मल ईश्वरीय सत्ता के लिए तो और भी कम। ईश्वर की पावनता तथा निर्मलता के योग्य जो कुछ भी है वह उस सबसे परे महिमामण्डित है और अपनी परमोत्कृष्टता की ऊँचाइयों में परमोच्च है।

7. जैसाकि हमने कहा है, सत्य-सूर्य सर्वदा एक ही दशा में रहा है और उसमें कोई परिवर्तन या हेर-फेर नहीं होता और न कोई रूपान्तर या उतार-चढ़ाव ही होता है। न तो उसका आदि है और न अन्त। बल्कि ईश-शब्द की निर्मल सत्ता भी किसी स्वच्छ, निर्दोष और चमकीले दर्पण जैसी होती है जिसमें सत्य-सूर्य का ऊष्मा तथा प्रकाश, उसका स्वरूप तथा छवि - कहने का तात्पर्य यह कि उसकी पूर्णताएँ - प्रतिबिम्बित होती है। इसीलिए ईसामसीह गॉस्‍पल में कहते हैं, “पिता पुत्र में है,”137 तात्पर्य यह कि सत्य-सूर्य इस दर्पण में देदीप्यमान होकर चमक रहा है। महिमान्वित हो वह जिसने अपनी भव्यता इस सत्ता पर डाली है जो सभी उत्पन्न हुई वस्तुओं से बढ़कर निर्मल है !

**55**

**मन, चेतना और आत्मा**

1. प्रश्न: मन, चेतना और आत्मा में क्या अन्तर है?

2. उत्तर: यह पहले ही बताया जा चुका है कि चेतना सामान्यतः पांच वर्गो में विभक्त है: वनस्पति चेतना, पशु चेतना, मानव चेतना, आस्था की चेतना और ‘पावन चेतना।138

3. वनस्पति चेतना सम्वर्धन की वह शक्ति है जो अन्य सृजित वस्तुओं के प्रभाव से बीज में उत्पन्न होती है।

4. पशु चेतना वह सर्वग्राही संवेदी शक्ति है जो भौतिक तत्वों के संयोजन तथा सम्मिश्रण से व्यक्त होती है। जब यह संयोजन विघटित होता है तो चेतना भी नष्ट होकर अस्तित्वहीन हो जाती है। इसकी समानता इस दीपक से की जा सकती है। जब तेल, बत्ती और लौ एकत्र कर संयुक्त कर दिए जाते हैं तो यह प्रकाशित हो जाता है और जब यह संयोजन विघटित होता है, अर्थात् संघटक अवयव एक दूसरे से पृथक् होते हैं - तो दीपक भी बुझ जाता है।

5. जो मानव चेतना मनुष्य को पशु से पृथक करती है, यह बुद्धिसंगत आत्मा होती है। और ये दो शब्द - मानव चेतना तथा बुद्धिसंगत आत्मा - एक ही वस्तु के दो नाम हैं। यह चेतना, जिसे दार्शनिकों की शब्दावली में बुद्धिसंगत आत्मा कहा जाता है, सभी वस्तुओं को परिवेष्टित करती है और मानव क्षमता के लिए जहाँ तक सम्भव होता है, उनके यथार्थों का अनुसंधान करती है तथा पार्थिव वस्तुओं के गुणों एवं प्रभावों से, लक्षणों तथा दशाओं से अवगत बनती हैं। लेकिन मानव चेतना को जब तक आस्था की चेतना की सहायता नहीं प्राप्त होती, तब तक वह दैवीय रहस्यों तथा लोकोत्तर वास्तविकताओं से परिचित नहीं हो सकती। यह उस दर्पण जैसी होती है, जिसे स्वच्छ, उजला और चमकीला होते हुए भी प्रकाश की आवश्यकता रह जाती है। जब तक सूर्य किरण उस पर नहीं पड़ती है, तब तक दैवीय रहस्यों की खोज नहीं कर सकती।

6. रही मन की बात, तो यह मानव चेतना की शक्ति है। चेतना दीपक के समान है और मन उससे चमकने वाला प्रकाश है। चेतना वृक्ष के समान है और मन फल के सदृश। मन चेतना की पूर्णता है और उसका एक आवश्यक गुण भी है - उसी प्रकार जैसे सूर्य की किरणें स्वयं सूर्य की एक अनिवार्य अपेक्षा हैं।

7. संक्षिप्त होते हुए भी, यह स्पष्टीकरण पूर्ण है। इस पर विचार करो, और ईश्वर ने चाहा तो, तुम इसे विस्तापूर्वक समझ सकोगे।

**56**

**मनुष्‍य की अन्तर्बाह्य शक्तियाँ**

1. मनुष्य में पांच बाह्य भौतिक शक्तियाँ होती हैं जो बोध का साधन हैं - अर्थात् इन पांच शक्तियों से भौतिक वस्तुओं का बोध होता है। ये हैं दृष्टि, जो दृष्टिगोचर स्वरूपों का बोध करती है, श्रवण शक्ति जो ध्वनियों के श्रव्य का बोध करती है, घ्राणशक्ति जो गंध का बोध करती है, आस्वादन शक्ति जो खाद्य पदार्थों के स्वाद का बोध कराती है, और स्पर्श शक्ति जो सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है और स्पर्शनीय यथार्थों का बोध कराती है। ये पांच शक्तियाँ बाहरी वस्तुओं का बोध प्राप्त कराती हैं।

2. इसी प्रकार कुछ आध्यात्मिक शक्तियाँ मनुष्य में होती है: जैसे कल्पना शक्ति जो वस्तुओं की एक मानसिक छवि निर्मित करती है, विचार शक्ति जो वस्तुओं की वास्तविकताओं पर विचार करती है, बोध शक्ति जो इन वास्तविकताओं को समझती है, और स्मरण शक्ति जो उस सबको धारण कर सुरक्षित रखती है जिसका मनुष्य ने कल्पना या विचार किया है, या जिसे समझा है। इन पांच बाहरी शक्तियों तथा आन्तरिक शक्तियों के मध्यस्थ एक सामान्य शक्ति भी है। यह वह इन्द्रियाँ हैं जो उनके बीच माध्यम का काम करती है और बाह्य शक्तियाँ जिसका बोध कराती हैं उसे आन्तरिक शक्तियों तक ले जाती है। इसे उभयनिष्ठ शक्ति कहा जाता है, क्योंकि यह भीतरी तथा बाहरी शक्तियों के मध्य सामान रूप से सम्मिलित होती है।

3. उदाहरण के लिए, दृष्टि एक बाह्य शक्ति है जो इस फूल को देखती और उसका बोध कराती है और इस प्रत्यक्ष ज्ञान को उभयनिष्ठ शक्ति इसे कल्पना शक्ति के पास भेजती है। कल्पना शक्ति इस फूल की छवि को निर्मित कर उसे धारण करती है और विचार शक्ति के पास भेजती है। विचार शक्ति इस पर चिन्तन करती है, और उसकी वास्तविकता को समझने के बाद अपना अनुभव समझ शक्ति को पहुंचाती है। एक बार उसका परिज्ञान करने के पश्चात समझ शक्ति उस इन्द्रियगोचर वस्तु की छवि को स्मरणशक्ति के पास भेजती है और स्मरणशक्ति उसे अपने भण्डार में सुरक्षित कर लेती है।

4. बाह्य शक्तियाँ पाँच हैं: दृष्टि, श्रवण, स्वाद, तथा स्पर्श। आन्तरिक शक्तियाँ भी पांच है: सामान्य, कल्पना घ्राण, विचार, समझ तथा स्मृति।

**57**

**मानव चरित्र में असमानताएँ**

1. प्रश्न: मनुष्य में कितने प्रकार के चरित्र हैं और उनके बीच अन्तरों एवं विभिन्नताओं के कारण कौन-से हैं?

2. उत्तर: चरित्र तीन प्रकार का होता है -सहज या जन्मजात चरित्र, वंशानुगत चरित्र और अर्जित चरित्र जो शिक्षा से प्राप्त होता है।

3. सहज चरित्र विशुद्ध रूप से उत्तम ही होता है, फिर भी मनुष्यों की अपने श्रेणियों के अनुसार यह चरित्र मनुष्यों में भिन्न-भिन्न होता है। श्रेणियाँ भी सभी उत्तम हैं परन्तु कुछ श्रेणियाँ दूसरी से श्रेष्ठतर हैं। इस प्रकार प्रत्येक मानव प्राणी बुद्धिमत्ता और क्षमता से सम्पन्न है, लेकिन बुद्धिमत्ता, क्षमता और अभिरूचि प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न-भिन्न हैं। यह स्वतः प्रत्यक्ष है।

4. उदाहरण के लिए, एक ही स्थान और परिवार के कुछ बच्चों को लो, जो एक ही स्कूल में एक शिक्षक से विद्यार्जन कर रहे हैं, एक जैसे आहार और जलवायु में पल-बढ़ रहे हैं, समान वस्त्र धारण करते और एक जैसे पाठों का अध्ययन करते हैं। यह सुनिश्चित है कि इन बच्चों में कोई कलाओं तथा विज्ञानों में कुशल बनेगा, कोई औसत योग्यता का रहेगा और कोई मन्द और सुस्त होगा। अतः यह स्पष्ट है कि मनुष्य की सहज प्रकृति में श्रेणी, क्षमता और रूझान का अन्तर होता है। लेकिन यह विषय शुभ या अशुभ का नहीं है, यह मात्र श्रेणी का अन्तर है। कोई उच्चतम श्रेणी का अधिकारी है, दूसरा मध्यम श्रेणी का और तीसरा निम्नतम श्रेणी का। इस प्रकार मनुष्य पशु, वृक्ष और खनिज सभी का अस्तित्व है, किन्तु इन चारों प्रकार के प्राणियों के अस्तित्व में अन्तर है। वस्तुतः कितना बड़ा अन्तर है मनुष्य और पशु के अस्तित्वों में ! फिर भी, इन सबका अस्तित्व तो है ही और यह स्पष्ट है कि अस्तित्व में श्रेणी के अन्तर होते हैं।

5. वंशानुगत चरित्र की भिन्नताओं के सम्बन्ध में। ये अन्तर मनुष्य की संरचनात्मक दुर्बलता या सबलता से उत्पन्न होते हैं। अर्थात्, माता-पिता यदि कमजोर कद-काठी के हैं तो बच्चे भी उसी प्रकार के होंगे और वे अगर सबल हैं तो बच्चे भी हष्ट-पुष्ट होंगे। इसके अतिरिक्त, वंशपरम्परा की उत्कृष्टता का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है, क्योंकि उत्तम बीज उस श्रेणी भण्डार के समान है जो पशुओं तथा वृक्षों में भी विद्यमान होता है। उदाहरण के लिए, आप देखते हैं कि दुर्बल तथा रूग्ण माता-पिता से उत्पन्न बच्चों का ढांचा तथा स्नायुमण्डल स्वाभाविक रूप से ही दुर्बल होगा और उनमें धैर्य, सहनशक्ति, संकल्प बल तथा अध्यवसाय का अभाव होगा तथा वे मनोवेगों के अधीन होंगे, क्योंकि उन्होंने अपने माता-पिता का दुबलापन और निर्बलता प्राप्त की है।

6. इससे पृथक, कुछ परिवार तथा पीढ़ियाँ ऐसी हैं जिनको विशेष गौरव के लिए चुना गया है। इस प्रकार इब्राहीम के वंशजों को वह विशिष्ट गौरव प्राप्त हुआ कि इस्राईल घराने के सभी ईशदूत उनकी ही संततियों के बीच से उठे। उस वंशपरम्परा को प्रदान किया गया यह ईश्वर का वरदान है। मूसा अपनी माता और पिता के माध्यम से, ईसा अपनी माता के जरिए, मुहम्मद, बाब और इस्राईल के सभी ईशदूत तथा पवित्रात्माएँ उसी वंशपरम्परा की हैं। बहाउल्लाह भी इब्राहीम की ही वंशपरम्परा के वंशज हैं, क्योंकि इस्माईल तथा इस्हाक के अलावा इब्राहीम के अन्य पुत्र भी थे जो उन दिनों फारस तथा अफगानिस्तान के क्षेत्रों में जा बसे थे और ‘मंगलमय सौन्दर्य’ उन्हीं के एक वंशज हैं।

7. अतः यह स्पष्ट है कि वंशानुगत चरित्र भी होता है और इस स्तर तक होता है कि यदि किसी का चरित्र उसके पूर्वजों के आचरण के अनुरूप नहीं है तो उसे चेतना की दृष्टि से उस वंशपरम्परा में नहीं गिना जाएगा, भले ही शारीरिक दृष्टि से वह वंशज हो। ऐसा एक उदाहरण है कन्आन जिसकी गिनती नूह के वंशजों में नहीं की जाती है।139

8. शिक्षा से उपजी चरित्र की भिन्नताओं के सम्बन्ध में। ये वस्तुतः बहुत अधिक हैं, क्योंकि शिक्षा का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। शिक्षा से अज्ञानी विद्वान बन जाता है, कायर साहसी हो जाता है, टेढ़ी डाल सीधी हो जाती है, वनों तथा पर्वतों का तीखा कडुवा फल, मीठा और रसीला बन जाता है और पांच पंखुडियों वाला फूल सौ पंखुड़ियाँ धारण कर लेता है। शिक्षा द्वारा बर्बर राष्ट्र सभ्य बनते हैं और पशु भी इंसानों जैसे तौर-तरीके अपना लेते हैं। शिक्षा को सर्वाधिक महत्व दिया जाना आवश्यक है, क्योंकि जैसे शरीरों की दुनिया में बीमारियाँ अत्यधिक संक्रामक होती हैं, उसी प्रकार हृदयों तथा चेतनाओं के क्षेत्र में चरित्र अत्यधिक संक्रामक है। शिक्षा से उत्पन्न भिन्नताएँ बहुत अधिक हैं और शिक्षा का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है।

9. कोई व्यक्ति कह सकता है कि आत्माओं की अभिरूचि तथा क्षमता भिन्न होते हैं, अतः क्षमता की इस भिन्नता से अपरिहार्य रूप से चरित्र में भी भिन्नता उत्पन्न होगी।140 लेकिन ऐसा नहीं होता है, क्योंकि क्षमता दो प्रकार की होती है: अन्तर्जात (सहज) और अर्जित। अन्तर्जात क्षमता ईश्वर की रचना है और वह पूर्णतया शुभ होती है - उसमें कोई बुराई नहीं होती है। अर्जित क्षमता बुराई का हेतु बन सकती है। उदाहरण के लिए, सभी मनुष्यों को ईश्वर ने इस तरीके से रचा है और ऐसी क्षमता तथा शारीरिक विन्यास दिया है कि शर्करा और शहद से उनको लाभ होता है और विष से उनकी हानि या मृत्यु होती है। यह एक सहज क्षमता और स्थिति है जिसे ईश्वर ने सभी मनुष्यों को समान रूप से प्रदान किया है। लेकिन मनुष्य प्रतिदिन थोड़ी-सी मात्रा में धीरे-धीरे विष खाना शुरू कर सकता है और क्रमशः उसकी मात्रा बढ़ाते हुए उस बिन्दु तक पहुँच सकता है जहाँ यदि उसे कई ग्राम अफीम नित्य खाने को न मिले तो वह नष्ट हो जाएगा। यहाँ उसकी सहज या अन्तर्जात क्षमताएँ पूरी तरह पलट जाती हैं। विचार कीजिए कि आदत और अभ्यास के रूपान्तरण से अन्तर्जात क्षमता और संरचना को इतने पूर्ण रूप से बदला जा सकता है कि वह एकदम पलट ही जाए। दुर्जनों की निदा उनकी अन्तर्जात क्षमता तथा स्वभाव के कारण नहीं की जाती है, बल्कि जिसे उन्होंने स्वयं अर्जित किया है उसके कारण की जाती है।

10. अतः वस्तुओं की सहज प्रकृति में कोई दोष नहीं है - सब शुभ ही है। कुछ प्रत्यक्ष रूप से निन्दनीय वृत्तियाँ एवं स्वभावों कुछ लोगों में सन्निहित दिखाई देते हैं। उन पर भी यह सत्य लागू होता है। ऐसी वृत्तियाँ और स्वभाव वास्तव में निन्दनीय नहीं होते हैं। उदाहरण के लिए, किसी दुधमुंहे बच्चे में जीवन के आरम्भ से ही आप लोभ के, क्रोध के और चिड़चिड़ेपन के चिह्न देख सकते हैं। अतः यह तर्क दिया जा सकता है कि मानव सत्ता में शुभ और अशुभ दोनों ही सहज रूप से वर्तमान हैं। और यह तथ्य सहज स्वभाव तथा सृष्टि की विशुद्ध अच्छाई के विपरीत है। उत्तर यह है कि लोभ जो सदैव अधिक की मांग करना है, का व्यवहार उचित परिस्थितियों में किया जाये तो वह एक प्रशंसनीय गुण है। इस प्रकार, यदि कोई व्यक्ति ज्ञान-विज्ञान के अर्जन का लालच करे, अथवा करूणा, उच्चमनस्कता, और न्याय का लोभ दिखाए तो यह अत्यधिक प्रशंसनीय होगा। और यदि वह अपना रोष और कोप उन रक्त पिपासु अत्याचारियों की ओर मोड़ दे जो भयावह वह पशुओं जैसे हैं तो यह भी बहुत प्रशंसनीय होगा। लेकिन इन गुणों का व्यवहार अन्य दशाओं के अन्तर्गत किया जाना निन्दनीय ही होगा।

11. अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि अस्तित्व और सृष्टि में कोई बुराई बिलकुल नहीं है, लेकिन जब मनुष्य के सहज गुणों का अनैतिक रूप से उपयोग किया जाता है तो वे निन्दनीय बन जाते हैं। इस प्रकार यदि कोई धनी और उदार मनुष्य किसी निर्धन को उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भिक्षा देता है और यदि निर्धन उस धनराशि को अनुचित रूप से व्यय करता है तो यह निन्दनीय है। मनुष्य के उन सभी अन्तर्जात गुणों के लिए यही सत्य है, जो मानव जीवन की पूंजी होते हैं। यदि इनका प्रदर्शन तथा उपयोग अनुचित ढंग से किया जाता है तो वे निन्दनीय बन जाते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि सहज और प्रकृत स्वभाव विशुद्धरूप से उत्तम होता है।

12. विचार कीजिए कि निकृष्टतम गुण और सर्वाधिक कुत्सित प्रवृत्ति जो सभी बुराइयों की नींव है झूठ बोलना है। अस्तित्व मात्र में इससे अधिक खराब और निन्दनीय गुण की कल्पना नहीं की जा सकती। यह सभी मानव पूर्णताओं की विनाशक है, और असंख्य बुराइयों को जन्म देती है। इससे अधिक बुरी प्रवृत्ति और कोई नहीं है और सारी बुराई की यह जड़ है। इतना होते हुए भी, कोई चिकित्सक किसी रोगी को सान्त्वना देते हुए कहता है, “ईश्वर को धन्यवाद, तुम अच्छे हो रहे हो और तुम्हारे स्वस्थ होने की आशा है।” ये शब्द सत्य के विपरीत हो सकते हैं, फिर भी कदाचित वे रोगी के मन को विश्राम देंगे और उसकी बीमारी को अच्छा करने का साधन बनेंगे। इस प्रकार यह निन्दनीय नहीं है।

13. इस प्रश्न पर अब अत्यधिक स्पष्ट रूप से प्रकाश डाल दिया गया है।

**58**

**मानव परिज्ञान का प्रसार एवं सीमायन**

1. प्रश्न: मानव बोध का विस्तार कहाँ तक है और इसकी सीमाएँ क्या हैं?

2. उत्तर: यह जान लो कि बोध भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। उसकी निम्नतम श्रेणी पशु जगत की इन्द्रियों में होती है, अर्थात् प्राकृतिक संवेदन जो बाह्य इन्द्रियों की शक्तियों से उत्पन्न होते हैं। यह बोध मनुष्य तथा पशुओं में सामान्य है और कुछ पशु तो वस्तुतः इन विषयों में मनुष्य से श्रेष्ठ हैं। किन्तु मानव जगत में मनुष्य की भिन्न-भिन्न श्रेणियों के अनुरूप बोध भी भिन्न-भिन्न प्रकार का है।

3. प्रकृति जगत में बोध की सर्वप्रमुख श्रेणी बुद्धिसंगत आत्मा की श्रेणी है। इस शक्ति तथा बोध में सामान्य रूप से सभी मनुष्य भागीदार हैं, वे चाहे प्रमाद ग्रस्त हों या सचेत, मार्गभ्रष्ट हों या निष्ठावान। ईश्वर की सृष्टि में, मनुष्य की बुद्धिसंगत आत्मा अन्य सभी उत्पन्न की गई वस्तुओं को परिवेष्टित करती है और उन सभी से विशिष्ट है। अपनी श्रेष्ठता एवं विशिष्टता के प्रताप से ही वह उन सबको अपनी परिधि में घेरती है। इस बुद्धिमूलक आत्मा की शक्ति से मनुष्य वस्तुओं की वास्तविकता की खोज कर सकता है, उनके गुण समझ सकता है और अस्तित्व के रहस्यों का भेदन कर सकता है। सभी विज्ञान और विद्या की शाखाएँ, कलाएँ, आविष्कार, उपक्रम तथा खोजें बुद्धिमूलक आत्मा के बोध से ही फलीभूत हुए हैं। ये सब कभी अभेद्य भेद, गोपनीय रहस्य तथा अज्ञात यथार्थ थे, किन्तु बुद्धिमूलक आत्मा ने धीरे-धीरे उनको खोज निकाला और अदृश्य के तल से निकाल कर दृश्य जगत में ले आई। प्रकृति जगत में बोध की यह महानतम शक्ति है और उसकी उड़ान की उच्चतम सीमा है सम्भाव्य वस्तुओं के गुणों, चिह्नों तथा तत्वों का ज्ञान प्राप्त करना।

4. परन्तु ब्रह्माण्ड-व्यापी दैवीय प्रज्ञा (ज्ञान शक्ति) जो प्रकृति से श्रेष्ठ है, उस पूर्व से ही विद्यमान ‘शक्ति’ का प्रवहमान अनुग्रह है। सभी विद्यमान यथार्थ उसकी परिधि में आते हैं और ईश्वर की प्रकाशवलियों तथा रहस्यों का अपना भाग उसे प्राप्त होता है। यह अन्वेषण या अनुभूति की शक्ति नहीं, बल्कि एक सर्वज्ञ शक्ति होती है। प्रकृति-जगत से जुड़ी आध्यात्मिक शक्ति अनुसन्धान की शक्ति है और अनुसंधान के ही माध्यम से वह वस्तुओं के तत्वों एवं गुणों की खोज करती है। लेकिन वह लोकोत्तर बौद्धिक शक्ति जो प्रकृति से परे है, सभी चीजों को परावृत करती और जानती तथा समझती है, दिव्य रहस्यों से अवगत होती है, सत्यों तथा अन्तरार्थों का ज्ञान रखती है और दिव्य जगत के छिपे हुये सत्यों की खोज करती है। यह दिव्य बौद्धिक शक्ति पवित्र ईश्वरावतारों तथा ईशदूत पद के ‘उद्यस्थलों’ तक ही परिसीमित होती है। इस प्रकाश की एक किरण सद्धर्मीजनों के हृदय-दर्पणों पर पड़ती है, ताकि पवित्र ईश्वरावतारों के माध्यम से, वे भी इस शक्ति का एक भाग और लाभ प्राप्त कर सकें।

5. पवित्र ईश्वरावतारों के तीन अवस्थान होते हैं: दैहिक स्थान, बुद्धिमूलक आत्मा का स्थान और परिपूर्ण दैवीय प्राकट्य तथा स्वर्गिक भव्यता का स्थान। उनके शरीर भौतिक जगत की क्षमता के अनुसार ही वस्तुओं का बोध करते हैं और इसीलिए उन्होंने कुछ समयों पर शारीरिक दुर्बलता व्यक्त की है। उदाहरण के लिए, “मैं निद्रामग्न और अचेत था, ईश्वरीय समीर मेरे ऊपर से बहा, मुझे जगाया और अपने आह्वान को स्वर देने के लिए मुझे बुलाया।”141 या, जब ईसामसीह को उनके तीसवें वर्ष में बपतिस्मा दिया गया और पावन चेतना उन पर उतरी, जो इस समय के पहले उनमें व्यक्त नहीं हुई थी। इन सब बातों का सम्बन्ध अवतारों के शारीरिक स्तर से होता है, किन्तु उनका दैवीय स्थान सभी वस्तुओं को अपने घेरे में सम्मिलित करता है, सभी रहस्यों से अवगत होता है, सभी चिह्नों की जानकारी रखता है, और सभी वस्तुओं पर सर्वोच्च शासन करता है। उनके ध्येय की सूचना के पूर्व तथा पश्चात् दोनों अवस्थाओं में यह समान रूप से सत्य है। इसीलिए ईसा ने कहा था: “मैं ही अल्फा और ओमेगा, प्रथम और अंतिम हूँ”142 अर्थात् मुझमें कोई परिवर्तन या हेर-फेर न कभी हुआ है और न कभी होगा।

**59**

**मानव का ईश्‍वर-बोध**

1. प्रश्न: मानवीय बोधशक्ति किस सीमा तक ईश्वर को समझ सकती है?

2. उत्तर: इस विषय के लिए पर्याप्त समय अपेक्षित है और भोजन के समय इसे समझना कठिन है। तथापि एक संक्षिप्त स्पष्टीकरण दिया जाएगा।

3. यह जानो कि दो प्रकार का ज्ञान होता है: किसी वस्तु के (सार) तत्व का ज्ञान और उसके गुणों का ज्ञान। किसी वस्तु के तत्व का ज्ञान उसके गुणों से ही हो सकता है, अन्यथा उसका मर्म अज्ञात और अथाह ही रहता है।

4. वस्तुओं से सम्बन्धित हमारा ज्ञान, उत्पन्न हुई और सीमित वस्तुओं का भी, उनके तत्व का नहीं बल्कि उनके गुणों का ज्ञान होता है। तब उस असीम ईश्वरीय यथार्थ के तत्व को समझ पाना कैसे सम्भव हो सकता है? कारण कि, किसी वस्तु का अन्तःसार कदापि जाना नहीं जा सकता, केवल उसके गुण ही ज्ञात होते हैं। उदाहरण के लिए, सूर्य की आन्तरिक वास्तविकता अज्ञात है, लेकिन उसके गुणों, ऊष्मा तथा प्रकाश, के जरिए उसे समझा जाता है। मनुष्य का आभ्यन्तरिक तत्व अज्ञात है किन्तु उस तत्व की प्रवृत्तियों से उसे जाना और उसकी विशेषता समझी जाती है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु अपने तत्व द्वारा नहीं, अपने गुणों से ही जानी जाती है। यद्यपि मानव मन सभी वस्तुओं को परिवेष्ठित करता है और बदले में सभी बाहरी वस्तुएँ उसकी परिधि में आती हैं, फिर भी ये बाह्य वस्तुएँ तत्वतः अज्ञात ही हैं और उनको उनके गुणों के ही संदर्भ में जाना जा सकता है। तब उस पुरातन और शाश्वत प्रभु को उसके तत्व से कैसे जाना जा सकता है, उसी प्रकार ईश्वरीय सत्ता अपने तत्व के सम्बन्ध में अज्ञात ही रहेगी और केवल अपने गुणों के सम्बन्ध से जानी जाएगी।

5. दूसरी बात यह है कि, मूलरूप से उत्पन्न हुई कोई सत्ता उस सत्ता को अपनी परिधि में कैसे घेर सकती है जो सम्पूर्ण अनन्तकाल से अस्तित्व में है? कारण कि, बोध परिवेष्टन का प्रतिफल होता है। पहले परिवेष्टन घटित होना चाहिए ताकि बोध घटित हो सके। और वह दिव्य तत्व सर्वपरिवेष्टनकारी है तथा उसे परिवेष्ठित कदापि नहीं किया जा सकता।

6. इसके अतिरिक्त, सृष्टि-जगत में श्रेणी की भिन्नताएँ ज्ञान मार्ग में एक अवरोध हैं। उदाहरण के लिए, जैसे यह खनिज खनिज-जगत से सम्बन्धित है। वह कितना ही विकास कर ले, किन्तु सम्वर्धन शक्ति का बोध उसे नहीं हो सकता। पौधे और वृक्ष कितनी ही प्रगति कर लें, वे दृष्टि या अन्य इन्द्रियों की शक्तियों की कल्पना भी नहीं कर सकते। पशु मानव श्रेणी की, अर्थात् आध्यात्मिक शक्तियों की कल्पना नहीं कर सकता। इसी प्रकार श्रेणी-वैभिध्य ज्ञान की बाधा है। निम्न उच्च कोटि को नहीं समझ सकता। फिर, मूलरूप से उत्पन्न हुई कोई सत्ता उस सत्ता का बोध कैसे कर सकती है जिसका अस्तित्व समस्त अनन्तकाल से है ?

7. अतः ईश्वर को जानने का अर्थ उसके तत्व का नहीं, अपितु उसके गुणों-वृत्तियों का ज्ञान। और ईश्वरीय वृत्तियों के इस ज्ञान का विस्तार केवल उतनी ही दूर तक है जहाँ तक मानवीय शक्ति एवं क्षमता की पहुँच है। यह ज्ञान इस प्रकार पूरी तरह अपर्याप्त रहता है। दर्शनशास्त्र, जहाँ तक मानवशक्ति के वश में है, वस्तुओं की वास्तविकताओं को समझने में है, जैसी वे अपने आप में हैं। उत्पन्न की गई सत्ता के पास पूर्ववर्ती वृत्तियों को मानव क्षमता की निजी सीमाओं के भीतर ही समझ पाने के सिवा कोई उपाय नहीं है। ईश्वरत्व का अदृश्य जगत सभी प्राणियों की समझ से परे निर्मल एवं उदात्त है। जो भी कल्पना की जा सकती है वह सब मात्र मानवीय समझ है। मानव बोधशक्ति दैवीय तत्व की वास्तविकता को अपनी परिधि में नहीं ला सकती। जितना कुछ पाने की आशा मनुष्य कर सकता है, वह ईश्वरत्व के गुणों का बोध भर है जिनका प्रकाश संसार में और मनुष्यों की आत्माओं में प्रत्यक्ष रूप से प्रकट और देदीप्यमान होता है।

8. जब हम संसार तथा मानवात्माओं की जाँच करते हैं, तो ईश्वरत्व की पूर्णताओं के सुस्पष्ट चिह्न दिखाई देते हैं, क्योंकि सभी वस्तुओं की सत्ता एक सार्वभौम सत्ता के अस्तित्व को प्रमाणित करती हैं। ईश्वरत्व की सत्ता सूर्य के समान है जो अपनी निर्मलता की ऊँचाइयों से प्रत्येक भू-भाग पर चमकता है और प्रत्येक देश तथा प्रत्येक आत्मा जिसकी दीप्ति का एक भाग प्राप्त करती है। यह प्रकाश और यह दीप्ति न होती, तो कुछ भी न होता। अब, सभी सृजित वस्तुएँ इस प्रकाश का प्रमाण देती हैं, उसकी किरणों को ग्रहण करती हैं और उससे अपना भाग प्राप्त करती हैं, किन्तु ईश्वरत्व की पूर्णताओं, अनुग्रहों तथा गुणों की सम्पूर्ण भव्यता उस ‘पूर्ण मनुष्य’ की सत्ता से दमकती है, अर्थात् उस विलक्षण ‘व्यक्ति’ से जो सार्वभौम ईश्वरावतार होता है। कारण कि, दूसरे प्राणियों को तो उस प्रकाश का एक अंशमात्र प्राप्त हुआ है, लेकिन सार्वभौम ईश्वरावतार तो इस सूर्य के सामने रखा वह दर्पण है जिसमें वह ईश्वर अपने आपको अपनी समस्त पूर्णताओं, गुणों, चिह्नों एवं प्रभावों के साथ साकार करता है।

9. ईश्वरत्व का तत्व ज्ञान किसी प्रकार से सम्भव नहीं है, लेकिन ईश्वरावतारों का ज्ञान ईश्वर का ही ज्ञान है, क्योंकि ईश्वर के अनुग्रह, ऐश्वर्य तथा गुण उनमें प्रत्यक्ष प्रकट होते हैं। इस प्रकार जो कोई ईश्वरावतारों का ज्ञान प्राप्त करता है, वह ईश्वर का ही ज्ञान प्राप्त करता है और जो कोई उनके प्रति लापरवाह रहता है, वह उस ज्ञान से ही वंचित रहता है। अतः यह स्पष्ट रूप से प्रतिष्ठापित होता है कि पवित्र ईश्वरावतार ही दैवीय अनुग्रहों, चिह्नों तथा पूर्णताओं के प्रमुख स्रोत हैं। धन्य हैं वे जो उन प्रकाशमान उद्गमस्थलों से दैवीय अनुग्रहों का प्रकाश प्राप्त करते हैं।

10. हम यह आशा करते हैं कि ईश्वर के प्रियजन एक आकर्षणकारी बल के समान इन अनुग्रहों को सीधे उनके स्रोत से आकर्षित करेंगे और ऐसी तेजस्विता के साथ उठेंगे तथा ऐसा प्रभाव उत्पन्न करेंगे कि वे सत्य-सूर्य के सुस्पष्ट प्रतीक बन जाऐंगे।

**60**

**चेतना की अविनाशिता (1)**

1. मानव चेतना143 का अस्तित्व प्रमाणित करने के पश्चात् अब हम उसकी अविनाशिता सिद्ध करेंगे।

2. पवित्र पुस्तकों में चेतना की अविनाशिता का उल्लेख किया गया है, जो वस्तुतः दैवीय धर्मों की आधारशिला है। कारण कि, दण्ड और पुरस्कार दो प्रकार के बताए गये हैं - एक अस्तित्वपरक पुरस्कार तथा दण्ड हैं दूसरा तत्वात्मक पुरस्कार एवं दण्ड है। अस्तित्वपरक स्वर्ग तथा नरक ईश्वर के सभी लोकों में पाये जाते हैं, इस लोक में भी और चेतना के दिव्य लोकों में भी और इन पुरस्कारों के लाभ का अर्थ है शाश्वत जीवन की प्राप्ति। इसीलिए ईसा ने कहा था: ऐसा आचरण करो कि तुम्हें शाश्वत जीवन प्राप्त हो, जल एवं चेतना से जन्म ले सको और इस प्रकार दिव्य जगत में प्रवेश कर सको।144

3. अस्तित्वपरक पुरस्कार उन सद्गुणों तथा पूर्णताओं में होते हैं जो मानवसत्ता को अलंकृत करते हैं। उदाहरणार्थ, मनुष्य अंधकारग्रस्त था और प्रकाशित हो गया, वह अज्ञानी था और ज्ञानवान बन गया, वह प्रमादग्रस्त था और सचेत बन गया, वह निद्रामग्न था और जाग्रत हो गया, वह मृत था और जीवन से अनुप्राणित हो गया, अंधा देखने लगता है, बहरा सुनने लगता है, वह पार्थिव दिव्य बन जाता है, वह भौतिक था और आध्यात्मिक हो जाता है। इन पुरस्कारों के माध्यम से उसका चेतना में पुनर्जन्म होता है, वह नए सिरे से रचा जाता है और वह गॉस्‍पल के उस अनुवाक्य का मूर्तिमान स्वरूप बन जाता है जिसमें कहा गया है कि ‘प्रेरितगण’ “रक्त से नहीं, मांस से नहीं, मानवेच्छा से नहीं, बल्कि ईश्वर से उत्पन्न हुए।”145 अर्थात, वे उन पाशविक गुणों एवं लक्षणों से युक्त हुए जो मानव प्रकृति में सन्निहित हैं और उन्होंने दैवीय वृत्तियाँ प्राप्त कीं, जो ईश्वर की प्रवहमान कृपा हैं। यही पुनः जन्म होने का सच्चा स्वरूप है। ऐसी आत्माओं के लिए ईश्वर से दूर रह जाने से बड़ी कोई यातना नहीं है और स्वार्थी गुणों, कुप्रवत्तियों, अधम चरित्र तथा दैहिक कामनाओं में तन्मयता से अधिक कठोर कोई दण्ड नहीं है। जब ये आत्माएँ आस्था के प्रकाश में इन पापों के अन्धकार से मुक्त हो जाती हैं, जब वे सत्य-सूर्य की किरणों से प्रकाशित और सभी मानव सद्गुणों से सम्पन्न हो जाती हैं, तब वे इसे महत्तम पुरस्कार गिनती हैं और सच्चा स्वर्ग मानती हैं। इसी प्रकार के वे आध्यात्मिक दण्ड भी मानती हैं - अर्थात् अस्तित्वपरक यातना एवं प्रताड़ना - जो प्रकृति-जगत की अधीनता में, ईश्वर से दूर रहने में, अज्ञान और अनभिज्ञता में, लोलुप कामनाओं की लिप्तता में, पाशविक दुर्गुणों की तल्लीनता में, कुत्सित प्रवृत्तियों जैसे असत्य, अन्याय, अत्याचार से प्रभावित होने में, सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति में और आसुरी मनोरथों में निमग्न होने में होते हैं। इन सबको वे आत्माएँ महानतम दण्डों तथा प्रताड़नाओं में गणना करती हैं।

4. तत्वात्मक पुरस्कार जो शाश्वत जीवन में हैं, सभी पवित्र धर्मग्रंथों में स्पष्ट रूप से उल्लिखित हुआ हैं। ये हैं दैवीय पूर्णताएँ, शाश्वत अनुग्रह और अनन्त आनंद। तत्वात्मक पुरस्कार ऐसे उपहार तथा पूर्णताएँ हैं, जिन्हें मनुष्य इहलोक से प्रस्थान करने के बाद आध्यात्मिक लोकों में प्राप्त करता है जबकि अस्तित्वपरक पुरस्कार ऐसी सच्ची और दीप्तिमान पूर्णताएँ हैं जो इसी संसार में रहते हुए पाई जाती हैं, और भू्रणावस्था से परिपक्वतावस्था तक मनुष्य की यात्रा के सदृश, तथा पवित्र अनुवाक्य “श्रद्धापूजित हो वह समस्त सृष्टाओं में सर्वोत्कृष्ट प्रभु”146 का मूर्तिमंत स्वरूप बनते हैं। तत्वात्मक पुरस्कार ऐसी आध्यात्मिक देनों तथा अनुग्रहों में होते हैं जैसे ईश्वर की वे अनेक देनें जो आत्मा के आरोहण के बाद कृपापूर्वक प्रदान की जाती हैं, हृदय की अभिलाषा की सिद्धि और शाश्वत जगत में ईश्वर से पुनर्मिलन। इसी प्रकार, तत्वात्मक (सूक्ष्म शरीर से सम्बन्धित) प्रतिकार तथा दण्ड ईश्वर के विशेष अनुग्रहों तथा अचूक देनों से वंचित होने और अस्तित्व की निम्नतम श्रेणियों में डूब जाने में हैं। और जो कोई इन अनुग्रहों से वंचित है, वह यद्यपि मरणोपरान्त रहता तो है, किन्तु सत्यनिष्ठ जनों की दृष्टि में उसे मृतक ही माना जाता है।

5. चेतना की अविनाशिता का एक बुद्धिसम्मत प्रमाण यह है कि किसी अस्तित्वविहीन वस्तु से कोई प्रभाव उत्पन्न नहीं हो सकता। अर्थात् यह असम्भव है कि नितान्त शून्यता से कोई प्रभाव प्रकट हो जाए। क्योंकि किसी वस्तु का प्रभाव उसके अस्तित्व का ही अनुपूरक होता है, और जो द्वितयिक (या अनुपूरक) है वह उसके अस्तित्व पर निर्भर है जो प्राथमिक है। इसलिए, किसी अस्तित्वहीन सूर्य से कोई किरणें नहीं चमक सकतीं, किसी अस्तित्वरहित बादल से वर्षा नहीं हो सकती, किसी अविद्यमान वृक्ष से कोई फल उत्पन्न नहीं हो सकता और किसी सत्ताविहीन मनुष्य से कुछ भी प्रकटित या उपजाया नहीं जा सकता। इसलिए, जब एक अस्तित्व के प्रभाव दृश्य रहते हैं, वे यही सिद्ध करते हैं कि उस प्रभाव का प्रवर्तक विद्यमान है।

6. विचार कीजिए कि ईसा का प्रभुत्व आज तक कैसे टिका हुआ है। इतनी महान प्रभुसत्ता अविद्यमान अधिराज के द्वारा कैसे प्रकट की जा सकती है? ऐसी तरंगे किसी अस्तित्वरहित सागर से कैसे तरंगायित हो सकती हैं? ऐसे लोकोत्तर समीर किसी अस्तित्वविहीन उपवन से कैसे प्रवहमान हो सकते हैं? विचार कीजिए कि जैसे ही किसी वस्तु के, वह चाहे खनिज, वनस्पति या पशु हो, संरचनात्मक अंग विघटित और उसका मौलिक संयोजन लुप्त होता है, वैसे ही उसका सारा प्रभाव, परिणाम तथा चिह्न विलीन हो जाते हैं। लेकिन मानव चेतना और मानव सत्ता के साथ ऐसा नहीं है। वह शरीर के विभिन्न अंगों-उपांगों के वियोजन तथा पृथक्करण के उपरान्त भी अपने चिह्न प्रकट करती रहती है, अपना प्रभाव डालती रहती है और असर बनाए रखती है।

7. यह प्रश्न बहुत सूक्ष्म है। इस पर मनोयोगपूर्वक विचार कीजिए। यह एक बुद्धिसम्मत प्रमाण है जिसे हम दे रहे हैं, ताकि विवेकीजन इसे विचारशीलता और निष्पक्षता की तुला में तौल सकें। लेकिन यदि मानव चेतना दैवीय जगत को लेकर आल्हादित तथा आकर्षित हो, यदि अन्तर्दृष्टि खुल जाये और आध्यात्मिक कर्ण अनुकूल बन जाए और यदि आध्यात्मिक अनुभूतियाँ प्रबल हो जाएँ, तो चेतना की अविनाशिता सूर्य की भाँति स्पष्ट दिखाई देगी तथा दैवीय समाचार एवं सूचनाएं उस चेतना के चतुर्दिक उपस्थित होंगे।

8. कल हम दूसरे प्रमाण देंगे।

**61**

**चेतना की अविनाशिता (2)**

1. कल हम चेतना की अविनाशिता की चर्चा कर रहे थे। यह समझ लो कि मानव चेतना का प्रभाव तथा बोध दो प्रकार का होता है, अर्थात् मानव चेतना के पास क्रिया और ज्ञान की दो विधियाँ हैं। एक विधि है शारीरिक अंगों तथा उपकरणों की मध्यस्थता के माध्यम से कार्य करना। इसमें वह नेत्र से देखते है, कान से सुनते है, जिह्वा से बोलते है। ये चेतना के ही कार्य और मानव सत्ता की क्रियायें हैं, लेकिन ये शारीरिक उपकरणों की मध्यस्थता से घटित होती हैं। इस प्रकार चेतना ही नेत्र की सहायता से देखती है, कान की सहायता से चेतना ही सुनती है, जिह्वा की सहायता से चेतना ही बोलती है।

2. दूसरी विधि में चेतना का प्रभाव तथा कार्य इन शारीरिक अंगों एवं उपकरणों के बिना ही सम्पन्न होता है। उदाहरण के लिए, निद्रा की अवस्था में वह आँखों के बगैर देखती है, कानों के बिना सुनती है, जिह्वा के अभाव में भी बोलती है, पैरों के बिना दौड़ती है। संक्षेप में ये सभी शक्तियाँ, अंगों और उपकरणों की मध्यस्थता के बगैर काम करती हैं। कितनी ही बार ऐसा होता है कि चेतना निद्रा-जगत में कोई स्वपन देखती है जिसका अभिप्राय दो वर्ष बाद ठीक उसी रूप में घटित होता दिखाई देता है। इसी प्रकार, कितनी ही बार ऐसा होता है कि सपनों की दुनिया में कोई ऐसी समस्या चेतना हल कर करती है जिसे वह जाग्रत अवस्था में हल नहीं कर सकी थी। जागती आँखों से मात्र छोटी-सी दूरी दिखाई देती है, लेकिन सपनों की दुनिया में जो व्यक्ति पूर्व में है वह पश्चिम को देख सकता है। जागते हुए व्यक्ति केवल वर्तमान ही देखता है, लेकिन निद्रा में वह भविष्य दर्शन करता है। जाग्रत दशा में, वह तीव्रतम गति के साधनों से अधिकतम सत्तर मील प्रति घण्टे यात्रा करता है और सोते समय वह पूर्व तथा पश्चिम को पलक झपकते पार कर जाता है। कारण कि, चेतना के पास यात्रा की दो विधियाँ हैं: साधन के बगैर या आध्यात्मिक यात्रा और साधनों के द्वारा या भौतिक यात्रा, जैसे उड़ने वाले पक्षी, या किसी वाहन सें जाना।

3. सोने के समय यह भौतिक शरीर मृतक जैसा होता है। वह न देखता है, न सुनता है, न अनुभूति करता है, और न तो उसमें संज्ञान होता है और न बोध। उसकी शक्तियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं। फिर भी, चेतना जीवित और स्थायी ही नहीं रहती, बल्कि एक महत्तर प्रभाव भी डालती है, उसकी उड़ान और ऊँची हो जाती है, और उसकी समझ ज्यादा गहरी हो जाती है। यह मानना कि शरीर की मृत्यु के बाद चेतना का लोप हो जाता है ऐसी कल्पना करना है कि यदि पिंजड़ा तोड़ दिया जाए तो उसमें कैद पक्षी नष्ट हो जाएगा, जबकि पक्षी के पास पिंजड़े के टूटने से डरने का कोई कारण नहीं है। यह शरीर पिंजड़े के समान और चेतना पक्षी के समान है। हम देखते हैं कि अपने पिंजड़े से भारमुक्त यह पक्षी निद्रा जगत में उन्मुक्त होकर उड़ता है। इसलिए यदि पिंजड़ा टूट जाए तो पक्षी मौजूद ही नहीं रहेगा, बल्कि इन्द्रियाँ अधिक सतेज हो जाएंगी, उस का प्रत्यक्ष ज्ञान विस्तृत बन जाएगा और उसके आनन्द का स्थान त्याग कर वह आनन्दमय बैकुण्ठ में पहुँच जाएगा, क्योंकि कृतज्ञ पक्षियों के लिए अपने पिंजड़े से मुक्त हो जाने से बढ़कर कोई स्वर्ग नहीं है। इसलिए शहीद परम आनन्द और उल्लास के साथ बलिदान स्थल पर पहुंचने की शीघ्रता करते हैं।

4. जाग्रत अवस्था में मनुष्य का नेत्र अधिकतम एक घण्टे में तय की गई दूरी तक ही देख सकता है, क्योंकि शरीर के माध्यम से चेतना के प्रभाव का विस्तार इतनी दूर तक ही है। लेकिन मन के नेत्र से वह अमेरिका को देखती है, उस देश को समझती है, उसकी दशा से परिचित होती है, और तदनुसार कार्यकलापों का आयोजन करती है। अब, अगर चेतना शरीर से अभिन्न हो, तो उसकी दृष्टि शक्ति शरीर की दृष्टि शक्ति से आगे नहीं जा सकती। अतः यह स्पष्ट है कि चेतना शरीर से भिन्न है, पक्षी पिंजड़े से भिन्न है और चेतना की शक्ति तथा प्रभाव शरीर की मध्यस्थता के बगैर अधिक सुदृढ़ है। अब, अगर उपकरण व्यर्थ हो जाये, तो उसको चलाने वाला तो बना ही रहता है। उदाहरणार्थ, लेखनी यदि छूट या टूट जाये, तो भी लेखक जीवित और सकुशल रहता है, कोई मकान ध्वस्त हो जाए, तो भी उसका स्वामी जीवित रहता है। आत्मा की अविनाशिता सिद्ध करना वाला यह एक बुद्धिसम्मत तर्क है।

5. दूसरा प्रमाण यह है: मनुष्य का शरीर दुर्बल या हष्ट-पुष्ट हो सकता है, बीमार या स्वस्थ, क्लान्त या विश्रान्त हो सकता है। शरीर के हाथ या पैर की हानि हो सकती है, शारीरिक शक्तियों का क्षय हो सकता है, वह अंधा, बहरा, गूंगा या अशक्त हो सकता है। संक्षेप में, वह अत्यधिक क्षीण और विकृत हो सकता है। और फिर भी, यह सब होते हुए भी, चेतना अपनी मौलिक दशा बनाए रखती है, उसके आध्यात्मिक बोध अक्षय रहते हैं, उनमें कोई विकृति या विघटन उत्पन्न नहीं होता। लेकिन जब शरीर किसी बड़ी बीमारी या विपदा से पीड़ित होता है, तो वह चेतना की शोभा श्री से उस दर्पण की ही भाँति वंचित हो जाता है जो टूट या धूल से आच्छादित हो जाता है और फिर वह सूर्य के प्रकाश को परावर्तित या उसके अनुग्रह को व्यक्त नहीं कर सकता।

6. हमने पहले ही स्पष्ट किया है कि मनुष्य की चेतना शरीर के भीतर नहीं रखी होती है, क्योंकि वह प्रवेश तथा निर्गम जैसे भौतिक शरीरों के गुण-धर्म से मुक्त एवं निर्मल है। बल्कि, शरीर के साथ चेतना का सम्बन्ध दर्पण के साथ सूर्य के सम्बन्ध जैसा है। संक्षेप में, मानव चेतना हमेशा एक ही दशा में रहती है। शरीर के रोगग्रस्त होने पर वह रोगी नहीं होती है और न शरीर के स्वास्थ्य से वह स्वस्थ ही बनती है। वह कभी निर्बल और असमर्थ नहीं होती, दयनीय अथवा पददलित नहीं हो सकती, उसमें कोई ह्रास या न्यूनता नहीं आती। अर्थात्, शरीर भले ही नष्ट हो जाए, अथवा हाथ, पैर और जिह्वा कट कर अलग हो जाएँ, किन्तु शरीर की दुर्बलताओं या अक्षमताओं के कारण चेतना की कोई हानि नहीं होती, या उस पर कोई कुप्रभाव नहीं पड़ता है। अतः यह सुस्पष्ट और सिद्ध होता है कि चेतना शरीर से भिन्न है और उसकी अविनाशिता शरीर की दशाओं पर निर्भर नहीं है। इसके विपरीत, चेतना शारीरिक जगत में सर्वोच्चता के साथ शासन करती है, और उसकी शक्ति एवं प्रभाव किसी दर्पण में सूर्य के अनुग्रह की भाँति स्पष्ट और दृश्य है। परन्तु दर्पण जब धूल से आच्छादित या टूटा हुआ होगा तो वह सूर्य की किरणों से वंचित हो जाएगा।

**62**

**अस्तित्व की असीमित पूर्णताएँ और  
परलोक में आत्मा की प्रगति**

1. यह जान लो कि अस्तित्व की श्रेणियाँ सीमित हैं - वे है पराधीनता की श्रेणी, ईशदूतवाद की श्रेणी और ईश्वरत्व की श्रेणी। लेकिन ईश्वर की और सृष्टि की पूर्णताएँ असीम हैं। सावधानी से जांच करने पर आप देखेंगे कि अपने बाह्यतम अर्थ में भी अस्तित्व की पूर्णताएँ (शक्तियाँ) असीम हैं। क्योंकि उत्पन्न की गई ऐसी कोई वस्तु मिलना सम्भव नहीं है जिससे श्रेष्ठ वस्तु की कल्पना न की जा सके। उदाहरण के लिए, किसी को खनिज जगत में ऐसा माणिक्य, या वनस्पति जगत में ऐसा गुलाब, अथवा पशु जगत में ऐसी बुलबुल नहीं मिल सकती जिससे और अधिक अच्छे नमूने की कल्पना न की जा सके।

2. जिस प्रकार ईश्वर की श्री-शोभा अंतहीन है, उसी तरह मानव पूर्णताएँ भी अंतहीन हैं। अगर किसी वस्तु की सत्ता के लिए पूर्णता की चोटी पर पहुंचना सम्भव हो जाए, तो वह वस्तु ईश्वर से स्वतंत्र हो जाएगी और अनिवार्य सत्ता का स्थान प्राप्त कर लेगी। लेकिन प्रत्येक सृजित वस्तु को एक श्रेणी (या कोटि) दी गई है जिसके पार वह किसी भी तरह नहीं जा सकती। इसलिए जो व्यक्ति पराधीनता की श्रेणी का अधिकारी है, वह कितनी ही प्रगति कर ले और अनन्त पूर्णताएँ प्राप्त कर ले, किन्तु वह ‘दिव्य स्वामित्व’ की श्रेणी पर नहीं पहुँच सकता। सभी अन्य सृजित वस्तुओं के लिए भी यही सत्य है। कोई खनिज कितनी ही प्रगति कर ले, लेकिन वह खनिज जगत में सम्वर्धन की शक्ति कदापि प्राप्त नहीं कर सकता। फूल कितनी ही प्रगति कर ले, लेकिन जब तक वह वनस्पति जगत में है तब तक संवेदन शक्ति प्रकट नहीं कर सकता। इसी प्रकार यह खनिज चांदी कभी दृष्टि या श्रवण शक्ति प्राप्त नहीं कर सकती। वह अधिक-से-अधिक अपनी श्रेणी में ही प्रगति कर सकती है और परिपूर्ण खनिज बन सकती है। वह वृद्धि या संवेदन की शक्ति प्राप्त करके कभी जीवित नहीं बन सकती। वह केवल अपनी ही श्रेणी में प्रगति कर सकती है।

3. उदाहरण के लिए, पीटर ईसा नहीं बन सकता। अधिक-से-अधिक, सेवाधर्म (पराधीनता) की श्रेणियों में वह असीमित पूर्णताएँ प्राप्त कर सकता है, क्योंकि प्रत्येक अस्तित्वमय यथार्थ प्रगति में समर्थ है। जिस प्रकार भौतिक तत्वों से निर्मित इस ढांचे को उतार फेंकने के बाद भी मानव चेतना सर्वदा रहती है, उसी प्रकार, सभी विद्यममान वस्तुओं की भाँति, वह निस्संदेह रूप से प्रगति में भी समर्थ होती है। इसी से, कोई किसी दिवंगत आत्मा के लिए प्रार्थना कर सकता है कि वह उन्नति करे, उसे क्षमा प्रदान की जाए, या उसे दैवीय अनुकम्पाओं, अनुग्रहों तथा कृपा का भाजन बनाया जाए। इसीलिए, बहाउल्लाह की प्रार्थनाओं में, परलोकवासी आत्माओं के लिए ईश्वर की क्षमा एवं (पापों से) माफी के लिए विनती की गई है। इसके अतिरिक्त, जैसे लोगों को इस संसार में परमात्मा की आवश्यकता है, उसी प्रकार उनको परलोक में भी उसकी जरूरत है। प्राणिजन तो सदा ही अभावग्रस्त रहते हैं और ईश्वर सदा ही उनसे पूरी तरह स्वाधीन होता है, चाहे इहलोक हो या परलोक।

4. परलोक की सम्पदा ईश्वर की समीपता में होती है। अतः यह निश्चित है कि जिनको उस दिव्य देहरी का निकट सामीप्य प्राप्त है उनको मध्यस्थता करने की अनुमति है और यह मध्यस्थता ईश्वर की दृष्टि में मान्य है। लेकिन परलोक की मध्यस्थता का इस लोक की मध्यस्थता के साथ कोई मेल नहीं है। वह एक सर्वथा भिन्न स्थिति और वास्तविकता है, जिसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता।

5. यदि कोई धनिक अपनी मृत्य के निकट अपनी सम्पत्ति का एक अंश निर्धनों एवं अभावग्रस्तों के लिए वसीयत में देता है, तो संयोग से इस कार्य से उसे दिव्य दया एवं क्षमाशीलता का लाभ होगा और यह कार्य सर्वदयामय के लोक में उसकी प्रगति के रूप में प्रतिफलित होगा।

6. इसी प्रकार माता-पिता अपने बच्चों के लिए अधिकाधिक श्रम करते और कष्ट सहते हैं और प्रायः, बच्चे जब तक परिपक्व आयु प्राप्त करते हैं तब तक माता-पिता परलोक गमन कर जाते हैं। विरले ही माता-पिता अपने बच्चों के लिए उठाए गये कष्टों और पीड़ाओं के पुरस्कारों का इस संसार में भोग कर पाते हैं। अतः बच्चों के लिए आवश्यक है कि उनके कष्ट और पीड़ा के बदले में वे उनके नाम पर धर्मार्थ दानादि तथा सत्कार्य सम्पन्न करें और उनकी आत्माओं के लिए क्षमायाचना एवं पापमुक्ति हेतु प्रभु से अनुनय-विनय करें। अतः आपको अपने पिता के प्रेम तथा सौजन्यता के बदले में उनके नाम पर गरीबों को देना चाहिए और परम दीनता तथा विकलता के साथ ईश्वर की क्षमा एवं पापमोचन के लिए प्रार्थना और उसकी असीम दयालुता की चाह करनी चाहिए।

7. यह भी सम्भव है कि जो लोग पाप-कल्पित तथा अनास्थावान् रहते हुए मृत्यु को प्राप्त हुए हैं उनकी दशा बदल जाए, अर्थात् वे दैवीय क्षमाशीलता के पात्र बन जाएँ। ऐसा ईश्वर के न्याय से नहीं, बल्कि उसकी दया से होता है, क्योंकि दया अर्हता के बगैर प्रदान की जाती है और न्याय में वह देना होता है जिसकी पात्रता है। जिस प्रकार उन आत्माओं के लिए यहाँ प्रार्थना करने की हममें शक्ति होती है उसी प्रकार वही शक्ति परलोक अर्थात उस दैवीय साम्राज्य जगत में भी हमारे पास होगी। क्या उस लोक के सभी प्राणी ईश्वर की रचना नहीं हैं? इसलिए उस लोक में भी वे प्रगति करने में सक्षम होंगे। और जिस प्रकार वे विनती द्वारा प्रकाश एवं प्रबोधन प्राप्त करने के लिये यहाँ प्रयास कर सकते हैं, उसी प्रकार वे वहाँ भी प्रार्थना तथा विनती द्वारा क्षमा के लिए निवेदन और प्रकाश के लिए प्रयास कर सकते हैं। इस प्रकार आत्माएँ जैसे इस लोक में अपनी विनती और अनुनय-विनय करके, या पवित्रात्माओं की प्रार्थनाओं के जरिए वे प्रगति कर सकती हैं, उसी प्रकार मरणोपरान्त स्वयं अपनी प्रार्थनाओं एवं विनतियों के जरिए वे प्रगति कर सकती हैं, विशेष रूप से जब वे पवित्र ईश्वरावतारों की मध्यस्थता की पात्र बन जाती हैं।

**63**

**सभी का अपनी ही श्रेणी के अन्तर्गत विकास**

1. यह जान लो कि कोई विद्यमान वस्तु किसी स्थिर दशा में नहीं रहती है, अर्थात्, सभी वस्तुएँ गतिशील हैं। वे या तो वर्द्धमान हैं या हृसोन्मुख, या तो अनस्तित्व से अस्तित्व में आ रही हैं या अस्तित्व से अनस्तित्व में जा रही हैं। इस प्रकार यह फूल, यह सम्बूल, किसी अनस्तित्व से अस्तित्व में आया था और अब यह अस्तित्व से अनस्तित्व में जा रहा है। इस मूलभूत या प्राकृति गति कहा जाता है और इसे उत्पन्न हुई वस्तुओं से किसी प्रकार पृथक् नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह उनकी एक मूलभूत अपेक्षा है, जिस प्रकार आग की एक मूलभूत अपेक्षा जलाना है।

2. इस प्रकार यह स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है कि अस्तित्व के लिए गति आवश्यक है, चाहे वह उन्नयन हो या क्षरण। अब, मानवात्मा चूंकि मृत्यु के बाद भी अस्तित्व में रहती है, अतः या तो वह उन्नति करेगी या अवनति, और परलोक में उन्नति न करना अवनति करने ही जैसा है। लेकिन मानव चेतना अपनी निजी श्रेणी का कभी अतिक्रमण नहीं करती है। वह केवल उसी श्रेणी के भीतर प्रगति करती है। उदाहरण के लिए, पीटर की चेतना तथा सत्ता कितना ही विकास करे, किन्तु वह ईसा की सत्ता की श्रेणी तक कदापि नहीं पहुँच सकती। वह केवल अपनी ही सन्निहित सीमाओं के भीतर प्रगति करेगी।

3. इस प्रकार आप देखते हैं कि यह खनिज कितना ही विकास करे, पर उसकी प्रगति अपनी ही कोटि के भीतर रहेगी। उदाहरण के लिए, स्फटिक को आप सम्भवतया उस अवस्था में नहीं ला सकते जिसमें वह दृष्टि शक्ति प्राप्त कर ले। चन्द्रमा कितना ही विकसित हो जाए, वह चमकदार सूर्य नहीं बन सकता और उसके शिरोबिन्दु तथा निम्न बिन्दु सदा अपनी कोटि या श्रेणी के भीतर रहेंगे। ईश्वरावतारों के प्रेरित (जैसे पीटर) कितनी ही उन्नति कर लें, लेकिन वे कभी ईसा नहीं बन सकते। यह सत्य है कि कोयला हीरा बन सकता है, लेकिन दोनों खनिज श्रेणी के हैं और उनके संरचक तत्व एक हैं।

**64**

**मनुष्‍य का स्थान तथा मरणोपरान्त विकास**

1. जब हम पहचान की दृष्टि से सभी वस्तुओं का परीक्षण करते हैं तो हम देखते हैं कि वे सामान्यतया खनिज, वनस्पति तथा पशु इन तीन वर्गों तक सीमित हैं। इस प्रकार अस्तित्वों के तीन वर्ग हैं और प्रत्येक वर्ग से जुड़ी उसकी प्रजातियाँ हैं। मनुष्य इस अर्थ में सर्वाधिक विशिष्ट प्रजाति है कि उसमें सभी तीनों वर्गों की पूर्णताओं का सम्मिश्रण है। अर्थात् उसके पास एक पदार्थजन्य शरीर, सम्वर्द्धन की शक्ति और इन्द्रियानुभूति की शक्ति है। किन्तु खनिज, वानस्पतिक तथा पाशविक पूर्णताओं के अतिरिक्त, वह एक विशेष पूर्णता से भी सम्पन्न है जो अन्य सृजित वस्तुओं में नहीं है, अर्थात् बौद्धिक पूर्णताएँ। इस प्रकार मनुष्य सभी अस्तित्वधारी वस्तुओं में सर्वश्रेष्ठ है।

2. मनुष्य भौतिकता की अंतिम चरण में और आध्यात्मिकता के प्रारब्ध पर है, अर्थात् वह अपूर्णता के अन्त और पूर्णता के आदि पर है। वह अंधकार के अंतिम छोर पर और प्रकाश के आरम्भ पर है। इसीलिए मनुष्य के स्थान के बारे में कहा जाता है कि वह रात्रि का अन्त और दिन का आरम्भ है। तात्पर्य यह कि वह अपूर्णताओं की सभी श्रेणियों को अपने में समेटे हुए भी सम्भावित रूप से पूर्णताओं की सभी श्रेणियों का स्वामी है। एक पाशविक और दूसरा देवदूतीय दोनों पक्ष उसके हैं। शिक्षक की भूमिका यह होती है कि वह मानवात्माओं को इस प्रकार प्रशिक्षित करे कि देवदूतीय पक्ष पाशविक पक्ष को पराभूत करे। इस प्रकार, यदि दिव्य शक्तियाँ जो पूर्णता से अभिन्न हैं, आसुरी शक्तियों को जो निरी अपूर्णता हैं, पराजित करती हैं, तो वह सभी प्राणियों में श्रेष्ठतम बन जाता है। लेकिन यदि इसका उलटा होता है तो वह सभी प्राणियों में सबसे अधम बन जाता है। इसीलिए, वह अपूर्णताओं का अन्त और पूर्णताओं का आरम्भ है।

3. अस्तित्व जगत की किसी दूसरी प्रजाति में इतना वैभिन्य, विशिष्टता, विसंगति और विरोधाभास नहीं दिखाई देता है जितना मनुष्य में। उदाहरण के लिए, मनुष्य पर ही दिव्यता का उज्‍ज्‍वल प्रकाश प्रवाहित हुआ है, जैसा ईसा के साथ हुआ - देखो, कितना भव्य और श्रेष्ठ है मनुष्य ! इसी के साथ, मनुष्य पत्थरों, पेड़ों तथा मिट्टी के पिण्डों की पूजा करता है - देखो कि कितना अधम है वह, कि उसकी पूजा का लक्ष्य अस्तित्व की निकृष्तम श्रेणियाँ हों, अर्थात् निर्जीव पत्थर और मिट्टी के ढेले, पहाड, जंगल और पेड़ ! सभी चीजों में सबसे निम्नतम की करने से बड़ी बदनसीबी मनुष्य के लिए और क्या हो सकती है ?

4. इसके अतिरिक्त, ज्ञान एक मानवीय गुण है, लेकिन उसी प्रकार एक अज्ञान भी है। सत्यपरायणता एक मानवीय गुण है, पर वैसे ही एक गुण मिथ्या भी है। और यही विश्वासपात्रता और विश्वासघात, न्याय और अत्याचार इत्यादि के लिए भी सत्य है। संक्षेप में, प्रत्येक पूर्णता एवं सद्गुण के साथ-साथ प्रत्येक दुराचरण भी मानवीय वृत्ति है। इसी प्रकार, उन अन्तरों पर विचार कीजिए जो मानवजाति के सदस्यों बीच मौजूद हैं। ईसा मनुष्य के रूप में थे, और कैफास भी। मूसा मनुष्य थे और फराहो भी। हाबील एक मनुष्य थे और वैसे ही काबील भी। बहाउल्लाह मनुष्य थे और वहीं याह्या भी था।148 इसीलिए कहा जाता है कि मनुष्य ईश्वर का सबसे बड़ा प्रतीक चिह्न है - अर्थात् वह ‘सृष्टि की पुस्तक’ है - क्योंकि विश्व-ब्रह्माण्ड के सारे रहस्य उसमें पाये जाते हैं। अगर वह सच्चे ‘शिक्षक’ की छत्रछाया में आए और समुचित रूप से प्रशिक्षित हो तो, वह रत्नों का रत्न, प्रकाशों का प्रकाश और आत्माओं की आत्मा बन जाता है। वह दैवीय आशीषों का प्रमुख केन्द्र, आध्यात्मिक वृत्तियों का मुख्य स्रोत, स्वर्गिक ज्योतियों का उदयस्थल, और दैवीय प्रेरणाओं का भाजन बन जाता है। किन्तु इस शिक्षा से वंचित रह जाने पर वह आसुरी वृत्तियों का मूर्तिमंत स्वरूप, पाशविक पापाचारों का सार-संग्रह, और सभी का स्रोत बन जाता है जो दमनातमक और कालिमापूर्ण है।

5. ईशदूतों के आगमन के पीछे यही विवेक होता है: मानवजाति का शिक्षण, ताकि यह कोयले का टुकड़ा हीरा बन सके और इस अनुर्वर वृक्ष में कलम लगा कर परम मधुर एवं सुस्वादु फल की उत्पत्ति की जा सके। और मानव जगत में उत्तमोत्तम स्थानों को प्राप्त कर लेने के पश्चात्, पूर्णता की ही श्रेणियों में आगे की प्रगति की जा सके, स्थान में नहीं, क्योंकि कोटियाँ सीमित ही हैं लेकिन दैवीय पूर्णताएँ असीमित हैं।

6. भौतिक तत्वों से निर्मित इस चोले को उतार फेंकने के बाद में और पहले भी, मानवात्मा स्थान (कोटि) में नहीं, किन्तु पूर्णताओं का विकास करती है। सभी सृजित वस्तुओं के विकसन की चरम परिणति परिपूर्ण मनुष्य में होती है, और उससे महान कोई दूसरा प्राणी नहीं होता है। मानव पद पर पहुंचने के बाद मनुष्य, पद या स्थान में नहीं, केवल पूर्णताओं में प्रगति कर सकता है। कारण कि, पूर्ण मानव पद से उच्चतर कोई स्थान नहीं है जहाँ उसे राह मिल सके। वह मानव पद के भीतर रहकर ही प्रगति कर सकता है, क्योंकि मानव पूर्णताएँ असीम हैं। इस प्रकार कोई मनुष्य कितना ही विद्वान हो, उससे अधिक विद्वान की कल्पना करना हमेशा सम्भव होता है।

7. और जब मनुष्य की पूर्णताएँ असीम हैं तो, वह इस लोक से अपने आरोहण के बाद भी इन पूर्णताओं के मार्ग पर आगे बढ़ सकता है।

**65**

**आस्था और कार्य**

1. प्रश्न: किताब-ए-अक़दस में कहा गया है: “...जो इस कर्त्‍तव्‍य से वंचित रह गया वह भटका हुआ है, चाहे वह सभी सद्कार्यों का प्रणेता ही क्यों न हो।149 इस पवित्र अनुवाक्य का अर्थ क्या है?

2. उत्तर: इस पवित्र पद का अर्थ यह है कि सफलता तथा मुक्ति की आधारशिला ईश्वर की मान्यता है और सत्कर्म, जो आस्था-भक्ति के फल हैं, इसी मान्यता से उत्पन्न होते हैं।

3. जब तक यह मान्यता या पहचान उपलब्ध नहीं है तब तक मनुष्य ईश्वर से दूर ही रहता है। इस अलगाव के कारण उसके सत्कर्मों का पूरा और अभीष्ट प्रतिफल भी नहीं मिलता है। इस अनुवाक्य का तात्पर्य यह नहीं है कि जो लोग ईश्वर से विमुख हैं वे सब बराबर हैं, चाहे वे सत्कर्मी हों या अधर्मी। इसका अर्थ केवल यह है कि ईश्वर की मान्यता आधार रूपी नींव है, और इसी ज्ञान से सत्कर्म उत्पन्न होते हैं। तथापि यह निश्चित है कि ईश्वर के प्रति अज्ञान से अवतरित लोगों में सत्कर्मी और पापी तथा कुकर्मी के बीच एक अंतर है। कारण कि, उत्तम चरित्र तथा आचरण से सम्पन्न किन्तु ईश्वर से विमुख आत्मा ईश्वर की क्षमाशीलता की पात्र है, जब कि कुचरित्र तथा दुराचरण से सम्पन्न ईश्वर-विमुख पापी ईश्वर के अनुग्रहों एवं उदारताओं से वंचित रहेगा। दोनों में यही अन्तर है।

4. इसलिए, इस पवित्र अनुवाक्य का अर्थ है कि ईश्वर को स्वीकारे बिना अकेले सत्कर्म शाश्वत मोक्ष का, चिरस्थायी सफलता और मुक्ति का, तथा ईश्वर के लोक में प्रवेश का मार्ग प्रशस्त नहीं कर सकते।

**66**

**शारीरिक मृत्यु के बाद  
बुद्धिपरक आत्मा की संस्थिति**

1. प्रश्न: शरीर त्याग के बाद चेतना जब उड़ान ले लेती है तब बुद्धिपरक आत्मा किसका आश्रय लेकर रहती है? हम मान लें कि जिन आत्माओं को ‘पावन चेतना’ के निस्सरणों से सहायता मिलती है, वे सच्चा अस्तित्व और सदाबहार जीवन प्राप्त करती हैं। लेकिन जो बुद्धिपरक आत्माएँ ईश्वर से दूर हैं उनका क्या होता है ?

2. उत्तर: कुछ लोगों का मानना है कि शरीर पदार्थ है और अपने आप निर्वाह करता है, और चेतना एक संयोग या उपलक्षण है, जो शरीर के पदार्थ पर निर्वाह करती है। किन्तु सत्य यह है कि बुद्धिपरक आत्मा वह वस्तु है जिसके जरिए शरीर का निर्वाह होता है। यदि संयोग यानी शरीर नष्ट होता है तो वस्तु अर्थात् चेतना बनी रहती है।

3. दूसरी बात यह कि, बुद्धिपरक आत्मा या मानव चेतना इस शरीर में अन्तर्निष्ठ रहकर शरीर के जरिए निर्वाह नहीं करती है। कहने का अर्थ यह कि वह उसमें प्रवेश करती है, क्योंकि अन्तर्निष्ठता एवं प्रवेश शरीरों के लक्षण हैं, और बुद्धिपरक आत्मा इन सबसे निर्मल है। अपना जीवन आरम्भ करने के लिए उसने इस शरीर में कभी प्रवेश नहीं किया, कि उसे शरीर छोड़ने पर किसी अन्य घर की आवश्यकता हो। शरीर के साथ चेतना का सम्बन्ध किसी दर्पण के साथ दीपक के सम्बन्ध जैसा ही होता है। दर्पण अगर चमकीला और परिष्कृत है तो दीपक का प्रकाश उसमें अविर्भूत होता है, और दर्पण अगर टूटता या धूल से आच्छादित है तो प्रकाश छिपा रहता है।

4. बुद्धिपरक आत्मा अर्थात् मानवात्मा इस शरीर में नहीं उतरी, अथवा शुरूआत करने के लिए उससे निर्वाह नहीं किया, कि उसे शरीर के संरचनात्मक घटकों के विद्यटन के बाद किसी अन्य तत्व पर निर्भर रहने की अपेक्षा हो।

इसके विपरीत, बुद्धिपरक आत्मा वह तत्व है जिस पर शरीर निर्भर होता है। बुद्धिपरक, आत्मा आरम्भ से ही व्यक्तिमत्ता से सम्पन्न है। यह व्यक्तिमत्ता उसे शरीर की मध्यस्थता के द्वारा नहीं मिलती है। अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि बुद्धिपरक आत्मा (सूक्ष्म शरीर) की व्यक्तिमत्ता और पहचान को इस संसार में सशक्त बनाया जा सकता है, और आत्मा या तो प्रगति करके पूर्णता की श्रेणियाँ प्राप्त करती है या अज्ञान के अधोतम रसातल में रह जाती है और ईश्वर से विमुख तथा उसके चिह्नों के दर्शन से वंचित हो जाती है।

5. प्रश्न: इस नश्वर संसार से प्रस्थान करने के पश्चात् मनुष्य की चेतना - बुद्धिपरक आत्मा - किन साधनों से प्रगति कर सकती है?

6. उत्तर: भौतिक शरीर से सम्बन्ध विच्छेद होने के बाद, दैवीय जगत में मानव चेतना की प्रगति या तो शुद्ध रूप से प्रभु की कृपा एवं उदारता के जरिए होती है, या दूसरी मानवात्माओं की मध्यस्थता तथा प्रार्थनाओं के जरिए, अथवा उनके नाम पर किये जाने वाले महत्वपूर्ण अंशदानों तथा परोपकारी कार्यों के माध्यम से होती है।

7. प्रश्न: उन का क्या होता है जो परिपक्व आयु प्राप्त करने के पहले या जन्म के निर्धारित समय के पहले मृत्य को प्राप्त हो जाते हैं ?

8. उत्तर: ये बच्चे दैवीय विधान की छत्रछाया में निवास करते हैं। प्रकृति जगत की मलिनताओं से वे अशुद्ध नहीं हुए हैं और उन्होंने पाप नहीं किए है, अतः वे दैवीय अनुग्रह के साक्षात स्वरूप बनेंगे और उन पर दिव्य दयालुता की दृष्टि की झलक पड़ेगी।

**67**

**शाश्‍वत जीवन तथा ईश्‍वरीय जगत में प्रवेश**

1. आप ने शाश्वत जीवन और दैवीय जगत में प्रवेश के सम्बन्ध में पूछा है। ऊपरी तौर से दिव्य जगत को “अकाश” कहा जाता है, लेकिन यह मात्र एक अभिव्यंजना और साम्यता है, तथ्यात्मक कथन या वास्तविकता नहीं है। क्योंकि दिव्य जगत भौतिक स्थान नहीं, बल्कि वह देश और काल से परे है। वह आध्यात्मिक क्षेत्र, दिव्य लोक है और सर्वशक्तिमान् प्रभु की प्रभुसत्ता का अधिष्ठान है। यह शरीरों से और जो कुछ दैहिक है उस सबसे परे, अत्यधिक उन्नत है और मनुष्यों की निराधार कल्पनाओं से मुक्त तथा निर्मल है। कारण कि, स्थान में परिसीमित होना चेतनाओं का नहीं, शरीरों का लक्षण है। काल और देश (स्थान) शरीर को घेरते हैं, मन तथा आत्मा को नहीं।

2. देखो कि मानव शरीर सीमित जगह में निवास करता है और दो गज जमीन से ज्यादा नहीं घेरता है। लेकिन मनुष्य के मन तथा चेतना सभी देशों, क्षेत्रों, यहाँ तक कि आसमानों के अनन्त विस्तार के भी आर-पार जाते हैं। समस्त अस्तित्व उनकी परिधि में है और वे उच्च क्षेत्रों में तथा ब्रह्माण्ड की निस्सीम दूरियों में खोजें करते हैं। इसका कारण यह है कि चेतना का कोई स्थान नहीं है। वह स्थानरहित वास्तविकता है। और चेतना के लिए पृथ्वी तथा आकाश एक ही है और जो कुछ उसकी पहुंच में नहीं है उसे वह नहीं जानता है।

3. अस्तु, जीवन दो प्रकार का होता है: शरीर का जीवन और चेतना का जीवन। शरीर का जीवन भौतिक जीवन में होता है, लेकिन चेतना का जीवन अलौकिक अस्तित्व है जो ‘दैवीय चेतना’ से कृपा लाभ में और ‘पावन चेतना’ की श्वांस से अनुप्राणित होने में है। यद्यपि भौतिक जीवन का भी अस्तित्व होता है, फिर भी पवित्र एवं आध्यात्मिक मानसिकता वाली आत्माओं की नजरों में वह नितान्त अनस्तित्व तथा मृत्यु ही है। आदमी का अस्तित्व है और इस पत्थर का भी अस्तित्व है, लेकिन मनुष्य के अस्तित्व और पत्थर के अस्तित्व में कितना अन्तर है! यद्यपि पत्थर अस्तित्वधारी है, लेकिन मनुष्य के अस्तित्व की तुलना में वह अस्तित्वहीन ही है।

4. ‘शाश्वत जीवन’ से अर्थ है ‘पावन चेतना’ की कृपा प्राप्ति, उसी प्रकार जैसे कोई फूल बसंतकाल के समीरों तथा उपहारों में साझीदार होता है। देखो कि आरम्भ में इस फूल का शुद्ध रूप से खनिज जीवन था, फिर भी बसन्तकाल के आगमन से, उसकी अभिनव बौछारों के सिंचन तथा उसके चमकते सूर्य की ऊष्‍मा से, उसे एक दूसरा जीवन मिला और वह अत्यधिक सजीवता, सुकुमारता और सौरभ से भर कर प्रकाशित हुआ। फूल का पूर्व जीवन उसके परवर्ती जीवन की तुलना में मृत्यु के ही समान था।

5. हमारा तात्पर्य है कि दिव्य जगत का जीवन ही चेतना का जीवन है और मानव चेतना की ही भाँति वह शाश्वत और देश-काल के बंधनों से मुक्त है। क्योंकि अगर सम्पूर्ण मानव शरीर में खोज कर देखें तो चेतना का कोई स्थान विशेष या निवास स्थान आप नहीं पाएंगे। चेतना सर्वथा स्थानरहित और अभौतिक वस्तु है, लेकिन शरीर के साथ उसका सम्बन्ध उसी प्रकार से है जैसा सूर्य का सम्बन्ध इस दर्पण के साथ है। सूर्य दर्पण में कोई स्थान नहीं घेरता है, लेकिन दर्पण से उसका सम्बन्ध होता है। इसी प्रकार, दिव्यजगत भी उस सबसे मुक्त एवं निर्मल है जिसे नेत्रों से देखा या श्रवण, गन्ध और स्पर्श जैसी अन्य इन्द्रियों द्वारा जिसका बोध किया जा सकता है।

6. फिर यह मन मनुष्य में कहाँ मिल सकता है जो उसमें निवास करता है और जिसका अस्तित्व असंदिग्ध है? मानव शरीर में यदि आप नेत्र से, या कान से, या अन्य इन्द्रियों की सहायता से जांच करें, तो आप उसे खोज पाने में असफल ही रहेंगे, यद्यपि वह स्पष्टतया विद्यमान है। अतः मन के पास कोई स्थान नहीं है, फिर भी वह मस्तिष्क से जुड़ा है। इसी तरह प्रेम के पास कोई स्थान नहीं है, फिर भी वह हृदय से जुड़ा है। और इसी प्रकार, दिव्य जगत के पास कोई स्थान नहीं है लेकिन वह मानव सत्ता के साथ जुड़ा है।

7. दिव्य जगत में प्रवेश ईश्वर-प्रेम, अनासक्ति, निर्मलता और पवित्रता, सत्यपरायणता और विशुद्धता, दृढ़ता एवं निष्ठा और आत्मत्याग द्वारा होता है।

8. इन सभी स्पष्टीकरणों से यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य अमर है और चिरस्थायी है। जो ईश्वर में विश्वास करते हैं, जो उसके प्रति प्रेम रखते हैं और जिनको निश्चय की सिद्धि हो गई है, वे उस दिव्य जीवन का उपभोग करते हैं जिसे हम शाश्वत जीवन कहते हैं। लेकिन जो ईश्वर से दूर हैं वे भले ही जीवन में धनी हों, फिर भी उनका वास अंधकार में हैं और उनका जीवन निष्ठावानों के जीवन की तुलना में अनस्तित्व ही है।

9. इस तरह, नेत्र जीवित है और अंगुली पर का नाखून भी जीवित है, लेकिन आँख के जीवन की तुलना में नाखून का जीवन, जीवन नहीं है। पत्थर और मनुष्य दोनों का अस्तित्व है, पर मनुष्य की तुलना में पत्थर में कोई अस्तित्व या प्राण नहीं है, क्योंकि जब मनुष्य मरता है तो उसका शरीर विघटित और नष्ट हो जाता है, वह पत्थर, मिट्टी और खनिज के समान बन जाता है। अतः यह स्पष्ट है कि यद्यपि खनिज का अस्तित्व है लेकिन मनुष्य के सम्बन्ध से वह अस्तित्वहीन ही है।

10. इसी प्रकार, जो आत्माएँ ईश्वर से दूर हैं, वे यद्यपि इहलोक तथा परलोक दोनों में अपनी सत्ता रखती हैं, लेकिन वे दिव्य जगत की संतानों के निर्मल अस्तित्व की तुलना में अस्तित्वहीन तथा विस्मृत होती हैं।

**68**

**दो प्रकार का भाग्य**

1. प्रश्न: पवित्र ग्रंथों में जिस भाग्य का उल्लेख हुआ है, वह क्या अटल होता है? और यदि ऐसा है तो उससे बचने के प्रयास का उपयोग या लाभ क्या होगा ?

2. उत्तर: भाग्य दो प्रकार का होता है: एक अपरिवर्तनीय या अटल है और दूसरा प्रतिबन्धित या शर्तबद्ध या जैसा उसे कहा जाता है -आसन्न। अटल भाग्य वह है जिसमें परिवर्तन या हेर-फेर नहीं हो सकता, जबकि आसन्न भाग्य वह है जो घटित हो सकता है और नहीं भी हो सकता है। जैसे, इस दीपक का अटल भाग्य यह है कि इसका तेल जब समाप्त हो जाएगा। अन्ततः इसका बुझना निश्चित है और इस प्रतिफल में बदलाव या हेर-फेर करना असम्भव है, क्योंकि यही उसकी अटल नियति है। इसी प्रकार, मनुष्य के शरीर में एक शक्ति उत्पन्न की गई है, जिसके रिक्त और समाप्त होने पर अटल रूप से शरीर का विघटन हो जाता हैं वह इस दीपक के तेल के ही समान है। तेल के निःशेष होने पर दीपक निश्चित रूप से बुझ जाएगा।

लेकिन प्रतिबन्धित या आसन्न भाग्य की तुलना इस प्रकार की जा सकती है, कि दीपक में अभी कुछ तेल शेष है। उसी समय हवा का एक तेज झोंका आता है और दीपक को बुझा देता है। यह भाग्य प्रतिबन्धित है। इस भाग्य को बचना, उससे अपनी रक्षा करना और सजग तथा सावधान रहना औचित्यपूर्ण है। लेकिन अटल भाग्य में, जो दीपक के तेल के निःशेष होने के समान है, कोई बदलाव, या हेर-फेर, या उसमें टाल-मटोल नहीं किया जा सकता। उसे तो घटित होना ही है और इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि दीपक बुझेगा।

**69**

**नक्षत्रों का प्रभाव और  
वस्तुओं का अन्तःसम्बन्ध**

1. प्रश्न: आकाशीय नक्षत्रों का कोई आध्यात्मिक प्रभाव मानवात्माओं पर होता है या नहीं?

2. उत्तर: कुछ खगोलीय पिण्ड पृथ्वी और उसके प्राणियों पर भौतिक प्रभाव डालते हैं जो स्पष्ट और प्रत्यक्ष है, और उसके स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है। सूर्य पर विचार कीजिए जो दैवीय कृपा की सहायता से धरती और उसके सभी प्राणियों का पालन-पोषण करता है। वास्तव में, अगर सूर्य का प्रकाश और ऊष्मा न मिले, तो सारी पार्थिव वस्तुओं का अस्तित्व ही पूरी तरह समाप्त हो जाए।

3. आध्यात्मिक प्रभावों के सम्बन्ध में कहें तो, यद्यपि यह विचित्र प्रतीत हो सकता है कि ये नक्षत्र मानव जगत पर कोई आध्यात्मिक प्रभाव डालें, फिर भी यदि आप गहराई से इस विषय पर विचार करें तो आप को अधिक आश्चर्य नहीं होगा। तथापि मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि प्राचीन ज्योतिषियों ने तारों तथा ग्रहों की गतियों से जो निष्कर्ष निकाले थे वे सत्य थे। कारण कि, ये मात्र उनकी कल्पनाओं की कल्पित वस्तुएँ थीं जिनका मूल स्रोत मिस्र, असीरिया और चाल्डिया के धर्मयाजक (पुरोहित) थे, अथवा ये कल्पनाएँ अपेक्षाकृत हिन्दुओं के निराधार अनुमानों तथा यूनानियों और रोमवासियों के अन्धविश्वासों एवं अन्य नक्षत्र-पूजकों से उत्पन्न हुई थीं। इसके विपरीत, मेरा तात्पर्य यह है कि यह अन्तहीन विश्व-ब्रह्माण्ड मानव शरीर की भाँति है और उसके सभी अंग परस्पर सम्बन्धित तथा परम पूर्णता के साथ एक-दूसरे से जुड़े हैं। अर्थात्, जिस प्रकार मानव शरीर के हिस्से, अंग एवं अवयव अन्तः सम्बन्धित हैं और वे आपस में एक-दूसरे को सहायता देने, सम्बल प्रदान करते और प्रभावित करते हैं, उसी प्रकार इस अंतहीन ब्रह्माण्ड के हिस्से और सदस्य भी एक दूसरे से जुड़े हैं और आध्यात्मिक एवं भौतिक रूप से एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं। उदाहरण के लिए, आँख देखती है लेकिन पूरा शरीर प्रभावित होता है। सुनता कान है, लेकिन प्रत्येक अंग और अवयव हिल उठता है। इस विषय में कोई संदेह नहीं है, क्योंकि अस्तित्व जगत भी जीवित व्यक्ति के ही समान है। इस प्रकार, बह्माण्ड के विभिन्न भागों के बीच जो अन्तःसम्बन्ध है उसके लिए पारस्परिक प्रभाव तथा प्रेरणाएँ अपेक्षित ही हैं, वे चाहे भौतिक हों या आध्यात्मिक।

4. जो व्यक्ति भौतिक वस्तुओं के आध्यात्मिक प्रभाव को स्वीकार नहीं करते हैं, उनके लिए हम एक छोटे-से उदाहरण का उल्लेख करते हैं: मनमोहक ध्वनियों, अद्भुत नामों और सुर-तालमय सुमधुर गीतों का संयोग वायु को प्रभावित करता है, क्योंकि ध्वनि में वायु के कम्पन होते हैं। इन कम्पनों से कान के परदे के स्नायु उत्तेजित होते हैं, और परिणामस्वरूप सुनाई देता है। अब विचार कीजिए कि कैसे ये वायु के कम्पन जो अमौलिक गुणों में एक गुण है और जिनको बेकार माना जाता है, मानव चेतना को आकर्षित और आह्लादित करते हैं, हँसाते हैं और अपने आप को अहित के मार्ग में खड़ा कर देने तक के लिए प्रेरित कर सकते हैं। तो देखिए, कि मानव चेतना और वायु के कम्पनों के बीच कैसा सम्बन्ध है कि वायुजनित कम्पन मनुष्य को एक दूसरी ही अवस्था में ले जाकर उसे इतना अभिभूत कर सकते हैं कि वह धैर्य और मानसिक प्रशान्ति से पूर्णतया वंचित हो जाए। विचार कीजिए कि कैसी अनोखी बात है, कि गायक से कोई वस्तु नहीं निकलती है जो श्रोता में प्रवेश करे, फिर भी महान आध्यात्मिक प्रभाव उत्पन्न होते हैं। इसलिए सभी उत्पन्न हुई वस्तुओं के बीच यह घनिष्ठ सम्बन्ध आध्यात्मिक प्रभावों एवं प्रेरणाओं को उत्पन्न करने के लिए बाध्य है।

5. यह ऊपर बताया जा चुका है कि मानव शरीर के हिस्से तथा अंग आपस में एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए, नेत्र देखता है और हृदय प्रभावित होता है। कान सुनता है और चेतना प्रभावित होती है। हृदय को शांति प्राप्त होती है, विचार व्यापक बनते हैं और शरीर के सभी अंगों को स्वस्थ अवस्था का अनुभव होता है। कितना जुड़ाव और सम्बन्ध है यह! और अगर ऐसे सम्बन्ध, ऐसी आध्यात्मिक प्रेरणाएँ तथा प्रभाव उस मनुष्य के शरीरांगों के बीच पाये जाते हैं जो बहुतों के बीच में मात्र एक प्राणी विशेष है, तो फिर विश्व-ब्रह्माण्ड के अगणित प्राणियों के बीच आध्यात्मिक एवं भौतिक दोनों प्रकार के सम्बन्ध सुनिश्चित रूप से मौजूद होने चाहिए। और यद्यपि हमारे वर्तमान विज्ञान तथा विधियाँ ब्रह्माण्डीय प्राणियों के बीच के इन सम्बन्धों की पहचान नहीं कर सकते, तथापि उनका अस्तित्व स्पष्ट और निर्विवाद है।

6. संक्षेप में, सभी प्राणी, सार्वभौम या विशिष्ट, ईश्वर के परिपूर्ण विवेकानुसार आपस में जुड़े हैं और एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। यदि ऐसा न हो, तो अस्तित्व जगत का सर्वग्राही संगठन और ब्रह्माण्डीय व्यवस्था अस्त-व्यस्त और छिन्न-भिन्न हो जाए। और सभी सृजित वस्तुएँ चूंकि बड़ी मजबूती के साथ एक-दूसरे से जुड़ी हैं, इसलिए वे सुव्यवस्थित, सुप्रबन्धित और सर्वांगपूर्ण हैं।

7. यह विषय सघन परीक्षण के योग्य है और इसके लिए ध्यानपूर्वक गहन विचार की आवश्यकता है।

**70**

**स्वतंत्र इच्छा और उसकी सीमाएँ**

1. प्रश्न: मनुष्य अपने सभी कार्यों में क्या स्वतंत्र और अप्रतिबन्धित है, अथवा विवश और बाध्य है?

2. उत्तर: यह धर्मविज्ञान के सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्नों में से एक है और बहुत ही गूढ़ है। ईश्वरेच्छा से, किसी अन्य दिन हम इसे अपने लंच के प्रारम्भ से ही विस्तारपूर्वक समझाएंगे। अभी हम संक्षेप में कुछ शब्द कहेंगे।

3. कुछ विषय मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा के अधीन हैं, जैसे न्याय और निष्पक्षतापूर्ण व्यवहार, अन्याय और अधर्मपूर्ण कार्य - दूसरे शब्दों में, शुभ या अशुभ कर्मों का चयन। यह स्पष्ट और प्रत्यक्ष है कि इस प्रकार के कार्यों में मानवेच्छा की बड़ी भूमिका है। लेकिन कुछ विषय ऐसे हैं, जहाँ मनुष्य बाध्य और विवश है, जैसे नींद, मृत्यु, बीमारी, अशक्तता, दुर्भाग्य और भौतिक हानि। ये मनुष्य की इच्छा के अधीन नहीं हैं और इनके लिए वह जवाबदेह नहीं है क्योंकि उन्हें सहने-भोगने को वह विवश है। लेकिन शुभ और अशुभ कर्मों को चुनने में वह स्वतंत्र है, और अपनी ही इच्छा के अनुसार उन्हें वह करता है।

4 उदाहरण के लिए, अगर वह चाहे तो अपने दिन ईश्वर की स्तुति में बिता सकता है। अगर वह चाहे तो ईश्वर के सिवा, अन्य चीजों से जुड़ सकता है। वह ईश्वर-प्रेम की ज्योति से अपने हृदय-दीप को प्रकाशित कर विश्व का शुभाकांक्षी बन सकता है, अथवा वह सारी मानवजाति का शत्रु बन कर सांसारिक वस्तुओं के प्रति अनुरक्त हो सकता है। वह न्यायप्रिय या अन्यायी बन सकता है। ये सभी कर्म और कार्य उसकी अपनी इच्छा के अन्तर्गत हैं और इसीलिए वह इनके लिए जवाबदेह है।

5. लेकिन एक यह प्रश्न उठता है - मनुष्य की स्थिति नितान्त असहाय और निरी दरिद्रता जैसी है। सारी शक्ति-सामर्थ्‍य केवल ईश्वर के पास है और मनुष्य की उन्नति या अवनति उस परमोच्च की इच्छा तथा प्रयोजन पर निर्भर होते हैं। इस पर गॉस्‍पल में कहा गया है कि ईश्वर कुम्हार की भाँति है जो “एक पात्र सम्मान योग्य और दूसरा असम्मान हेतु बनाता है!151 अस्तु, असम्मानित पात्र को कुम्हार से इन शब्दों में बुरा-भला कहने का अधिकार नहीं है,” तुमने मुझे कीमती प्याला क्यों नहीं बनाया जो एक से दूसरे हाथ में जाया करता?” इन शब्दों का अर्थ है कि आत्माएँ भिन्न-भिन्न स्थानों की अधिकारी होती हैं। जो अस्तित्व के सबसे निचले स्तर, जैसे खनिज का अधिकारी है, उसे यह कहकर आपत्ति करने का अधिकार नहीं है, “हे ईश्वर, तुमने मुझे वृक्ष की पूर्णताओं क्यों नहीं दी हैं?” इसी तरह वृक्ष को यह विरोध करने का अधिकार नहीं है, कि उसे पशु क्षेत्र की पूर्णताओं से वंचित रखा गया है। और इसी प्रकार, पशु के लिए उचित नहीं है कि वह मानवीय पूर्णताओं के अभाव की शिकायत करे। नहीं, ये सभी चीजें अपनी-अपनी कोटि में परिपूर्ण हैं और उसी कोटि की पूर्णताओं के अनुसार उनको काम करना चाहिए। जैसा कि हमने पहले कहा है, कि दर्जे में जो निम्न या हीन है उसे कोई अधिकार या योग्यता नहीं है कि वह उसके पद और पूर्णताओं की आकांक्षा करे जो श्रेष्ठ है, बल्कि अपनी ही श्रेणी के भीतर रहते हुए उसे प्रगति करनी चाहिए।152

6. इसके अतिरिक्त, मनुष्य की चेष्टा या निश्चेष्टता भी ईश्वर की सहायता पर ही निर्भर हैं। यदि यह सहायता उसके पास न पहुँचे तो वह अच्छा या बुरा कुछ नहीं कर सकता। लेकिन जब वह परम उदार प्रभु मनुष्य को अस्तित्व प्रदान करता है तो वह शुभ और अशुभ दोनों में सक्षम होता है, और यदि वह सहायता हटा ली जाये तो वह नितान्त शक्तिहीन हो जाएगा। इसीलिए पवित्र धर्मगंथों में ईश्वर की सहायता और सहयोग का उल्लेख हुआ है। इस दशा की तुलना उस जलयान की स्थिति से की जा सकती है जो पवन या वाष्प की शक्ति से चलता है। यह शक्ति यदि विच्छेदित कर दी जाए तो जहाज चलने में पूरी तरह असमर्थ हो जाएगा। तथापि, पतवार जिस दिशा में मुड़ती है, आपकी शक्ति जहाज को उसी दिशा में आगे बढ़ाती है। पतवार को यदि पूर्व की और मोड़ा जाए तो जहाज पूर्व दिशा में चलता है और अगर उसे पश्चिम की ओर चलाया जाये तो जहाज पश्चिम में जाता है। यह गति स्वयं जहाज से उत्पन्न नहीं होती, बल्कि वायु या भाप से होती है।

7. इसी प्रकार, मनुष्य के समस्त कार्यकलाप दैवीय सहायता की शक्ति से क़ायम रहते हैं, किन्तु शुभ या अशुभ का चयन वह स्वयं ही करता है। यह ऐसा ही है जैसे राजा किसी व्यक्ति को एक नगर का नगरपाल नियुक्त करता है, उसे पूरा प्राधिकार प्रदान करता है और विधान के अनुसार जो उचित या अनुचित है उसे भी दिखला देता है। अब, यदि नगरपाल अन्याय करे, तो भले ही वह राजा की शक्ति तथा अधिकार से काम कर रहा है, फिर भी राजा उसके अन्याय की अनदेखी नहीं कर सकता। और यदि नगरपाल न्यायपूर्वक काम करे, तो इसे भी वह राजकीय अधिकार से ही करेगा और तब राजा उसके न्याय से बहुत प्रसन्न और संतुष्ट होगा।

8. हमारा तात्पर्य यह है कि शुभ और अशुभ की पसन्द मनुष्य की होती है, लेकिन हर परिस्थिति में मनुष्य ईश्वरीय विधान की जीवन-सम्पोषक सहायता पर निर्भर होता है। ईश्वर की प्रभुसत्ता सचमुच महान है और सभी उसकी शक्ति की मुट्ठी में बंदी हैं। सेवक अकेला अपनी इच्छा से कुछ नहीं कर सकता। ईश्वर ही सर्वशक्तिमान और सर्वसमर्थ है और समग्र सृष्टि को अपनी सहायता प्रदान करता है।

9. इस प्रश्न पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला और उसे समझा दिया गया है।

**71**

**आध्यात्मिक उद्घाटन**

1. प्रश्न: कुछ लोगों का विश्वास है कि उनके पास आध्यात्मिक रहस्योद्घाटन हैं, अर्थात्, वे आत्माओं से वार्तालाप करते हैं। यह कैसे होता है?

2. उत्तर: आध्यात्मिक उद्घाटन दो प्रकार के होते हैं: एक वह जो सामान्यतया दूसरे जनसमाज के लोगों से सम्बन्धित है और कल्पना मात्र है, दूसरी प्रकार में सच्चे आध्यात्मिक दर्शन हैं, जैसे ईसाइया, अेरेमिया और जॉन के प्रकटीकरण।

3. विचार कीजिए कि मनुष्य की मननशील शक्तियों से दो प्रकार की संकल्पनाएँ उत्पन्न होती हैं। एक प्रकार ठोस और सच्ची संकल्पनाओं का होता है जो संकल्प के साथ जुड़कर बाहरी तौर पर वास्तविक स्वरूप लेता है, जैसे समुचित व्यवस्थाएँ, बुद्धिमानीपूर्ण अभिमत, वैज्ञानिक अनुसंधान और तकनीकी अविष्कार। दूसरा प्रकार मिथ्या विचारों और निराधार कल्पनाओं का होता है जिनका कोई फल नहीं निकलता और जिनमें कोई वास्तविकता नहीं होती। वे भ्रान्ति के सागर की लहरों की भाँति तरंगायित होकर निरर्थक स्वप्नों की भाँति मिट जाते हैं।

4. इसी प्रकार आध्यात्मिक उद्घाटनों के दो प्रकार और हैं: एक है ईशदूतों द्वारा किए गये दिव्य दर्शन और ईश्वर के प्रियजनों के आध्यात्मिक रहस्योद्घाटन। ईशदूतों के दिव्य दर्शन स्वप्न नहीं, बल्कि सच्चे आध्यात्मिक उद्घाटन होते हैं। इस प्रकार जब वे कहते हैं: “मैंने किसी को ऐसे स्वरूप में देखा और मैंने ऐसे शब्द बोले और उसने ऐसा उत्तर दिया,” तो ऐसा दिव्य दर्शन जाग्रत अवस्था में होता है, स्वप्न क्षेत्र में नहीं। यह आध्यत्मिक खोज होती है जिसे दिव्य दर्शन के रूप में व्यक्त किया जाता है।

5. दूसरे प्रकार के आध्यात्मिक उद्घाटन मात्र मोहभ्रम होता है, लेकिन ये मायाजनित भ्रान्तियाँ मन में ऐसा ठोस रूप ले लेती हैं कि अनेक सरल-हृदय व्यक्ति उनके वास्तविक होने की कल्पना कर लेते हैं। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि आत्माओं के इस तथाकथित आह्वान या सम्मोहन से कभी कोई ठोस परिणाम या प्रतिफल सामने नहीं आता है। नहीं, ये मात्र मनगढंत कहानियाँ और कल्पित कथाएँ होती हैं।

6. अतः यह जान लो कि मानव यथार्थ सभी वस्तुओं की वास्तविकताओं को परिवेष्टित करता है और उनके सच्चे स्वरूप की, उनके गुणों तथा रहस्यों की खोज करता है। उदाहरण के लिए, सभी वर्तमान शिल्पों, आविष्कारों, विज्ञानों एवं विद्या की शाखाओं की खोज मानव यथार्थ द्वारा की गई है। किसी समय ये सभी गुप्त एवं प्रच्छन्न रहस्य थे, किन्तु मनुष्य की यथार्थता ने धीरे-धीरे उनकी खोज की, और उनको अदृश्य जगत से दृश्य जगत में ले आई। अतः यह सुस्पष्ट है कि सभी वस्तुएँ मानव-यथार्थ (सत्ता) की परिधि में हैं। इस प्रकार वह यूरोप में होती है और आसमानों में अनुसंधान करती है। वह सभी वस्तुओं के रहस्यों का उद्घाटन करती है और प्राणियों की वास्तविकताओं (तत्वों) को समझती है। ये सच्चे उद्घाटन जो वास्तविकता के अनुरूप हैं, दिव्य दर्शनों के समान ही होते हैं - जो आध्यात्मिक समझदारी, दिव्य प्रेरणा तथा मानव चेतनाओं की सघन घनिष्ठता में हैं। और इस प्रकार, इनको पाने वाला कहेगा कि उसने ऐसी वस्तु देखी, या कही, या सुनी है।

7. अतः यह स्पष्ट है कि चेतना में सशक्त बोध हैं जिनको आँख-कान इत्यादि पंचेन्द्रियों के साधनों की आवश्यकता नहीं है। और आध्यात्मिक बोधों तथा आन्तरिक उद्घाटनों के सम्बन्ध में, तथ्य यह है कि आध्यात्मिक आत्माओं के बीच एकता होती है जो तमाम कल्पना तथा तुलना से परे होती है और एक घनिष्ठता होती है जो काल-देश से परे हैं। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, गॉस्‍पल में जहाँ यह लिखा है कि मूसा और इलियास टाबोर पर्वत पर ईसामसीह के पास आए, उससे यह स्पष्ट है कि यह स्थूल या भौतिक मिलन नहीं, बल्कि एक आध्यात्मिक स्थिति थी जिसे भौतिक मिलन के रूप में दर्शाया गया है।

8. चेतनाओं के आह्वान और उनके साथ वार्तालाप तथा संवाद का दूसरा प्रकार व्यर्थ कल्पना और शुद्ध मायाजाल है, यद्यपि वह असली दिखाई दे सकता है। मनुष्य का मन तथा विचार कभी-कभी कुछ सत्यों की खोज करते हैं और इस विचार तथा खोज के निश्चित परिणाम तथा लाभ उत्पन्न होते हैं। इन विचारों की ठोस नींव होती है। लेकिन मन में बहुत सी बातें आती रहती हैं जो भ्रान्ति रूपी सागर की तरंगों के समान होती हैं। इनके कोई फल या परिणाम नहीं होते हैं। सुषुप्ति जगत में भी व्यक्ति ऐसा स्वप्न देख सकता है जो ठीक उसी रूप में सत्य हो जाता है, जबकि किसी अन्य अवसर पर ऐसा स्वप्न देखता है जिसका किसी रूप में कोई नतीजा नहीं होता है।

9. हमारा तात्पर्य यह है कि जिस दशा को हम आत्माओं के साथ वार्तालाप या संवाद कहते हैं वह दो प्रकार की होती है। एक तो है निरी भ्रान्ति और दूसरा है वे दिव्य दर्शन जिनका बाइबिल में उल्लेख हुआ है जैसे ईसाइया और जॉन के वार्तालाप और मूसा तथा इलियास के साथ ईसा का मिलन। वह दूसरा प्रकार ही सत्य है। और इसका मन तथा विचारों पर अदभुत प्रभाव पड़ता है और हृदय में सबल आकर्षण उत्पन्न होते हैं।

**72**

**औषधिरहित उपचार**

1. प्रश्न: कुछ व्यक्ति रोगियों को आध्यात्मिक साधनों से, अर्थात् बगैर दवा के, अच्छा करते हैं। यह कैसे होता है?

2. उत्तर: इस विषय पर एक विस्तृत विवरण पहले दिया जा चुका है। आपने यदि उसे पूर्णतया नहीं समझा है तो हम उसे फिर से बताएंगे ताकि उसे भलीभाँति जाना जा सके। यह जान लो कि बिना औषधि की चिकित्सा और स्वास्थ्य लाभ के चार प्रकार हैं जिनमें दो भौतिक कारणों के लिए और दो आध्यात्मिक कारणों के लिए उचित हैं।

3. पहले हम दोनों भौतिक प्रकारों के बारे में बताएंगे। एक के पीछे यह तथ्य है कि वास्तव में स्वास्थ्य और रूग्णता दोनों संक्रामक होते हैं। रोग का संक्रमण द्रुत और उग्र होता है, किन्तु स्वास्थ्य का संक्रमण अत्यधिक मंद और दुर्बल होता है। दो शरीर जब एक दूसरे के सम्पर्क में आते हैं, तो यह निश्चित है कि अत्यन्त सूक्ष्म कण एक से दूसरे में संप्रेषित होंगे। जिस प्रकार से रोग तेजी से और प्रबलता से एक से दूसरे शरीर में स्थानान्तरित होता है, उसी प्रकार किसी स्वस्थ व्यक्ति का शक्तिशाली स्वास्थ्य भी किसी रोगी व्यक्ति की व्याधि को बहुत थोड़ी मात्रा में कम कर दे सकता है। हमारा तात्पर्य यह है कि बीमारी की संक्रामकता द्रुतगामी और प्रबल होती है, जबकि स्वास्थ्य का संक्रमण बहुत धीमा और सीमित प्रभाव वाला होता है और केवल छोटी बीमारियों में ही इस साधारण प्रभाव की अनुभूति की जा सकती है। ऐसे मामलों में, स्वस्थ शरीर की शक्ति रोगी शरीर की हल्की निर्बलता को पराभूत करती है और उसे स्वस्थ बनाती है। यह स्वास्थ्य लाभ का एक प्रकार है।

4. स्वास्थ्यलाभ का एक दूसरा प्रकार शारीरिक चुम्बकत्व बल के जरिए उपचार है, जहाँ एक शरीर का चुम्बकत्व बल दूसरे शरीर को प्रभावित करता है और शरीर रोगमुक्त हो जाता है। इस बल का भी प्रभाव अत्यल्प ही होता है। इस प्रकार कोई व्यक्ति अपना हाथ रोगी के सिर या पेट पर रखे और संयोगवश उसे इससे राहत मिल जाती है। क्यों? क्योंकि चुम्बकत्व के प्रभाव और रोगी के मन पर डाले गये प्रभाव से रोग दूर किया जाना सम्भव है। लेकिन यह प्रभाव भी बहुत थोड़ा और कमजोर होता है।

5. अन्य दो प्रकार आध्यात्मिक होते हैं, अर्थात् उपचार का साधन एक आध्यात्मिक शक्ति होती है। एक प्रकार यह है कि जब कोई स्वस्थ व्यक्ति अपना पूरा ध्यान बीमार व्यक्ति पर केन्द्रित करता है और वह बीमार व्यक्ति पहले व्यक्ति की आध्यात्मिक शक्ति से स्वस्थ होने की पूरी आशा करते हुए उस पर सम्पूर्ण रूप से इस हद तक विश्वास रखता है कि दोनों के हृदयों के बीच एक प्रबल संयोजन उत्पन्न हो जाता हैं उस समय यदि स्वस्थ व्यक्ति उस रोगी को स्वस्थ बनाने का हर प्रयास करे और रोगी व्यक्ति स्वस्थ्य लाभ प्राप्त करने में पूरा विश्वास रखे तो इस आत्मा से आत्मा तक होने वाले प्रभावों से रोगी के स्नायुमण्डल में एक उद्दीपन उत्पन्न हो सकता है और उपचार सम्भव होता है। इस प्रकार, उदाहरणार्थ, जब किसी रोगी को अचानक कोई अच्छा समाचार मिलता है कि उसकी सर्वाधिक उत्कट अभिलाषा तथा कामना पूर्ण हुई है, तो इससे एक स्नायुविक उद्दीपन फलीभूत होगा जो व्याधि का सम्पूर्ण रूप से निराकरण कर देगा। इसी प्रकार, जब कोई दहला देने वाली घटना अकस्मात् घटित होती है, तो स्वस्थ व्यक्ति की तंत्रिकाओं में ऐसी उत्तेजना उत्पन्न हो सकती है कि वह तुरन्त बीमार पड़ सकता है। बीमारी का कारण यहाँ कोई भौतिक वस्तु नहीं है, क्योंकि उस व्यक्ति ने कुछ भी ग्रहण नहीं किया है या किसी वस्तु के सम्पर्क में नहीं आया है। केवल स्नायुविक उत्तेजना या विक्षोभ ने बीमारी उत्पन्न की है। इसी प्रकार, अचानक किसी चिरपोषित कामना की पूर्ति इतना उल्लास दे सकती है जिससे स्नायु उद्दीप होकर स्वास्थ्य लाभ हो जाए।

6. संक्षेप में, आध्यात्मिक चिकित्सक और रोगी के बीच एक समग्र और सम्पूर्ण संयोजन स्नायुविक उद्दीपन उत्पन्न करता है जिससे स्वास्थ्य की पुनर्प्रप्ति होती है। ऐसे संयोजन का अर्थ यह है कि जहाँ चिकित्सक अपना पूरा-पूरा ध्यान रोगी पर और उसी प्रकार रोगी भी अपना ध्यान आध्यात्मिक चिकित्सक पर केन्द्रित करता है और स्वास्थ्य लाभ की प्रत्याशा करता है। लेकिन यह उपचार-विधि सभी मामलों में नहीं, बल्कि एक बिन्दु तक ही प्रभावी होती है। उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति किसी गम्भीर बीमारी से ग्रस्त हो अथवा शारीरिक तौर पर घायल हो, तब ये साधन न तो बीमारी दूर करेंगे और न चोट को शान्त या अच्छा कर सकेंगे। अर्थात् इन साधनों का गम्भीर बीमारियों पर कोई नियंत्रण तब तक नहीं है जब तक रोगी के शारीरिक गठन से सहायता न मिले, क्योंकि मजबूत शारीरिक गठन से प्रायः बीमारी का निवारण हो जाता हे। यह उपचार की तीसरी विधि है।

7. और चौथा प्रकार वह है जिसमें उपचार पवित्र चेतना की शक्ति से किया जाता है। यह शारीरिक सम्पर्क, या दृष्टि, अथवा उपस्थिति पर भी निर्भर नहीं है। किसी शर्त पर यह निर्भर नहीं है। रोग नरम हो या कठोर, शरीरों का सम्पर्क हो या नहीं, रोगी और चिकित्सक के बीच कोई संयोजन स्थापित हो या न हो, यह उपचार पवित्र चेतना की शक्ति से सम्पन्न होता है।

**73**

**भौतिक साधनों से उपचार**

1. कल भोजन के समय हमने आध्यात्मिक औषधि एवं उपचार के सम्बन्ध में चर्चा की थी, कि किस प्रकार आध्यात्मिक शक्तियों से बीमारी ठीक की जा सकती है।

2. अब हम भौतिक उपचार के बारे में बताएंगे। औषधि विज्ञान अभी अपनी शैशवावस्था में है और उसने परिपक्वता नहीं प्राप्त की है। लेकिन जब यह परिपक्व हो जाएगा तब चिकित्सा उन चीजों से की जाएगी जिनकी गंध तथा स्वाद इन्द्रियों के लिए अरूचिकर नहीं होंगी, अर्थात ऐसे खाद्यों, फलों तथा वनस्पतियों द्वारा जिनका स्वाद रूचिकर और गंध सुखद होती है। कारण कि, मानव शरीर में बीमारी की घुसपैठ का कारण या तो शारीरिक कारक होता है या स्नायुविक उत्तेजना और उद्दीपन।

3. भौतिक कारकों के विषय में कहा जाये तो, यही बीमारी का प्राथमिक कारण होते हैं। उनके प्रभाव का कारण यह है कि मानव शरीर अनेक तत्वों से निर्मित है और ये तत्व साम्यावस्था की एक विशेष स्थिति के अनुसार संगठित रहते हैं। जब तक यह संतुलन बना रहता है, तब तक मनुष्य बीमारी से सुरक्षित रहता है। लेकिन जब यह मूलभूत संतुलन बिगड़ता है जो सुपुष्ट शारीरिक गठन की मुख्य आवश्यकता है, तो शरीर संरचना भंग होती है और बीमारी आ टपकती है।

4. उदाहरण के लिए, जब शरीर के संघटक तत्वों में किसी तत्व की कमी और दूसरे की अधिकता हो जाती है तो संतुलन की दशा अव्यवस्थित हो जाती है और बीमारी उत्पन्न होती है। इस प्रकार, मान लीजिए कि साम्यावस्था के लिए किसी घटक तत्व की एक हजार ग्राम मात्रा और किसी दूसरे की पांच ग्राम मात्रा अपेक्षित है। यदि पहला तत्व सात सौ ग्राम रह जाए और दूसरे तत्व में इतनी वृद्धि हो जाए कि साम्यावस्था अस्त-व्यस्त हो जाए, तो बीमारी घटित होगी। और यदि औषधियों तथा चिकित्सा के जरिए पुनः साम्यावस्था प्राप्त कर ली जाए तो बीमारी दूर हो जाएगी। अतः शरीर में जब उसके घटक तत्व शर्करा की मात्रा अधिक हो जाती है तो स्वास्थ्य खराब हो जाता है, और चिकित्सक जब मीठे और श्वेतसार खाद्य ग्रहण की मनाही करता है तो शर्करा तत्व कम होकर पुनः साम्यावस्था स्थापित हो जाती है, और रूग्णता का निष्कासन हो जाता है।

5. अस्तु, इन शारीरिक संघटकों की साम्यावस्था दो में किसी एक साधन से - औषधियों से अथवा खाद्य पदार्थों द्वारा - प्राप्त की जा सकती है, और शारीरिक संघटन जब अपनी साम्यावस्था पुनः प्राप्त कर लेता है तो बीमारी का निवारण हो जाता है। मानव शरीर के सभी संरचक तत्व वनस्पतियों में भी मिलते हैं। अतः शरीर में यदि किसी घटक तत्व की कमी हो जाए और वह व्यक्ति उन खाद्य पदार्थों का सेवन करें जिनमें वह घटक पर्याप्त मात्रा में हो तो साम्यावस्था पुनः प्राप्त होगी और रोग से मुक्ति मिलेगी। जहाँ तक शरीर के घटक तत्वों के पुनः समायोजन का उद्देश्य है, इसे समान रूप से, औषधियों अथवा विभिन्न खाद्य-पदार्थों के माध्यम से, सम्पन्न किया जा सकता है।

6. मनुष्यों को आक्रान्त करने वाली अधिकांश बीमारियाँ पशुओं को भी पीड़ित करती हैं, लेकिन पशु औषधियाँ लेकर उनकी चिकित्सा नहीं करता है। पशु का चिकित्सक पर्वतों और निर्जन स्थानों में उसकी स्वाद एवं गंध की शक्तियाँ हैं। बीमार पशु बीहड़ों में उगने वाले पौधे सूंघता है, जिन पोधों की गंध और स्वाद सुगंधित तथा मधुर होते हैं उनको खाता है और स्वस्थ हो जाता है। कारण यह होता है: जब, उदाहरण के लिए, उसके शरीर में शर्करा घटक की कमी हो जाती है, तो वह मीठी वस्तुओं के लिए ही लालायित होता है और इस प्रकार मधुर स्वाद के पौधों को खाता है, क्योंकि प्रकृति उसे इसी के लिए प्रेरित करके उसका मार्गदर्शन करती है। इस प्रकार जब पशु अपनी गंध तथा स्वाद की दृष्टि से रूचिकर वस्तुएँ खाता है, तो उसके शरीर के शर्करा घटक की वृद्धि होती है और वह पुनः अपना स्वास्थ्य प्राप्त कर लेता है।

7. इस प्रकार यह सुस्पष्ट होता है कि फलों और अन्य खाद्य पदार्थों के उपाय से बीमारियों का उपचार सम्भव है। लेकिन औषधि विज्ञान अभी तक अपूर्ण है, अतः इस तथ्य को पूरी तरह समझा नहीं गया है। जब यह विज्ञान पूर्णता प्राप्त करेगा तब उपचार सुगंधित फलों एवं वनस्पतियों के साथ-साथ अन्य खाद्य पदार्थों से और विभिन्न तापक्रमों के गर्म-ठण्डे जल से किए जाएंगे।

8. यह एक संक्षिप्त स्पष्टीकरण मात्र है। ईश्रेच्छा से और अवसर मिला तो, हम किसी दूसरे समय अधिक विस्तृत विवरण देंगे।

**भाग 5**

**मिश्रित विषय**

**74**

**शुभ और अशुभ**

1. इस विषय की सत्यता को स्पष्ट करना वस्तुतः कठिन है। यह जान लो कि सृजित वस्तुएँ दो प्रकार की होती हैं: आध्यात्मिक और भौतिक, गोचर और बोधगम्य। अर्थात् कुछ वस्तुए इन्द्रियों के लिए बोधगम्य होती हैं और कुछ का केवल मन के द्वारा बोध होता है।

2. गोचर तत्व वे होते हैं जिनका पांच बहिरेन्द्रियों द्वारा ज्ञान होता है। उदाहरण के लिए, जिन बाहरी वस्तुओं को आँख देखती है उनको गोचर कहा जाता है। बोधगम्य तत्व वे हैं जिनका कोई बाहरी स्वरूप नहीं होता, बल्कि मन-बुद्धि से उनका ज्ञान होता है। उदाहरण के लिए, मन स्वयं एक बोधगम्य तत्व है और उसका बाह्य अस्तित्व नहीं होता है। इसी प्रकार, सभी मानव सद्गुणों एवं वृत्तियों का स्वरूप इन्द्रियगम्य नहीं, बल्कि मनोगम्य ही होता है, अर्थात् वे ऐसी वास्तविकताएँ हैं जिनका बोध इन्द्रियों के द्वारा नहीं, मन के द्वारा किया जाता है।

3. संक्षेप में, बोधगम्य वास्तविकताएँ, जैसे मनुष्य की प्रशंसनीय वृत्तिया एवं पूर्णताएँ विशुद्ध रूप से शुभ हैं और उनका सकारात्मक अस्तित्व है। अशुभ सहजतः उन्हीं का अनस्तित्व या अभाव है। इस प्रकार, अज्ञान ज्ञान का अभाव है, भूल मार्गदर्शन का अभाव है, विस्मरण स्मृति का अभाव है, मूर्खता समझदारी का अभाव है। ये सब अपने आप में कुछ नहीं हैं और उनका वास्तविक अस्तित्व नहीं होता है।

4. गोचर वास्तविकताओं को लें, तो वे भी विशुद्धतः शुभ होती हैं, और अशुभ मात्र उनका न होना ही है। अर्थात् अंधापन दृष्टि का अभाव है, बहरापन सुनने का अभाव है, दरिद्रता सम्पदा का अभाव है, रूग्णता स्वास्थ्य का अभाव है, मृत्यु जीवन का अभाव है और निर्बलता शक्ति का अभाव है।

5. अब, मन में एक संदेह उत्पन्न होता है: साँप और बिच्छू विषैले होते हैं - यह शुभ है या अशुभ, क्योंकि उनका वास्तविक अस्तित्व है? हाँ, यह सत्य है कि बिच्छू और साँप अशुभ हैं, लेकिन केवल हमारे सम्बन्ध में, अपने सम्बन्ध में नहीं, क्योंकि उनका विष उनका अस्त्र है और उनका डंक उनकी रक्षा का साधन। लेकिन उनके विष के संरचनात्मक तत्व हमारे शरीर के तत्वों के परस्पर विरोधी होते हैं अर्थात् ये घटक तत्व आपस में विरोधी हैं - अतः विष अशुभ या बुरा है, या अपेक्षाकृत, वे तत्व एक-दूसरे के सम्बन्ध में अशुभ हैं, जबकि अपनी स्वंय की वास्तविकता में वे दोनों शुभ हैं।

6. संक्षेप में, कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तु के सम्बन्ध में अशुभ हो सकती है, लेकिन अपनी सत्ता की सीमाओं में वह अशुभ नहीं होती। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि किसी अशुभ का अस्तित्व नहीं है। जो कुछ ईश्वर ने रचा है वह शुभ ही रचा है। अशुभ मात्र अनस्तित्व में है। उदाहरण के लिए, मृत्यु जीवन की अनुपस्थिति है। मनुष्य को जब जीवन की शक्ति का आश्रय मिलना बन्द हो जाता है तो वह मर जाता है। अंधकार प्रकाश की अनुपस्थिति है। जब प्रकाश नहीं रहता है तो अंधकार छा जाता है। प्रकाश वास्तविक रूप से अस्तित्वमान् वस्तु है, लेकिन अंधकार का अस्तित्व वास्तविक नहीं है। वह प्रकाश की अनुपस्थिति मात्र है। इसी प्रकार, सम्पति सकारात्मक रूप से अस्तित्वमान् वस्तु है, लेकिन निर्धनता उसकी अनुपस्थिति मात्र है।

7. इस प्रकार यह स्पष्ट है कि समस्त अशुभ अनस्तित्व मात्र है। शुभ का वास्तविक अस्तित्व है, और अशुभ उसकी अनुपस्थिति मात्र है।

**75**

**दो प्रकार के संताप**

1. यह जान लो कि संताप दो प्रकार के होते हैं - सूक्ष्म और स्पर्शगोचर। उदाहरण के लिए, अज्ञान स्वयं एक संताप है, लेकिन वह सूक्ष्म संताप है। ईश्वर के प्रति उदासीनता स्वयं एक संताप है। असत्य स्वयं एक संताप है, अत्याचार और विश्वासघात भी संताप हैं। यथार्थतः सभी मानव अपूर्णताएँ संताप हैं, लेकिन वे सूक्ष्म संताप हैं। सत्-असत् के विवेक से सम्पन्न कोई व्यक्ति पाप करने की अपेक्षा निश्चित रूप से मार डाला जाना और निंदा करने तथा झूठ बोलने की अपेक्षा अपनी जीभ कटवा देना अधिक पसन्द करेगा।

2. दूसरे प्रकार का संताप स्पर्शगोचर होता है, और कारावास, पिटाई, बहिष्कार तथा निष्कासन जैसे शारीरिक दण्डों में होता है। लेकिन ईश्वर के जनों के लिए जो ईश्वर से अलगाव होना इन सभी संतापों से ज्यादा दारूण संताप है।

**76**

**ईश्‍वर की दया तथा न्याय**

1. जान लो कि न्याय का अर्थ है किसी को उसका दातव्य या देय प्रस्तुत करना। उदाहरणार्थ, जब कोई कारीगर प्रातः से सायंकाल तक श्रम करे तो, न्याय की अपेक्षा है कि उसका पारिश्रमिक उसे दे दिया जाए। लेकिन यदि उसने कोई काम या प्रयास नहीं किया है, फिर भी उसे पुरस्कृत करना अनुग्रह या उदारता है। अतः जब आप किसी निर्धन को भिक्षा देते हैं, जिसने आप के लाभ के लिए कोई प्रयास या कार्य नहीं किया है कि उसे कुछ दिया जाए, तो इस तरह का देना अनुग्रह है। ईसा ने, इसी प्रकार, अपनी मृत्य के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों के लिए (ईश्वर) से क्षमा की विनती की थी। इसे उदारता कहा जाता है।

2. अस्तु, वस्तुओं की अच्छाई या बुराई का निर्धारण या तो विचार-बुद्धि से किया जाता है या धार्मिक नियम द्वारा। कुछ लोगों के विश्वास के अनुसार यह निर्धारण धार्मिक विधान पर आधारित है। ऐसा प्रसंग यहूदियों का है जो मानते हैं कि तौरेत की सभी आज्ञाएँ बाध्यकारी हैं और वे विचार के बजाय धार्मिक विधि-विधान का विषय हैं। इस प्रकार वे कहते हैं कि तौरेत की एक आज्ञा यह है कि मांस और मक्खन का एक साथ सेवन नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह “ट्रेफ़ा” (जिसका हिब्रू में अर्थ है अस्वच्छ, और “कोशोर” का अर्थ है स्वच्छ) है। वे कहते हैं कि यह प्रश्न तर्क-विचार का नहीं, धार्मिक नियम का है।

3. लेकिन धर्मशास्त्र के दार्शनिक यह मानते हैं कि चीजों की अच्छाई या बुराई विचार-बुद्धि और धार्मिक नियम दोनों पर निर्भर है। इसी प्रकार, हत्या, चोरी, धोखाधड़ी, झूठ, पाखण्ड और अन्याय विचार-बुद्धि पर आधारित हैं - क्योंकि हर विचारशील मन समझ सकता है कि ये सभी कार्य अत्यधिक हेय और निन्दनीय हैं। अगर आप किसी व्यक्ति को मात्र एक कांटा चुभो दें तो वह दर्द से चीख पड़ेगा। अतः यह भलीभाँति अनुभव किया जा सकता है कि हत्या कर्म, तर्क-विचार की कसौटी पर, घृणित और निन्दनीय है। और अगर ऐसा अपराध कोई करे तो इसके लिए उसे जवाबदेह ठहराया जायेगा, चाहे वह ईशदूतीय संदेश से अवगत हो या नहीं, क्योंकि विचारशक्ति स्वयं इस दुष्कर्म की निम्न प्रकृति को समझती है। इसलिए, जब ऐसा व्यक्ति इस प्रकार के नीच कर्म करेगा तो वह निश्चित रूप से उत्तरदायी माना जाएगा।

4. लेकिन किसी स्थान पर यदि ईशदूत की आज्ञाएँ नहीं पहुंची हैं और इसके कारण से लोग दैवीय शिक्षाओं के अनुरूप आचरण नहीं करते हैं, तब धर्म के नियमों के अनुसार उनको जिम्मेवार नहीं माना जाता है। उदाहरण के लिए ईसा ने आदेश दिया था कि क्रूरता के बदले सौजन्यता बरती जाए। यदि कोई व्यक्ति इस आज्ञा से अपरिचित रहता है और प्रकृति के उकसावों के अनुसार आचरण करता है, अर्थात् ईंट का जवाब पत्थर से देता है, तो धर्म के नियमानुसार वह जवाबदेह नहीं है, क्योंकि यह दैवीय आज्ञा उसके पास तक नहीं पहुंची है। ऐसा व्यक्ति यद्यपि दैवीय उदारता एवं कृपा का पात्र नहीं है, तथापि ईश्वर उसके साथ दया का बर्ताव करेंगे और उसे क्षमादान देंगे।

5. अब, प्रतिशोध विवेक-विचार की दृष्टि से भी निन्दनीय है, क्योंकि प्रतिशोधी को उससे कोई लाभ नहीं होता। एक आदमी अगर दूसरे पर प्रहार करे और वह भुक्तभोगी उस आघात को लौटाकर बदला ले ले, तो इससे उसको कौन-सा लाभ होगा? उसका यह कार्य क्या उसके घाव का मरहम या उसके दर्द की दवा बनेगा? कदापि नहीं, ईश्वर न करे! दोनों काम सचमुच एक-जैसे ही हैं, दोनों क्षतियाँ हैं। अन्तर मात्र इतना ही है कि एक पहले हुआ और दूसरा बाद में। इसलिए यदि आहत व्यक्ति क्षमा कर दे, ये अधिक अच्छा है कि शान्त और निश्चेष्ट रहे, या वह विपरीत विधि का आचरण करे, तो यह प्रशंसनीय है।

6. इस सम्बन्ध में राजकीय तंत्र का कार्य क्या है - वह आक्रामक को दण्ड देता है, लेकिन बदला नहीं लेता है। इस दण्ड का प्रयोजन अन्याय तथा आक्रामकता का विरोध करना और उसे भय तथा परामर्श के द्वारा रोकना होता है, ताकि दूसरों को इस प्रकार की दमनकारी गतिविधियों से रोका जा सके। लेकिन पीड़ित पक्ष यदि दण्ड देने के बजाय क्षमा करते हुए अधिकाधिक दयालुता प्रदर्शित करे, तो यह ईश्वर की दृष्टि में अत्यधिक मान्य है।

**77**

**अपराधियों को दण्ड**

1. प्रश्न: क्या अपराधी को सजा दी जानी चाहिए, या उसे क्षमादान देकर उसके अपराध को अनदेखा किया जाना चाहिए?

2. उत्तर: प्रतीकात्मक कार्य दो प्रकार के होते हैं। एक है बदला और प्रतिशोध और दूसरा है दण्ड तथा प्रतिदान। किसी व्यक्ति को बदला लेने का अधिकार नहीं है, लेकिन राजकीय तंत्र को अपराधी को दण्ड देने का अधिकार है। भय और परामर्श के द्वारा दूसरों को वैसे अपराध करने से रोकना ऐसे दण्ड का उद्देश्य होता है यह आदमी के अधिकारों की रक्षा के लिए है और यह बदला नहीं होता है, क्योंकि बदला आन्तरिक सन्तुष्टि है जो जैसे को तैसा लौटाने से बनता है। इसकी अनुमति नहीं है, क्योंकि बदला लेने का अधिकार किसी को नहीं दिया गया है। फिर भी, अपराधियों को यदि पूरी तरह उनके ही हाल पर छोड़ दिया जाए, तो जहाँ राजकीय तंत्र भंग हो जाएगा: दण्ड की अत्यावश्यक अपेक्षाओं में से एक है, वहीं पीड़ित एवं खिन्न पक्ष को बदला लेने का कोई अधिकार नहीं है। इसके विपरीत, उसे क्षमा एवं विशाल हृदयता प्रदर्शित करना चाहिए, क्योंकि यही मानव जगत के योग्य है।

3. तथापि यह आवश्यक है कि राजकीय तंत्र अत्याचारी, आक्रमणकारी और हत्यारे को दण्डित करे ताकि इस प्रकार के अपराध करने से दूसरों को रोका जा सके। लेकिन अत्यावश्यक तो यह है कि जनसमूहों को इस प्रकार शिक्षित किया जाए कि प्रथमतः तो कोई अपराध किये ही न जाएँ, क्योंकि जनसमुदायों को इस प्रकार शिक्षित किया जा सकता है कि वे किसी अपराध को करने से पूरी तरह बचें और अपराध को ही वस्तुतः सबसे बड़ा शोधनकारी दण्ड और सर्वाधिक दारूण यंत्रणा और सजा मानें। इस प्रकार प्रथमतः तो कोई ऐसे अपराध किए ही नहीं जाएंगे जिनके लिए दण्ड व्यवस्था अपेक्षित हो।

4. हमें केवल उसी के बारे में बोलना चाहिए जो संसार में व्यावहारिक दृष्टि से साध्य है। उच्च आदर्श और भावनाएँ वस्तुतः बहुत अधिक हैं, लेकिन सभी को व्यवहार में नहीं लाया जा सकता। अतः हम उतने तक सीमित रहेंगे जितना व्यावहारिक है।

5. उदाहरण के लिए, यदि कोई व्यक्ति दूसरे को पीड़ित करता है, उस पर प्रहार करता और उसे चोट पहुँचाता है और वह दूसरा व्यक्ति किसी प्रकार से इसका प्रतिकार करता है तो यह बदला लेना बनता है जो निन्दनीय है। पीटर यदि पॉल के पुत्र को मार डाले, तो पॉल को पीटर के बेटे को मार डालने का अधिकार नहीं है। यदि वह ऐसा करता है तो यह प्रतिहिंसा का कार्य होगा और अत्यधिक निन्दनीय होगा। इसकी अपेक्षा, उसे विपरीत तरीके का आचरण करते हुए क्षमा प्रदर्शित करना और सम्भव हो तो, अपने आक्रामक को कुछ सहायता भी प्रदान करनी चाहिए। यह सचमुच ऐसी बात है जो मनुष्य के योग्य है, क्योंकि प्रतिशोध से मनुष्य कौन-सा लाभार्जन करता है? दोनों कार्य वस्तुतः एक और समान ही हैं। अगर एक निन्दनीय है, तो दूसरा भी वैसा ही है। एकमात्र अन्तर यह है कि एक पहले हुआ और दूसरा बाद में।

6. लेकिन राजकीय तंत्र को संरक्षण देने और सुरक्षा करने का अधिकार है। हत्यारे के प्रति उसका कोई दुर्भाव या शत्रुता नहीं होती, बल्कि दूसरों की सुरक्षा सुनिश्चित करने के एकमात्र उद्देश्य से वह उसे कारावास या दण्ड देने का उपक्रम करता है। प्रयोजन प्रतिशोध नहीं, बल्कि एक सजा होता है जिससे राजकीय तंत्र की रक्षा होती है। अन्यथा, यदि भुक्तभोगी के उत्तराधिकारी और समुदाय दोनों अपराधी को क्षमा कर दें और बुराई का बदला भलाई से दें, तो पापाचारियों की मारकाट कभी न रूकेगी और प्रतिक्षण एक हत्या की जायेगी। यहाँ तक कि, रक्तपिपासु जन, भेड़ियों के समान, ईश्वर की भेड़ों के झूंड को पूर्णतया नष्ट कर डालेंगे। अपना दण्ड देते समय राष्ट्र दुर्भावना से प्रेरित नहीं होता है। वह पूर्वाग्रह के बिना कार्य करता है और प्रतिशोध की भावना को सन्तुष्ट करने की इच्छा नहीं रखता है। दण्ड देने का उसका प्रयोजन दूसरों को सुरक्षा प्रदान करना और भविष्य में ऐसे घिनौने कार्यों का क्रियान्वयन रोकना होता है।

7. इस प्रकार, जब ईसा ने कहा, “जब कोई तेरे दायें गाल पर तमाचा मारे, तब बायाँ गाल भी उसकी ओर घुमा दे,”153 तो उनका उद्देश्य लोगों को शिक्षा देना था। इसका यह अर्थ नहीं है कि कोई उस भेड़िए की सहायता करे जो भेड़ों के झूंड पर टूट पडे और उन सबको निगल जाने पर आमादा हो। नहीं, यदि ईसा जानते कि कोई भेड़िया बाड़े में घुस आया है और भेड़ों को मारने वाला है, वे अवशय ही निश्चित रूप से उसे रोक देते।

8. क्षमाशीलता जिस तरह ईश्वर की दयालुता की वृत्तियों में एक है, उसी प्रकार उनके प्रभुत्व की एक वृत्ति न्याय है। अस्तित्व का चँदोवा क्षमाशीलता के नहीं, न्याय के स्तम्भ पर टिका है और मानवजाति का जीवन क्षमाशीलता पर नहीं, न्याय पर निर्भर होता है। इस प्रकार, यदि अब से आगे सभी देशों में आम क्षमादान की राजाज्ञा अमल में लायी जाए तो थोड़े ही समय में विश्व व्यवस्थाविहीन हो जाएगा और मानव-जीवन की नीवें चकनाचूर हो जाएंगी। यूरोप की सरकारों ने अगर कुख्यात अटीला का प्रतिरोध न किया होता तो वह एक भी आत्मा को जीवित नहीं छोड़ता।

9. कुछ मनुष्य खून के प्यासे भेड़ियों समान होते हैं। अगर उनको आगे दण्ड का भय न हो, तो दूसरों को वे मात्र अपने आनन्द और मनबहलाव के लिए ही मार डालें। फारस के एक निरंकुश शासक ने अपने शिक्षक को महज मनोरंजन के लिए मार डाला था। प्रसिद्ध अब्बासी खलीफा मुतवक्किल अपने मंत्रियों, सहायकों और न्यासियों को अपने सामने बुलवा कर बिच्छुओं से भरा बक्सा उनके बीच खुलवाता था और किसी को हिलने से भी मना करता था। कोई बिच्छू जब किसी व्यक्ति को डंक मारता था तो वह प्रचण्ड अट्टहास करता था।

10. सारांश यह है कि राज्य की समुचित कार्यप्रणाली क्षमाशीलता पर नहीं, न्याय पर निर्भर है अतः क्षमाशीलता और उदारता से ईसा का जो तात्पर्य था वह यह नहीं है कि अगर कोई राष्ट्र आप पर हमला करे, आपके घर जलाए, आपकी परिसम्पत्तियाँ लूटे, आपकी पत्नियों, बच्चों तथा स्वजनों पर आघात करे और आपके सम्मान को आहत करे तो आप उस अत्याचारी दल के सामने आत्मसमर्पण कर दें और उनको हर प्रकार से पापाचार और दमन करने दें। ईसा के शब्द अपेक्षाकृत दो व्यक्तियों के मध्य निजी कार्य सम्पादन की ओर संकेत करते हैं और बताते हैं कि यदि एक व्यक्ति दूसरे पर हमला करे तो आहत पक्ष क्षमा कर दे। लेकिन राष्ट्र को तो मानवाधिकारों की सुरक्षा करनी होगी। तो इस प्रकार, कोई व्यक्ति अगर मुझ पर हमला कर मुझे चोट पहुंचाए, सताए और घायल करे, तो मैं किसी भी तरह उसका विरोध नहीं करूंगा और क्षमाभाव दर्शाऊंगा। लेकिन कोई अगर यहाँ सैयद मनशादी154 पर हमला करे, तो मैं निस्संदेह उसे रोकूंगा। यद्यपि (मेरा) हस्तक्षेप न करना हमलावर को सौजन्यता प्रतीक होगा। इसलिए अगर कोई जंगली अरबवासी इस समय तलवार घुमाता हुआ यहाँ प्रवेश करे और आप पर आक्रमण करके घायल करने या जान लेने पर तुला हो तो अवश्य ही मैं उसे रोकूंगा। यदि आपको मैं उस आदमी पर छोड़ दूँ, तो यह न्याय नहीं, जुल्म होगा। लेकिन यदि वह व्यक्तिगत रूप से मुझे क्षति पहुँचाये, तो मैं उसे क्षमा करूंगा।

11. एक अंतिम बात और राज्य तो दिन-रात दण्ड विधान बनाने और सजा के तरीकों तथा साधनों को जुटाने में लगा रहता है। वह कारागार बनाता है, जंजीरों और बेड़ियाँ एकत्र करता है, निर्वासन तथा निष्कासन के और यातना तथा कठिनाई के स्थानों का निर्धारण करता है और इन सबके जरिए अपराधियों को सुधारने का प्रयास करता है। वास्तविकता यह है कि इससे केवल नैतिकता का पतन और चरित्र का विनाश होता है। राज्य को, इसके बजाय, यह चाहिए कि वह यह सुनिश्चित करने के लिए रात-दिन श्रम करे और हर प्रयास करे, कि आत्माएँ समुचित रूप से सुशिक्षित बनें, वे दिन-प्रतिदिन उन्नति करें, वे विज्ञान और विद्या में विकास करें, वे प्रशंसनीय सद्गुण और स्तुत्य तौर-तरीके सीखें और वे हिंसक व्यवहार त्याग दें, ताकि अपराध होने ही बन्द हो जाएँ। इस समय तो इसका उल्टा हो रहा है। राज्य दण्डात्मक कानूनों को सदैव अधिक कठोर बनाने का, सजा के साधनों, मृत्य तथा ताड़ना के उपकरणों और कारावास तथा निर्वासन के स्थानों को प्राप्त करने का ही प्रयास करता है, और इसके बाद अपराध होने की प्रतीक्षा करता है। इस का प्रभाव अत्यधिक हानिकारक होता है।

12. यदि जनसमूहों को शिक्षित बनाया जाये ताकि ज्ञान तथा विद्या को दिन-प्रतिदिन वृद्धि हो, समझदारी बढ़े, बोध परिष्कृत हो जाएँ, नैतिक गुणों का परिमार्जन और तौर-तरीकों का सुधार किया जाए - एक शब्द में, यदि प्रत्येक श्रेणी की पूर्णता से सम्बन्धित प्रगति की जाए, तो अपराध की घटनाएँ कम हो जायें।

13. अनुभव ने दिखा दिया है कि सभ्य जनसमुदायों के बीच अपराध का प्रचलन कम है, अर्थात् जिन लोगों ने सच्ची सभ्यता अर्जित की है उनके बीच वह नहीं है। और सच्ची सभ्यता है दैवीय सभ्यता, उनकी सभ्यता जिनमें भौतिक और आध्यात्मिक पूर्णताओं का योग है। अपराध का मूल कारण अज्ञान है, अतः ज्ञान-विद्या जितने अधिक बढ़ेंगे, अपराध उतने ही कम होंगे। अफ्रीका की अराजक जनजातियों का विचार कीजिए: कितनी ही बार वे आपस में एक दूसरे को मार कर उनका खून-मांस तक खा जाते हैं! स्विट्जरलैण्ड में इस प्रकार की बर्बरता क्यों नहीं होती है? स्पष्ट रूप से, कारण है शिक्षा और सद्गुण।

14. अतः राज्य को कठोर सजाओं और शस्त्रों के उपाय करने के बजाय अपराधों की घटनाओं की रोकथाम करने के प्रयासों को वरीयता देनी चाहिए।

**78**

**हड़ताल**

1. आप ने हड़तालों के बारे में पूछा है। इस समस्या से बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई हैं और होती रहेंगी। इन कठिनाइयों का मूल कारण दोहरा है: एक है कारखाने के मालिकों का अत्यधिक लोभ-लालच, और दूसरा है कर्मचारियों की निराधार मांगें, लालच और दुराग्रह। अतः दोनों का समाधान किया जाना आवश्यक है।

2. अब, इन समस्याओं का मूल कारण प्रकृति के उस नियम में निहित है जो वर्तमान सभ्यता को संचालित करता है, क्योंकि इसका परिणाम होता है मुट्ठी भर लोगों के हाथों में विशाल धन-सम्पदा का संचयन जो उनकी आवश्यकताओं से कहीं अधिक होता है, जबकि बड़ी संख्या में लोग नग्न, निराश्रित और असहाय रह जाते हैं। यह न्याय, निष्पक्षता और मानवता के एकदम विपरीत है। यह अनौचित्य की चरम सीमा ही है, और सर्वदयामय की सदिच्छा के प्रतिकूल है।

3. यह असमानता मानवजाति में ही देखने में आती है। अन्य प्राणियों के बीच, अर्थात्, पशुओं में, एक निश्चित प्रकार की समता तथा न्याय प्रचलित है। इस प्रकार, किसी चरवाहे के पशुओं में, या निर्जन में हिरनों के झुण्ड के भीतर, अथवा पर्वतों, मैदानों और फलोद्यानों में निवास करते गाने वाले पक्षियों के बीच समानता दिखाई देती है। प्रत्येक प्रजाति के पशु एक मात्रा में समानता का उपभोग करते हैं और उनके जीवन के साधनों में एक-दूसरे से बहुत अंतर नहीं होता है और इस प्रकार वे पूर्ण शान्ति और आनन्द के साथ रहते हैं।

4. मानवजाति के साथ बिलकुल भिन्न बात हैं, जहाँ सर्वाधिक अन्याय और अत्याचार पाया जाता है। इस तरह आप देख सकते हैं, कि एक ओर तो, एक अकेला व्यक्ति है जिसने अतुल सम्पदा एकत्र की है, एक समूचे देश को अपना निजी स्वतंत्र उपनिवेश बना लिया है, भारी धन-दौलत प्राप्त कर ली है और प्राप्तियों एवं लाभों का एक निरन्तर प्रवाह सुरक्षित कर लिया है और दूसरी ओर लाखों असहाय आत्माएँ हैं, जो दुर्बल और अशक्त हैं और एक कौर रोटी के लिए भी तरस रहीं हैं। न तो यहाँ समानता है और न उदारता। देखो कि, इसके फलस्वरूप सामान्य सुख-शान्ति का कितना अभाव हो गया है, और मानवता के कल्याण की कितनी क्षति हुई है, कि एक विशाल जनसंख्या का जीवन ही निष्फल हो गया है ! कारण कि, सारी सम्पत्ति, शक्ति, वाणिज्य तथा उद्योग कुछ थोड़े-से व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित हैं, जबकि अन्य सभी अन्तहीन विपत्तियों तथा मुसीबतों के बोझ तले परिश्रम करते हैं, सुविधाओं तथा लाभों से वंचित हैं, और सुख-चैन तथा शांति से दूर हैं। अतएव ऐसे नियम निर्देश लागू किए जाने आवश्यक हैं जो थोड़े-से व्यक्तियों की अत्यधिक सौभाग्य-श्री को संतुलित करें और लाखों-करोड़ों गरीबों की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति करें, ताकि किसी अंश में एक संतुलन उपलब्ध किया जा सके।

5. तथापि, अबाधित सम्पूर्ण समानता मात्र अयुक्ति युक्त ही है, क्योंकि सम्पत्ति, शक्ति, वाणिज्य, कृषि तथा उद्योग में पूर्ण समानता का परिणाम विप्लव और अव्यवस्था होगा। इससे आजीविकाएँ टूट जाएंगी, विश्वव्यापी असंतोष भड़केगा और समुदाय के कार्यकलापों के सुव्यवस्थित संचालन की क्षति होगी। अन्याय संगत समानता आतंक ग्रस्त भी रहती है। तब बेहतर यही है कि कुछ अंशों में संतुलन उपलब्ध किया जाए और संतुलन से तात्पर्य है ऐसे नियमों तथा विनियमों का अधिनियमन जो थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में सम्पत्ति के अनुचित केन्द्रीकरण को रोके और बहुसंख्य की आधारभूत आवश्यकताओं को संतुष्ट करे। उदाहरण के लिए, कारखाने के मालिक प्रतिदिन सम्पदा की भरी-पूरी फसल काटते हैं, लेकिन गरीब कर्मचारियों को मिलने वाली मजदूरी से उनकी दैनिक आवश्यकताएँ भी पूरी नहीं हो पाती हैं। यह बहुत अनुचित है और कोई न्यायप्रिय व्यक्ति इसे कदापि स्वीकार नहीं कर सकता। अतः ऐसे नियम-विनियम बनाए जाने चाहिए जिससे कर्मचारियों को दैनिक पारिश्रमिक के साथ, कारखाने के साधनों के अनुरूप, उसके लाभों का चौथा या पांचवाँ हिस्सा भी प्राप्त हो, अथवा किसी दूसरे तरीके से कर्मचारियों की मालिकों के साथ अर्जित लाभों में एक न्यायसंगत हिस्सेदारी हो। क्योंकि पूंजी और प्रबंधन मालिकों से और प्रयास तथा श्रम श्रमिकों से आता है। कर्मचारियों को या तो इतनी मजदूरी दी जाए जिससे उनकी दैनिक जरूरतों की समुचित रूप से पूर्ति हो सके, साथ ही जब वे चोटिल, अपंग, या काम करने के अयोग्य हो जाएँ तो कारखाने की आमदनी में भी एक हिस्से का अधिकार उनको मिले, अथवा ऐसा पारश्रमिक निर्धारित किया जाए जिससे कर्मचारी अपनी दैनिक आवश्यकताएँ पूरी करने के साथ, निर्बलता तथा अक्षमता के दिनों के लिए थोड़ी बचत भी कर सकें।

6 यदि उपर्युक्त विधि से चीजों को व्यवस्थित किया जाए तो फैक्ट्री मालिकों के पास प्रतिदिन धन का ढेर नहीं लगेगा, जो सर्वथा उनके किसी काम का नहीं होता है। कारण कि, यदि धन-सम्पत्ति सीमा से अधिक बढ़ जाये, तो व्यक्ति पर भारी बोझ बन जाएगी और अत्यधिक कष्टों एवं कठिनाइयों का कारण होगी और इतनी अधिक सम्पत्ति का प्रबंधन उसे बहुत ही कठिन और उसकी स्वाभाविक शक्तियों को समाप्त करने वाला प्रतीत होगा। दूसरी ओर, कर्मचारी को भी इतना श्रम और कठिनाई नहीं उठानी पड़ेगी कि वह अपंग बनकर अपने जीवन के अन्त तक भीषण अभाव का शिकार बना रहे।

7 अतएव यह तथ्य स्पष्ट रूप से स्थापित होता है कि भारी संख्या में लोगों के अभावग्रस्त होते हुए भी, थोड़े से व्यक्तियों द्वारा अथाह सम्पदा का विनियोग अनुचित और अन्यायपूर्ण है, और इसके विपरीत, सर्वथा समानता भी मानवजाति के अस्तित्व, कल्याण, सुख-सुविधा, शांति और व्यवस्थित जीवन के लिए हितकर नहीं है। अतः ऐसी स्थिति में, सन्तुलन स्थापित करना ही सर्वोत्तम मार्ग है। धनिकों के लिए सन्तुलन का अर्थ यह है कि वे लाभों के अर्जन में संयमन के फायदे समझें, और निर्धनों तथा जरूरतमंदों के कल्याण का भी ध्यान रखें, अर्थात् कर्मचारियों का दैनिक पारिश्रमिक निश्चित करने के अतिरिक्त, कारखाने के कुल लाभों का एक हिस्सा उनको भी दें।

8. संक्षेप में, जहाँ तक फैक्ट्री मालिकों तथा कर्मचारियों के आपसी अधिकारों का सम्बन्ध है, ऐसे कानून बनाए जाने चाहिए जिससे मालिक जन समुचित लाभ कमा सकें और कर्मचारियों को उनकी वर्तमान जरूरतों के साथ भावी आवश्यकताओं के लिए भी कुछ मिल सके, ताकि यदि वे अपंग या वृद्ध हो जाएँ, अथवा मर जाएं और अपने पीछे छोटे बच्चों को छोड़ जाएं, तो घोर गरीबी के वशीभूत न हो सकें, बल्कि फैक्ट्री की ही आमदनी से मर्यादित पेन्शन प्राप्त कर सकें।

9. इसी प्रकार कर्मचारियों को भी अत्यधिक मांगें नहीं करनी चाहिए, अड़ियल नहीं होना चाहिए और अपनी पात्रता से अधिक नहीं मांगना चाहिए। वे आज्ञाकारी रहें, नियमों का पालन करें और अत्यधिक मजदूरी की मांग न करें। इसके बजाय, दोनों पक्षों के पारस्परिक और न्यायसंगत अधिकार न्याय तथा संवेदना के नियमों के अनुसार सरकारी स्तर पर सुनिश्चित एवं सुस्थापित होने चाहिए। और यदि कोई पक्ष उनका उल्लंघन करे तो निष्पक्ष सुनवाई के बाद उसे दण्डित किया जाना चाहिए और कार्यकारी शाखा द्वारा लागू किये गये निर्णायक न्यायमत के अधीन रहना चाहिए, ताकि सभी कार्यकलाप ठीक से व्यवस्थित हो सकें और सभी समस्यायें समुचित रूप से हल की जा सकें।

10. मालिकों तथा कर्मचारियों के बीच उठने वाली समस्याओं में शासन तथा न्यायालयों को हस्तक्षेप करने का पूर्ण अधिकार है, क्योंकि ये ऐसे विशेष मामले नहीं हैं, जैसे दो व्यक्तियों के बीच साधारण लेन-देन के होते हैं। व्यक्तिगत मामलों का सर्वसाधारण से कोई सम्बन्ध नहीं होगा और उनमें शासन को दखल देने का अधिकार नहीं होना चाहिए। कारण कि, मालिकों तथा कर्मचारियों के बीच की समस्यायें भले ही निजी विषय प्रतीत हो, किन्तु वे सामान्य हित के लिए हानिकर होती हैं, क्योंकि वाणिज्यिक, औद्योगिक और कृषि सम्बन्धी कार्य-व्यापार और राष्ट्र का सामान्य कारोबार भी, सभी परस्पर सघनता से जुड़े होते हैं। एक की हानि सभी की हानि होती है। और मालिकों तथा कर्मचारियों के बीच की समस्यायें चूंकि सामान्य हित के लिए हानिकर हैं, इसलिए शासन तथा न्यायालयों को हस्तक्षेप करने का अधिकार है।

11. दो व्यक्तियों के बीच उठने वाले विशेष अधिकारों से सम्बन्धित विवादों में भी, एक तीसरे पक्ष, अर्थात शासन की आवश्यकता विवाद के समाधान हेतु होती है। फिर समूचे देश को विश्रंखलित कर देने वाली हड़तालों की समस्या की अवहेलना जो वृहद मांगों के कारण उत्पन्न हो या फैक्ट्री मालिकों के अत्यधिक लोभ के कारण ?

12 हे ईश्वर! अपने सहमानवों को भूखा, असहाय और वंचित देखते हुए कोई मनुष्य अपने शानदार भवन में सुख-शांति के साथ कैसे रह सकता है? दूसरों को कोई बड़े-से-बड़े अभावों में देखकर भी अपनी सम्पदा का आनन्द कैसे उठा सकता है? इसीलिए दैवीय धर्मों में आदेश दिया गया है कि धनी लोग अपनी सम्पत्ति का एक अंश प्रतिवर्ष निर्धनों के संभरण और जरूरतमन्दों की सहायता के लिए अर्पित करें। यह ईश्वर के धर्म की एक आधारशिला और सभी के लिए एक बाध्यकारी आज्ञा है। और इस सम्बन्ध में चूंकि किसी को शासन द्वारा वाह्य रूप से विवश या बाध्य नहीं किया जाता है, बल्कि वह अपने ही हृदय की प्रेरणा से तथा आनन्द एवं उल्लास की भावना से गरीबों की मदद करता है। इस प्रकार का कर्म अत्यधिक प्रशंसनीय, मान्य एवं सुखद होता है।

13. दैवीय पुस्तकों तथा धर्मग्रंथों में उल्लिखित धर्मसम्मत नेक कर्मों का यही अर्थ है।

**79**

**अस्तित्व के संसार की वास्तविकता**

1. कुतर्की व्यक्ति मानते हैं कि अस्तित्व मात्र मायाजनित भ्रान्ति है और प्रत्येक प्राणी वस्तुतः पूर्णतः मायायिक और भ्रामक है जिसका कहीं कोई अस्तित्व ही नहीं है। दूसरे शब्दों में, उत्पन्न की गई वस्तुओं का अस्तित्व मृगमारीचिका के समान है, या पानी अथवा दर्पण में किसी बिम्ब की प्रतिछाया जैसा है, जो किसी आधार, नींव या निश्चय योग्य वास्तविकता से विहीन आभास मात्र है।

2. यह मत मिथ्या है, क्योंकि वस्तुओं का अस्तित्व ईश्वर के अस्तित्व की तुलना में यद्यपि एक भ्रान्ति ही है, फिर भी इस सापेक्ष जगत में वह संस्थापित, प्रमाणित तथा असंदिग्ध है। उदाहरण के लिए, खनिज का अस्तित्व मनुष्य के अस्तित्व की तुलना में अनस्तित्व है - क्योंकि शारीरिक मृत्यु होने पर मनुष्य का शरीर खनिज बन जाता है - लेकिन खनिज जगत में खनिज वस्तुतः विद्यमान होता है। अतः यह स्पष्ट है कि धूल का अस्तित्व नहीं है, या उसका अस्तित्व मनुष्य के अस्तित्व की तुलना में मात्र भ्रम है, लेकिन खनिज जगत के भीतर उसका अपना अस्तित्व है।

3. इसी प्रकार, सृजित वस्तुओं का अस्तित्व ईश्वर के अस्तित्व की तुलना में कोरा भ्रम और अस्तित्व हीनता ही है और दर्पण में देखे गये बिम्ब के समान आभास मात्र ही है। यद्यपि यह बिम्ब एक भ्रान्ति है, तो भी उसका स्रोत और उसकी वास्तविकता वह प्रतिबिम्बित व्यक्ति होता है जिसकी छवि दर्पण में प्रकट हुई है। संक्षेप में, जिसे प्रतिबिम्बित किया गया है उससे तुलना किए जाने पर वह प्रतिबिम्ब एक भ्रान्ति है। अतएव यह सुस्पष्ट है कि ईश्वर के अस्तित्व की तुलना में यद्यपि उत्पन्न की गई वस्तुओं का कोई अस्तित्व नहीं होता है, इसके बजाय, वे मृगमारीचिका जैसी, या किसी दर्पण में प्रतिबिम्बित बिम्ब सरीखी होती हैं, फिर भी अपनी श्रेणी में उनका अस्तित्व होता है।

4. इसीलिए ईसा ने उनको मृतक कहा जो ईश्वर के प्रति असावधान थे और उसकी सत्यता को जिन्होंने अस्वीकार किया, जबकि बाहर से वे जीवित प्रतीत होते थे। कारण कि, निष्ठावानों से तुलना में वे वस्तुतः मृत, अंधे, गूंगे और बहरे थे। ईसा ने जब कहा, “मृतकों को अपना मृतक दफनाने दो,” तब उनका तात्पर्य यही था।

**80**

**पूर्व-अस्तित्व तथा उत्पत्ति**

1. प्रश्न: पूर्व-अस्तित्व और उत्पत्ति कितने प्रकार की होती हैं?

2. उत्तर: कुछ संत और दार्शनिक मानते हैं कि दो प्रकार के पूर्व-अस्तित्व होते हैं - मौलिक और अस्थायी - और इसी प्रकार दो प्रकार की उत्पत्ति भी होती है - मौलिक और अस्थायी।

3. मौलिक पूर्व-अस्तित्व ऐसा अस्तित्व है जिसका कोई कारण नहीं होता। लेकिन मौलिक उत्पत्ति के पीछे एक कारण होता है। अस्थायी पूर्व-अस्तित्व का कोई आदि नहीं है, लेकिन अस्थायी उत्पत्ति चार कारकों पर निर्भर होती है: कर्ता कारक, पदार्थ कारक, स्वरूप कारक और अंतिम कारक।156 इस प्रकार, इस कुर्सी का एक रचनाकार है जो बढ़ई है, पदार्थ लकड़ी है, एक स्वरूप है जो एक कुर्सी का स्वरूप है, और एक प्रयोजन है जो एक आसन प्रदान करता है। इसलिए इस कुर्सी की उत्पत्ति मौलिक स्वरूप से हुई है। क्योंकि इसकी उत्पत्ति के पहले एक कारण है और इसका अस्तित्व भी एक कारण पर निर्भर है। इसको मौलिक या मूलभूत उत्पत्ति कहा जाता है।

4. सृष्टिकर्ता के सम्बन्ध से, अस्तित्व जगत की उत्पत्ति मूलभूत रूप से हुई है। इसी प्रकार, चूंकि चेतना पर निर्भर और आश्रित है, अतः चेतना के सम्बन्ध से, यह मौलिक रूप से उत्पन्न हुआ है। विलोमतः, चेतना शरीर से पृथक हो सकती है और इसीलिए, शरीर के संदर्भ में, यह तत्वतः पूर्व-अस्तित्व में है। यद्यपि किरणें हमेशा सूर्य से अपृथकनीय हैं, किन्तु सूर्य का पूर्व-अस्तित्व है और किरणों की उत्पत्ति होती हैं, क्योंकि किरणों का अस्तित्व सूर्य के अस्तित्व पर निर्भर है, लेकिन इसका उल्टा सत्य नहीं है। सूर्य अनुग्रह का प्रदाता है और किरणें स्वयं अनुग्रह हैं।

5. दूसरा विचार यह है कि अस्तित्व और अनस्तित्व दोनों सापेक्ष होते हैं। यदि यह कहा जाये कि अमुक वस्तु अनस्तित्व से उत्पन्न हुई तो अभिप्राय नितान्त अनस्तित्व नहीं है। बल्कि, तात्पर्य यह है कि, वर्तमान दशा के सम्बन्ध से, पूर्व दशा अनस्तित्व की थी। क्योंकि सर्वथा अनस्तित्व अस्तित्व नहीं बन सकता, क्योंकि उसमें अस्तित्व धारण करने की क्षमता का अभाव होता है। मनुष्य का अस्तित्व है उसी तरह खनिज का भी अस्तित्व है, लेकिन मनुष्य के अस्तित्व के सम्बन्ध से, खनिज का अस्तित्व अनस्तित्व ही है, क्‍योंकि मनुष्य का शरीर नष्ट होकर धूल और खनिज बन जाता है। फिर जब धूल मानव जगत में विकसित होती है और पदार्थ निर्मित वह निर्जीव शरीर जीवित बन जाता है, तब मनुष्य का अस्तित्व तैयार होता है। यद्यपि धूल यानी खनिज अपनी स्वयं की ही स्थिति में अस्तित्व धारण करता है, फिर भी मनुष्य के सम्बन्ध से वह अनस्तित्व है। हमारा तात्पर्य है कि दोनों अस्तित्व हैं, लेकिन धूल तथा खनिज का अस्तित्व मनुष्य की तुलना में अनस्तित्व है, क्योंकि मनुष्य जब मरता है तो धूल और खनिज बन जाता है।

6. अतः यद्यपि सापेक्ष जगत का अस्तित्व है, किन्तु ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध से वह अनस्तित्व और नगण्य है। मनुष्य और धूल दोनों का अस्तित्व है, लेकिन मनुष्य के अस्तित्व और धूल के अस्तित्व में कितना बड़ा अन्तर है। एक के सम्बन्ध से दूसरा अनस्तित्व है। इसी प्रकार ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध से सृष्टि का अस्तित्व अनस्तित्व ही है। इस तरह ब्रह्माण्ड का अस्तित्व होते हुए भी ईश्वर के सम्बन्ध से, वह अनस्तित्व है।

7. अतः यह स्पष्ट और व्यक्त है कि यद्यपि सृजित वस्तुओं का अस्तित्व है, किन्तु ईश्वर और उसके शब्द के सम्बन्ध से, वे अस्तित्वहीन हैं। यही ईश्वर के शब्द की प्रथमतः और अंतिमतः है, जो कहता है, “मैं ही आदि और मैं ही अंत हूँ, और वह दैवीय अनुग्रह का स्रोत और इसका अंतिम लक्ष्य दोनों है। सृष्टा की एक सृष्टि सदा से रही है, और सत्य-सूर्य से किरणें सदैव निकल कर चमकी है, क्योंकि प्रकाश रहित सूर्य से अभेद्य अंधकार बन जाता। ईश्वर के नामों तथा गुणों के लिए वस्तुओं का अस्तित्व अपेक्षित है और ईश्वर के प्राचीन अनुग्रह के प्रवाह की समाप्ति को कभी सोचा भी नहीं जा सकता, क्योंकि यह दिव्य पूर्णताओं के विपरीत होगा।

**81**

**पुनर्जन्म**

1. प्रश्न: कुछ धर्मों के अनुयायी पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं। इसके सम्बन्ध में आप क्या कहेंगे?

2. उत्तर: हम जो कहने जा रहे हैं उसमें हमारा प्रयोजन दूसरों की मान्यताओं की भर्त्‍सना करना नहीं, अपितु सत्य को व्यक्त करना है। विषय के तथ्यों को स्पष्ट करना मात्र हमारा उद्देश्य है, इससे अधिक कुछ नहीं। दूसरी दृष्टि से, किसी के प्रगाढ़ विश्वासों का खण्डन करने में हमारी कदापि रूचि नहीं है और न ऐसे आचरण का हम अनुमोदन ही करते हैं।

3. तो यह जान लो कि पुनर्जन्म के मानने वाले दो प्रकार के होते हैं। प्रथम वर्ग परलोक के आध्यात्मिक पारितोषकों तथा दण्डों में विश्वास नहीं करता है। इसके स्थान पर वे मानते हैं कि मनुष्य इसी लोक में पुनर्जन्म तथा प्रत्यागमन द्वारा अपना दण्ड या प्रतिदान प्राप्त करता है। स्वर्ग तथा नरक को वे इसी भौतिक क्षेत्र तक परिसीमित मानते हैं और इससे परे किसी लोक में विश्वास नहीं करते हैं। स्वयं यह समूह दो वर्गों में विभाजित है, एक वर्ग मानता है कि कठोर दण्ड के रूप में मनुष्य कभी-कभी इसी संसार में वापस आकर किसी पशु का स्वरूप धारण करता है, और वह दुःखदायी यंत्रणा भोगने के पश्चात् वह पशु जगत से मुक्त होकर पुनः मानव जगत में आता है। इसी को वे पुनर्जन्म कहते हैं। दूसरे वर्ग की मान्यता यह है कि मनुष्य ने जहाँ से प्रस्थान किया था उसी मानव जगत में वापस आता है और पूर्व जीवन के पुरस्कारों तथा दण्डों का इस वापसी में भोग करता है और इसको वे पुनर्जन्म कहते हैं। किन्तु इन दोनों वर्गों में कोई भी इस जगत से परे किसी पारलौकिक जगत में विश्वास नहीं करते हैं।

4. पुनर्जन्मवादियों का दूसरा समूह परलोक में विश्वास करता है और पुनर्जन्म को पूर्णता प्राप्त करने के साधन के रूप में देखता है। इसमें मनुष्य इस संसार से जाकर और पुनः वापस आकर धीरे-धीरे तब तक पूर्णताएँ अर्जित करता है जब तक वह पूर्णता के मर्म की सिद्धि नहीं कर लेता। अर्थात, मनुष्य पदार्थ और ऊर्जा से निर्मित है। आरम्भ में, या प्रथम चक्र में, पदार्थ अपूर्ण होता है, लेकिन इस संसार में बार-बार वापस आने से वह विकसित होकर परिष्कृत और प्रखर बनता है और अन्ततः स्वच्छ दर्पण के समान हो जाता है और चेतना में समाहित ऊर्जा अपनी सभी परिपूर्णताओं के साथ उसमें पूरी तरह प्रत्यक्ष होती है।

5. पुनर्जन्मवादियों और देहान्तरणवादियों की मान्यताओं का यह एक सक्षिप्त विवरण है। इनके विस्तार में जाने पर बहुत समय नष्ट होगा, अतः यह सारांश पर्याप्त है। ऐसे व्यक्तियों के पास अपनी मान्यता के लिए कोई बुद्धिसंगत प्रमाण या तर्क नहीं होते हैं। उनका विश्वास मात्र निराधार कल्पना और पारिस्थितिक अनुमान पर आधारित है, निर्णायक प्रमाणों पर नहीं। पुनर्जन्मवादियों से अनुमान, अटकलें और पूर्वबोध नहीं, ठोस प्रमाण मांगे जाने चाहिए।

6. लेकिन आपने मुझसे पुनर्जन्म की असम्भाव्यता के प्रमाण तथा तर्क देने को कहा है, अतः हम उसकी असम्भावना के कारण स्पष्ट करेंगे। पहला प्रमाण यह है कि बाह्य, आंतरिक की अभिव्यक्ति है: पार्थिव जगत दैवीय जगत का ही दर्पण है और यह भौतिक जगत अध्यात्मिक जगत के ही अनुरूप है। अब यह देखो कि अनुभूत जगत में दिव्य स्वरूपों की पुनरावृत्ति नहीं होती है, क्योंकि कोई सृजित वस्तु किसी दूसरी वस्तु से किसी भी तरह समान नहीं हो सकती, लेकिन ‘दैवीय एकता’ का चिह्न सभी चीजों में विद्यमान और दृश्य है। यदि संसार के सभी अनाज भण्डार अनाज से भरे हों, तो उनमें ऐसे दो दाने ढूँढ़ निकलना बहुत मुश्किल होगा जो प्रत्येक दृष्टि से सर्वथा समान और अन्तरविहीन हों। दोनों में कुछ न कुछ अन्तर या विभेद रहता ही है। अब, सभी वस्तुओं में दैवीय एकता विद्यमान है इसके प्रमाणस्वरूप ईश्वर का एकत्व एवं अद्वितीयता सभी प्राणियों की वास्तविकताओं में दृष्टिगोचर होती है, क्योंकि एक ही दैवीय स्वरूप की आवृत्ति किसी प्रकार से सम्भव नहीं है। इसलिए, पुनर्जन्म जो अपने पूर्व तत्व एवं दशाओं सहित उसी चेतना का इस जगत में पुनः प्रकटन है, वही पूर्व स्वरूप होगा और इसलिए यह असम्भव है। और एक ही दैवीय स्वरूप का पुनरावर्तन चूंकि भौतिक सत्ताओं के लिए असम्भव है, उसी प्रकार दिव्य अस्तित्व के लिए, अवरोहण या आरोहण की चाप पर पुनः इसी समान स्थिति का अंगीकरण असम्भव है, क्योंकि भौतिक जगत आध्यात्मिक जगत के ही अनुरूप है।

7. किन्तु प्रजातियों के संदर्भ में, प्रत्यावर्तन और पुनरावर्तन भौतिक तत्वों में देखा जा सकता है, अर्थात विगत वर्षों में जिन वृक्षों ने पत्तियाँ, फूल और फल धारण किए थे, वे आने वाले वर्षों में भी वही पत्तियाँ, फूल और फल धारण करेंगे। इसे प्रजाति का पुनरावर्तन कहा जाता है। यदि कोई यह आपत्ति करे कि पत्ते, फूल और फल विघटित होकर वनस्पति से खनिज जगत में पहुँच गये हैं और पुनः पूर्व अवस्था में वापस आए हैं और इस प्रकार पुनरावर्तन हुआ है, तो हम उत्तर देंगे कि गत वर्ष के फूल, पत्ता और फल अपघटित हुए और उनके घटक तत्व विघटित होकर बिखर गये। अतः ऐसा नहीं है कि गत वर्ष के विघटित हो चुके पत्ते और फलों के वही कण संयोजित होकर वापस आए हैं, बल्कि प्रजाति का सत्व नये तत्वों के संयोजन द्वारा वापस लौटा है। इसी प्रकार, मानव शरीर अपनी संरचनात्मक अंगों के विघटन और बिखराव के बाद पूरी तरह अपघटित हो जाता हैं। यही शरीर यदि खनिज या वनस्पति जगत से वापस आये तो उसमें वही घटक तत्व नहीं होंगे जो पूर्व व्यक्ति में थे, क्योंकि उसके तत्व विघटित, वियोजित होकर शून्य में बिखर चुके थे। बाद में दूसरे मौलिक घटक संयोजित हुए और दूसरा शरीर निर्मित हुआ। और जब सम्भावना ऐसी हो कि पूर्व शरीर के कुछ घटकों ने परवर्ती शरीर से, संरक्षित नहीं रखे गये थे, ताकि उनको फिर से एकत्र कर उनके संयोजन और सम्मिश्रण द्वारा एक अन्य व्यक्ति उत्पन्न कर दिया जाये। अतः यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि अपने सभी घटक अंगों सहित यही शरीर वापस आया है, कि वही पूर्ववर्ती व्यक्ति परवर्ती व्यक्ति बन गया है और इस तरह एक पुनरावर्तन घटित हुआ है, कि शरीर की तरह वही चेतना वापस लौटी है और मृत्य के बाद उसके तत्व ने पुनः इस संसार को प्राप्त किया है।

8. और अगर हम यह दावा करें, कि पूर्णता सम्पादन करना पुनर्जन्म का अभीष्ट है, ताकि पदार्थ विशुद्ध तथा परिष्कृत बनाया जा सके और चेतना का प्रकाश उसमें परम पूर्णता के साथ चमके, तो यह भी महज परिकल्पना ही है। यदि हम ऐसी मान्यता स्वीकार भी कर लें, तो किसी वस्तु के अस्तित्व के नवीकरण से उसके सत्व का रूपान्तरण नहीं किया जा सकता। कारण कि, सम्पूर्णता का तत्व, वापस आने पर, पूर्णता की वास्तविकता नहीं बन जाएगा, सम्पूर्ण अंधकार प्रकाश का स्रोत नहीं बनेगा, दयनीय दुर्बलता बल और शक्ति नहीं बनेगी और एक पार्थिव तत्व दैवीय वास्तविकता नहीं बनेगा। कितनी ही बार वह वापस आये, परन्तु नारकीय वृक्ष157 कभी मधुर फल उत्पन्न नहीं करेगा और न अच्छे वृक्ष में कड़वे फल लगेंगे। इस प्रकार स्पष्ट है कि इस भौतिक जगत में पुनरावर्तन और प्रत्यागमन पूर्णता की सिद्धि के साधन नहीं है और यह मान्यता किसी प्रमाण या साक्ष्य पर टिकी न होकर निराधार कल्पना मात्र है। पूर्णता की प्राप्ति वास्तव में ईश्वर की कृपा पर निर्भर है।

9. अद्वैतवादी (थिआसफ़िस्ट) विश्वास करते हैं कि मनुष्य आरोहण के चाप पर बारम्बार तब तक वापस आता रहेगा, जब तक वह सर्वोच्च केन्द्र पर नहीं पहुंच जाता, जहाँ पदार्थ निर्मल दर्पण बन जाता है, चेतना का प्रकाश अपनी भरपूर शक्ति के साथ उसमें चमकता है और सारभूत पूर्णता उपलब्ध होती है। तथापि, जिन्होंने दिव्यतः से सम्बन्धित प्रश्नों की पूरी तरह जांच पड़ताल की है वे यह निश्चित रूप से जानते हैं कि अवरोहण के चाप के अन्त पर भौतिक लोकों का अन्त हो जाता है और मनुष्य की संस्थिति अवरोहण चाप के अन्त तथा आरोहण चाप के प्रारम्भ पर है, जो सर्वोच्च केन्द्र के सामने है और आरोहण चाप के आरम्भ से अन्त तक विकास की श्रेणियों का स्वरूप आध्यात्मिक है। अवरोही चाप को ‘उत्पन्न करने’ का चाप तथा आरोही चाप को ‘पुनः सृजन’ का चाप कहा जाता है। अवरोही चाप का अन्त भौतिक सत्ताओं में और आरोही चाप का अन्त आध्यात्मिक सत्ताओं में होता है। परकार की नोक वृत खीचते समय पीछे की ओर नहीं लौटती है, क्योंकि ऐसा करना प्राकृतिक गतिशीलता के और दैवीय व्यवस्था के विरूद्ध होगा और इससे वृत की समरूपता नष्ट हो जाएगी।

10. इसके अतिरिक्त, यह भौतिक संसार ऐसे मूल्यवान, महत्व या नाम की जगह नहीं है कि कोई अपने पिंजड़े से मुक्त होने के बाद फिर दूसरी बार उसके चंगुल में फंसने की इच्छा करे। नहीं, ईश्वर की शाश्वत कृपा के द्वारा मानव सत्ता की सच्ची क्षमता तथा ग्रहणशीलता की अस्तित्व की श्रेणियाँ पार कर जाने के जरिए स्पष्ट और व्यक्त हुई हैं, पुनरावर्तन एवं प्रत्यागमन के जरिए नहीं। सीपी को मात्र एक बार जिस समय खोला जाता है, तभी यह स्पष्ट और साफ हो जाता है कि इसमें चमकदार मोती छिपा है या मूल्यहीन पदार्थ। जब कोई पौधा मात्र एक बार उगा है, तो वह फूल या काँटे उपजाता है और उसके बाद उसके उगने की आवश्यकता नहीं होती। इससे पृथक, विभिन्न जगतों से होकर एक लम्बी रेखा में चलते हुए, प्राकृतिक व्यवस्था के अनुसार आगे बढ़ना ही अस्तित्व का हेतु है और चीजों के अनुक्रम तथा प्राकृतिक व्यवस्था के विरूद्ध चलना विनाश का हेतु है। मरणोपरान्त चेतना की वापसी प्राकृतिक गतिशीलता से असंगत और दैवीय व्यवस्था के विपरीत है।

11. इस प्रकार प्रत्यागमन के जरिए अस्तित्व की उपलब्धि किसी भी तरह सम्भव नहीं है। यह ऐसा है मानो मनुष्य गर्भ-जगत से मुक्त होने के बाद उसमें वापस जाए। विचार करो कि पुनर्जन्मवादियों तथा देहान्तरवादियों की आवधारणायें कितनी बेबुनियाद हैं। वे शरीर की धारणा एक बर्तन के रूप में और चेतना की धारणा इसमें रखी वस्तु के रूप में करते हैं, जैसे प्याले में पानी, जिसे एक प्याले से दूसरे में उंडेला जा रहा हो। वस्तुतः यह बच्चों जैसा विचार है: वे गहराई से यह विचार नहीं करते हैं कि चेतना तो सर्वथा अभौतिक या अमूर्त वस्तु है और वह प्रवेश या निर्गगमन नहीं करती है और वह अधिक-से-अधिक शरीरों से ऐसे ही जुड़ी रहती है जैसे सूर्य दर्पण से। चेतना अगर सभी श्रेणियों को पार कर ले और भौतिक जगत में बार-बार वापस आकर आवश्यक पूर्णता प्राप्त कर ले तो यह ज्यादा अच्छा रहता, यदि ईश्वर इस भौतिक जगत में चेतना का जीवन बढ़ा दे ताकि वह सद्गुणों तथा पूर्णताओं को प्राप्त कर सके। इस प्रकार चेतना के लिए मृत्यु के प्याले को चखने और दूसरी बार इस जीवन में प्रवेश करने की कोई आवश्यकता ही न रहती।

12. इस विचार का मूल इस तथ्य में है कि कुछ पुनर्जन्मवादी कल्पना करते हैं कि अस्तित्व इस क्षणिक विश्व तक ही परिसीमित है। वे अन्य ईश्वरीय लोकों को नकारते हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि ईश्वर के लोक अनन्त हैं। यदि ईश्वरीय लोक इस भौतिक जगत में अपनी पराकाष्ठा प्राप्त कर लें, फिर तो सारी सृष्टि ही व्यर्थ हो जाये, और स्वयं अस्तित्व बच्चों का खेल बन जाए। कारण कि इस अन्तहीन ब्रह्माण्ड का अंतिम परिणाम, मनुष्य की परम श्रेष्ठ वास्तविकता, थोड़े-ही दिनों के लिए इस नाशवान घर में इधर-उधर जाकर अपने पुरस्कार और दण्ड प्राप्त कर लेगी। अन्त में, सभी पूर्णता प्राप्त कर लेंगे, अपने असीम प्राणियों सहित ईश्वर की सृष्टि अपने आप में पूर्ण बनकर समापन तक पहुंच जाएगी और इस प्रकार प्रभु की प्रभुता और ईश्वर के नाम तथा वृत्तियां प्रभावहीन हो जाएंगी तथा आध्यात्मिक प्राणियों पर उनकी जो प्रभावोत्पादकता आज है वह समाप्त हो जाएगी। “परे है तेरा प्रभु! सर्वमहिमावान उन बातों से जो ये लोग कहते हैं।”158

13. टोलोमी तथा अन्य प्राचीन दार्शनिकों के सीमित मन-मस्तिष्क यह मान बैठे थे कि जीवन और अस्तित्व का क्षेत्र इसी भूमण्डल तक परिसीमित है। उनकी कल्पना थी कि यह असीम अन्तरिक्ष नौ खगोलीय ग्रहों के भीतर समाया हुआ है जो सभी रिक्त और खाली है। देखो कि उनके विचार कितने सीमित थे और उनकी विचार शक्ति कितनी दुर्बल! इसी तरह पुनर्जन्मवादी कल्पना करते हैं कि आध्यात्मिक लोक उन्हीं क्षेत्रों तक परिसीमित हैं जिनकी मानव मन धारणा कर सकता है। इनमें दूजी और नुसारिस जैसे कुछ लोग तो यह भी कल्पना करते हैं कि अस्तित्व इस भौतिक जगत तक ही सीमाबद्ध है। कितनी अज्ञान भरी मान्यता है यह! कारण कि, ईश्वर के इस ब्रह्माण्ड में जो परम पूर्ण, सुन्दर तथा मनोहर दिखाई देता है, भौतिक विश्व के चमकदार पिण्ड निस्सीम हैं। अब थोड़ा-सा ठहर कर यह निष्कर्ष निकालिए कि कितने असीम और अपरिमित होंगे ईश्वर के आध्यात्मिक लोक जो मुख्य आधार हैं! “उचित सावधानी बरतो, हे अन्तर्दृष्टिसम्पन्न लोगों”!159

14. अब हम अपने मूल विषय पर वापस आयें। पावन पुस्तकों एवं पवित्र धर्मग्रन्थों में एक “प्रत्यागमन” का उल्लेख है, किन्तु अज्ञानीजन उसके तात्पर्य को ग्रहण नहीं कर पाये हैं और पुनर्जन्म के सन्दर्भ में इसकी कल्पना की हैं। “प्रत्यागमन” से ईशदूतों का जो तात्पर्य था वह तत्व की वापसी नहीं, अपितु गुणों की वापसी है, यह स्वयं ईश्वरावतार की वापसी नहीं, अपितु उसकी पूर्णताओं की वापसी है। गॉस्‍पल में कहा गया है कि जकारिया का पुत्र याह्या एलिजा है। इन शब्दों का अर्थ याह्या के ही शरीर में एलिजा को बुद्धिसंगत आत्मा और व्यक्तित्व की वापसी नहीं है, बल्कि यह है कि एलिजा की पूर्णताएँ तथा गुण याह्या में सुस्पष्ट और प्रकट हुईं।160

15. कल रात इस कमरे में एक दीपक प्रकाशित किया गया था। आज रात जब दूसरा दीपक प्रकाशित किया गया है तो हम कहते हैं कि कल रात का प्रकाश फिर से चमका है। किसी झरने से जो जल बहना बंद हो गया था वह पुनः बहने लगे तो हम कहते हैं कि वही जल एक बार फिर बह रहा है। अथवा, हम कहते हैं कि यह प्रकाश पूर्व प्रकाश जैसा ही है। इसी प्रकार, विगत बसंत में फूल और सुगंधित वनस्पत्तियाँ पुष्पित हुईं तथा स्वादिष्ट फल उत्पन्न हुए थे। अगले वर्ष हम कहते हैं कि वे ही स्वादिष्ट फल और फूल तथा कलियाँ, तथा मीठी जड़ी-बूटियाँ वापस आ गईं हैं। ऐसा नहीं है कि विघटित होने के बाद गत वर्ष के फूलों के ही संरचक तत्व पुनः संयोजित होकर वापस आये हैं। नहीं, आशय यह है कि इस वर्ष के फूलों में ठीक वैसी ताजगी और कोमलता, वैसी ही सुखद सुगन्ध और अद्भुत रंग पाये जाते हैं जो गत वर्ष के फूलों की विशेषता रहे थे। संक्षेप में, बिन्दु यह है कि पूर्ववर्ती और परवर्ती फूलों के बीच समरूपता और समानता है। यही वह “प्रत्यागमन” है जिसका उल्लेख दैवीय धर्मग्रन्थों में हुआ है। किताब-ए-ईकान में बहाउल्लाह ने इसे पूर्णरूपेण स्पष्ट किया है। उसका अध्ययन करो, ताकि तुम दैवीय रहस्यों की सत्यता जान सको। तुम्हें शुभकामनायें एवं प्रशंसा प्राप्त हो।

**82**

**अस्तित्व की एकता**

1. प्रश्न: अद्वैतवादियों एवं सूफियों के मत से “अस्तित्व की एकता” का स्वरूप क्या है और इससे वास्तव में उनका अभिप्राय क्या है?161 यह विश्वास सत्य है या नहीं?

2. उत्तर: यह जानो कि अस्तित्व की एकता का विचार बहुत प्राचीन है और केवल अद्वैतवादियों और सूफियों तक ही सीमित नहीं है। वस्तुतः कुछ यूनानी दार्शनिकों, जैसे अरस्तु, ने इसे अपनाया था। उसने कहा था: “विसंयोजित यथार्थ ही सारी वस्तुएँ हैं, किन्तु वह उनमें से एक भी नहीं है।”162 “विसंयोजित” यहाँ “संयोजित” के विरोध में है - कहने का तात्पर्य यह कि उस एकाकी सत्ता ने जो संयोजन और विभाजन से परे उदात्त एवं निर्मल है, स्वयं को असंख्य स्वरूपों में नियोजित कर लिया है। इस प्रकार, वास्तविक ‘अस्तित्व’ ही समस्त वस्तुएँ हैं, लेकिन वह उनमें से एक नहीं है।

3. अस्तित्व की एकता के प्रस्तावक मानते हैं कि वास्तविक ‘अस्तित्व’ समुद्र के समान है, और सभी सृजित वस्तुएँ उसकी लहरों के समान। उत्पन्न की गई वस्तुएँ इन लहरों के अनगिनत स्वरूपों की द्योतक हैं, जिन्हें वह वास्तविक अस्तित्व धारण करता है। इसीलिए वह निर्मल यथार्थ पहले से अस्तित्वमान सागर है और अनगिनत वस्तुओं के स्वरूप में उत्पन्न हुई तरंगें हैं।

4. इसी प्रकार, वे इसकी तुलना ‘एक’ और अनन्त संख्याओं से करते हैं, वह कहते हैं कि ‘पहले’ ने ही अपने को अनन्त संख्याओं की श्रेणियों में प्रकट किया है, क्योंकि संख्यायें एक की ही पुनरावृत्ति होती हैं। इस प्रकार दो एक की पुनरावृत्ति है और यही बात अन्य संख्याओं के साथ है।

5. वे जो प्रमाण प्रस्तुत करते हैं उनमें एक यह है कि सभी सृजित वस्तुएँ दिव्य ज्ञान के विषय है और ज्ञान के विषयों के बगैर ज्ञान को समझा नहीं जा सकता, अतः ज्ञान का सम्बन्ध उस वस्तु से होता है जिसका अस्तित्व है। उससे नहीं जिसका अस्तित्व न हो। वस्तुतः निरा अनस्तित्व ज्ञान के दर्पण में विवरण विशेष और वैयिक्तता कैसे प्राप्त कर सकता है? इससे निष्कर्ष निकलता है कि सभी सृजित वस्तुओं की सत्ताओं का, जो उस परमोच्च के ज्ञान की विषय हैं, एक बोधगम्य अस्तित्व था, क्योंकि वे दैवीय ज्ञान की स्वरूप थीं और वे पहले से वर्तमान है, क्योंकि दैवीय ज्ञान पहले से ही अस्तित्व में है। जब तक ज्ञान का पूर्व अस्तित्व है, तब तक उसके विषयों का पूर्व अस्तित्व होना चाहिए। और सृजित वस्तुओं के विवरण विशेष तथा वैयक्तिताएँ, जो दैवीय सत्व के पूर्व अस्तित्वधारी ज्ञान के विषय हैं, स्वयं दैवीय ज्ञान के अनुरूप हैं। इसका कारण यह है कि दैवीय ‘सत्व’ अनेकानेक दृश्य प्रपंच का आधार बन जाएगा, और पूर्व-अस्तित्वों की बहुलता आवश्यक हो जाएगी, जो विसंगति है।

6. जो तर्क देते हैं कि, इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि ज्ञान के विषय स्वयं ज्ञान से अभिन्न हैं और ज्ञान दैवीय सत्व से अभिन्न है। तात्पर्य यह कि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञान के विषय (यानी ज्ञेय) एक ही यथार्थ (तत्व) हैं। कोई दूसरी अवधारणा निश्चित ही पूर्व-अस्तित्वों की बहुलता और असीमित प्रत्यागमन की ओर और वस्तुतः अगणित पूर्व-अस्तित्वों की दिशा में ले जाएगी। और ईश्वरीय ज्ञान में चूंकि सृजित वस्तुओं की वैयक्तिताएँ तथा विशेष विवरण हैं विविधताएँ। ईश्वर के सत्व से अभिन्न और पूर्णतया उससे अपृथकनीय थे, अतः सच्ची एकता (अद्वैत) प्रभावी हुई और ज्ञान के सभी विषय, किसी असंयोजित और अविभक्त विधि से, दैवीय सत्व की वास्तविकता में, सम्मिलित और समाविष्ट हुआ। दूसरे शब्दों में, वे किसी असंयोजित और अविभक्त विधि में, उस परमोच्च के ज्ञान के विषय थे और उसके सत्व से अभिन्न थे। और ईश्वर के अभिव्यक्तिपरक, आविर्भाव के द्वारा, इन वैयक्तिताओं तथा विशेषताओं तथा विशेषताओं को, जिनका एक बोधगम्य अस्तित्व था अर्थात् जो दैवीय ज्ञान के स्वरूप थे, बाहरी जगत में असली अस्तित्व प्राप्त हुआ और इस प्रकार वह वास्तविक - ‘अस्तित्व’ अगणित स्वरूपों में खण्डित हुआ। यही उनके तर्क का आधार है।

7. अद्वैतवादियों और सूफियों के दो गुट हैं। एक गूढ़ सामान्य जनों का है जो मात्र अनुकृति करते हुए अस्तित्व की एकता में विश्वास करता है। उन्होंने अपने प्रख्यात नेताओं की शिक्षाओं का वास्तविक अभिप्राय नहीं समझा है। क्योंकि सामान्य सूफीजन “अस्तित्व” से वह सामान्य अस्तित्व समझते हैं जिसकी धारणा मन-बुद्धि द्वारा की जाती है, अर्थात् जिसे आदमी समझ सकता है।

8. किन्तु, यह सामान्य अस्तित्व अन्य संयोगों के बीच एक संयोग मात्र होता है, जो सृजित वस्तुओं की वास्तविकताओं के साथ सम्मिलित है, जबकि सृजित वस्तुओं के सत्व ही इनके सार तत्व होते हैं। यह सांयोगिक अस्तित्व, जो वस्तुओं पर उसी प्रकार निर्भर होता है जैसे वस्तुओं के गुण उन पर निर्भर होते हैं, अनेक संयोगों में एक संयोगमात्र ही है।

9. अब, जो सार तत्व है वह निस्संदेह संयोग से श्रेष्ठ है, क्योंकि पदार्थ प्राथमिक है और संयोग गौण। सार पदार्थ अपने आप पर ही अवलम्बित होता है जबकि संयोग किसी अन्य वस्तु पर टिकता है, अर्थात् उसे अपने निर्वाह के लिए किसी तत्व की आवश्यकता होती है।

10. अगर ऐसा हो तो ईश्वर अपनी सृष्टि से गौण और उस पर निर्भर हो जाएगा और सृष्टि का उस से पूरी तरह छुटकारा मिल जायेगा।

11. इस तथ्य पर और प्रकाश डालते हैं। जब वैयक्तिक तत्व विश्वव्यापी दैवीय व्यवस्था के अनुसार मिलते हैं, तब कोई प्राणी अस्तित्व जगत में पदार्पण करता है। अर्थात्, जब कुछ तत्व मिलते हैं तो एक वानस्पत्तिक अस्तित्व उत्पन्न होता है, कुछ अन्य तत्व मिलते हैं तो एक पशु का अस्तित्व बन जाता है और जब फिर कुछ तत्व मिले तो और दूसरी चीजें अस्तित्व में आती हैं। हर प्रसंग में, वस्तुओं का अस्तित्व उनकी वास्तविकताओं का एक निष्कर्ष होता है। फिर ऐसा कोई अस्तित्व, जो अनेक में एक संयोग है और जिसके लिए एक पदार्थ अपेक्षित होता है जिसके जरिए वह निर्वाह कर सके, आवश्यक रूप से पूर्व-अस्तित्वधारी और सभी वस्तुओं का जनक कैसे हो सकता है।

12. लेकिन अद्वैतवादियों और सूफियों के बीच जो सचमुच विद्वज्जन हैं वे इस विषय पर गहरे सोच-विचार के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि अस्तित्व दो प्रकार का होता है। एक है सामान्य अस्तित्व जिसकी धारणा मानव मन करता है। इस अस्तित्व का प्रादुर्भाव होता है और वह दूसरों के बीच एक संयोग है, जबकि वस्तुओं की वास्तविकताएँ सार-तत्व होती हैं। लेकिन जिसे अस्तित्व की एकता कहते हैं वह एक सामान्य ज्ञान वाला अस्तित्व नहीं है। यह वह वास्तविक अस्तित्व होता है जो अभिव्यक्ति मात्र से ऊँचा और निर्मल होता है - एक ऐसा अस्तित्व जिसके जरिए सभी वस्तुओं की अनुभूति की जाती है। यह ‘अस्तित्व’ एक है और वही वह सत्ता है जिसके जरिए सभी वस्तुएँ, जैसे पदार्थ, ऊर्जा और वह सामान्य अस्तित्व जिसकी मानव मन धारणा कर सकता है, अस्तिवमान् हुई हैं। सूफियों तथा अद्वैतवादियों के विश्वास के पीछे यही सत्य है।

13. संक्षेप में, ईशदूत तथा दार्शनिक इस बात पर सहमत हैं कि वह हेतु जिसके द्वारा सभी वस्तुएँ साकार बनती हैं मात्र एक है। अन्तर यह है कि ईशदूत सिखलाते हैं कि ईश्वरीय ज्ञान के लिए सृष्टि की वस्तुओं की अपेक्षा नहीं है, जबकि जीवों के ज्ञान के लिए ज्ञान के विषयों का अस्तित्व अपेक्षित है। दैवीय ज्ञान के लिए अगर कोई अन्य वस्तु आवश्यक हो, तो वह ईश्वर का ज्ञान नहीं, प्राणियों के ज्ञान जैसा होगा। कारण कि, पूर्व-अस्तित्व प्रादुर्भाव की अपेक्षाओं में सृजन के लिए हम जिस चीज पर बल देते हैं उसकी उपस्थिति हम ईश्वर में नकारते हैं, क्योंकि सभी अपूर्णताओं से ऊपर उदात्त और निर्मल होना उस ‘अटल सत्ता’ का एक लक्षण है।

14. उदाहरण के लिए, प्रादुर्भाव वस्तुओं में हम अज्ञान देखते हैं, पूर्वअस्तित्व में हम ज्ञान का समर्थन करते हैं। प्रादुर्भूत में हम निर्धनता देखते हैं, पूर्व-अस्तित्व में धन-सम्पदा, पूर्व-अस्तित्व वस्तुएँ सभी अपूर्णताओं का स्रोत हैं और पूर्व-अस्तित्व सभी पूर्णताओं की समष्टि है। और प्रादुर्भूत के ज्ञान के लिए चूंकि ज्ञान के विषयों की आवश्यकता है, किन्तु पूर्व-अस्तित्व का ज्ञान उनके अस्तित्व से स्वतंत्र रहना आवश्यक है। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि सृजित वस्तुओं की विशिष्टताएँ एवं वैयक्क्तिताएँ, जो दैवीय ज्ञान के विषय हैं, पूर्व-अस्तित्व नहीं हैं। इसके अतिरिक्त, दैवीय पूर्णता की वृत्तियाँ मानव मन के प्रयासों की उतनी अनुवर्ती नहीं हैं कि हम यह निर्धारित कर सकें कि दैवीय ज्ञान को विषयों की आवश्यकता है या नहीं।

15. संक्षेप में, जिसका उल्लेख किया गया है, वह सूफियों का सर्वप्रमुख तर्क है और यदि हम उनके सभी तर्कों की चर्चा करें और उनके उत्तर दें, तो इसमें बहुत अधिक समय लगेगा। अतः जो कहा गया है वह अत्यधिक निर्णायक प्रमाण है और स्पष्टतम तर्क है जिसे सूफियों तथा अद्वैतवादियों में विद्वज्जनों ने प्रस्तुत किया है।

16. जिस वास्तविक ‘अस्तित्व’ से सभी वस्तुएँ मूर्त स्वरूप धारण करती हैं, अर्थात दैवीय सत्व की वास्तविकता, जिसके जरिए सभी वस्तुएँ अस्तित्व में आई हैं, सभी ने स्वीकार किया है। अन्तर इस तथ्य में है कि सूफी यह मानते हैं कि सभी वस्तुओं की वास्तविकताएँ उस ‘एक’ का प्राकट्य हैं, जबकि ईशदूत कहते हैं कि ये उससे निस्सृत होती है। और प्राकट्य तथा निस्सरण के बीच वस्तुतः बड़ा अन्तर है। प्राकट्य द्वारा स्वरूप धारण का अर्थ है कि एक अकेली वस्तु असीम स्वरूपों में साकार हो जाती है। उदाहरण के लिए, जब बीज, जो वनस्पति जगत की पूर्णताओं से सम्पन्न एकाकी वस्तु है, अपने आप को प्रकट करता है, तो वह शाखाओं, पत्तों, फूलों तथा फलों के असीम स्वरूपों में साकार होता है। इसे प्राकट्यपरक स्वरूप कहा जाता है। लेकिन निस्सरण से उत्पन्न स्वरूप में वह ‘एक’ अपनी निर्मलता के शिखरों पर अनुभवातीत रहता है, फिर भी निस्सरण के जरिए उससे जीवों को अस्तित्व प्राप्त होता है। यह प्राकट्य के माध्यम से नहीं होता। सूर्य से इसकी तुलना की जा सकती है - किरणें सूर्य से निस्सरित होती हैं और सभी वस्तुओं पर चमकती हैं, लेकिन सूर्य अपनी निर्मलता की ऊँचाइयों पर लोकोत्तर स्थिति में बना रहता है। वह नीचे नहीं उतरता है, वह अपने को किरणों के स्वरूपों में रूपान्तरित नहीं करता है, वह विशेषीकरण और वैयक्तिता के माध्यम से भी वस्तुओं की पहचान में नहीं दिखता है। पूर्व-अस्तित्व नहीं बनता है, परम सम्पदा दरिद्रता का शिकार नहीं होती है, और पक्की पूर्णता कभी सर्वथा अपूर्णता में नहीं बदलती है।

17. थोड़े में, सूफी केवल ईश्वर और सृष्टि की बात करते हैं, और विश्वास करते हैं कि ईश्वर ने स्वयं को अपनी सृष्टि के असीम स्वरूपों में साकार किया और उनके जरिए अपने आप को ही प्रकट किया है। यह इसी प्रकार है जैसे सागर, जो अपनी तरंगों के असीम रूपों में दिखाई देता है। ये प्रादुर्भूत तथा अपूर्ण तरंगें इस पूर्व अस्तित्वधारी सागर से अभिन्न है जो सभी दैवीय पूर्णताओं का समाहार है। किन्तु, ईशदूत मानते हैं कि ईश्वर जगत, दैवीय जगत और सृष्टि जगत - ये तीन चीजें होती हैं। पहला निस्सरण है दैवीय जगत, की प्रवहमान होती कृपा जो ईश्वर से निकली है और सभी वस्तुओं की वास्तविकताओं में प्रकट हुई है, जैसे सूर्य से निकली किरणें भी वस्तुओं में प्रतिबिम्बित होती हैं। और वह कृपा - किरणें - सभी वस्तुओं की वास्तविकताओं में असीम स्वरूपों में दिखाई देती हैं, और वह वस्तुओं की क्षमता, ग्रहणशीलता, तथा सारतत्व के अनुसार अलग-अलग नाम तथा व्यक्तित्व वाली हुई हैं। लेकिन सूफियों की मान्यता के अनुसार यह अपेक्षित होगा कि चरम सम्पदा निर्धनता में उतरे, वह ‘पूर्वास्तित्व’ प्रादुर्भूत स्वरूपों तक परिसीमित रहे, और शक्ति का वह सार तत्व ही शक्तिहीनता के दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर सापेक्ष जगत की सन्निहित सीमाबद्धताओं का विषय बने। और यह तो स्वतः प्रत्यक्ष मूल है। कारण कि, हम देखते हैं कि सभी प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ मनुष्य की वास्तविकता उतर कर पशु की वास्तविकता नहीं बन सकती और इन्द्रियों की संवेदनशक्ति से सम्पन्न पशु का सत्व अपने को वनस्पति की श्रेणी में अवनत नहीं करता है और वनस्पति की जो सम्वर्धन की शक्ति है वास्तविकता अपने को खनिज की वास्तविकता तक नीचे नहीं गिराती है।

18. संक्षेप में, उच्च वास्तविकताएँ (या सत्ताएँ) निम्न सत्ताओं की श्रेणी में उतरती या स्वयं को गिराती नहीं हैं तब वह ईश्वर की सार्वभौम सत्ता जो अवर्णनीय तथा निर्गुण है, अपनी परम निर्मलता एवं पवित्रता के बावजूद, इस सापेक्ष जगत के उन स्वरूपों तथा सत्ताओं में विखण्डित कैसे हो सकती है जो अपूर्णताओं के पक्के स्रोत हैं? यह विशुद्ध भ्रान्ति और अतर्कसंगत निराधार कल्पना है। इसके विपरीत, निर्मलता का वह सारतत्व सभी दिव्य एवं भव्य पूर्णताओं की समष्टि है, और सभी प्राणी उसके निस्सरणकारी प्रकटन से प्रकाश प्राप्त करते हैं और उसकी लोकोत्तर पूर्णता तथा सौन्दर्य की कान्तिपूर्ण रश्मियों में सहभागी बनते हैं। यह उसी प्रकार होता है जैसे सभी पार्थिव प्राणी सूर्य-किरणों से प्रकाश का अनुग्रह प्राप्त करते हैं और ऐसा करने में सूर्य इन पार्थिव जीवों की ग्रहणशील सत्ताओं में नीचे नहीं उतरता या अपने को निम्नस्तरीय नहीं बनाता है।

19. पर्याप्त विलम्ब होने के विचार से भोजन के उपरान्त अब आगे और विवरण देने का समय नहीं है।

**83**

**बोध के चार मानक**

1. बोध के केवल चार मान्य मापदण्ड होते हैं, अर्थात् चार मानकों के आधार पर वस्तुओं की वास्तविकताओं को समझा जाता है।

2. पहला इन्द्रियों का मापदण्ड है, यानी वह सब जो दृष्टि, श्रवण, स्वाद, गंध तथा स्पर्श द्वारा जाना जाता है उसे “गोचर” कहा जाता है। इस समय सभी यूरोपीय दार्शनिक इसे सर्वाधिक पूर्ण मापदण्ड मानते हैं। उनका दावा है कि सभी मानकों में सबसे बड़ा इन्द्रियों का मापदण्ड है और वे इसे अलंघनीय मानते हैं। फिर भी, इन्द्रियों की कसौटी सदोष है, क्योंकि वह भूल कर सकती है। उदाहरण के लिए, इन्द्रियों में सर्वप्रमुख दृष्टि शक्ति है। किन्तु दृष्टि मृगमारीचिका में जल देखती है और दर्पण में प्रतिबिम्बित बिम्बों को वास्तविक तथा अस्तित्वधारी मानती है। विशाल पिण्डों को वह छोटा देखती है, चक्रवार घूमते बिन्दु को गोले के रूप में देखती है, धरती के स्थिर और सूरज के गतिशील होने की कल्पना करती है और इसी प्रकार की दूसरी अनेक भूलों के वह अधीन है। अतः इस पर निर्विवाद रूप से भरोसा नहीं किया जा सकता।

3. दूसरा है बुद्धि का मापदण्ड, जो उन विवेक स्तम्भों का, प्राचीन दार्शनिकों का प्रमुख मापदण्ड था। वे मन-शक्ति से चीजों का निर्णय करते थे और बुद्धि-संगत तर्कों पर भरोसा करते थे। उनके सभी तर्क विचार शक्ति पर निर्भर हैं लेकिन, इसके बावजूद अपने मतों में वे बहुत अधिक भिन्न थे। स्वयं अपने ही विचार भी वे बदल देते थे। बुद्धिसंगत तर्कों से किसी चीज का निष्कर्ष निकालने में वे बीस वर्ष जुटे रहे और इसके बाद उसी को वे पुनः बुद्धिसंगत तर्कों से ही असत्य प्रमाणित करते थे। प्लेटो तक ने पहले बुद्धिसंगत तर्कों से धरती का अचल होना और सूर्य की गति को सिद्ध किया और इसके बाद अन्ततः फिर बुद्धिसंगत तर्कों से ही सूर्य की निश्चलता और धरती को गतिमान सिद्ध किया। तदुपरान्त टोलेमी के सिद्धान्त का व्यापक प्रसार हुआ और प्लेटो का सिद्धान्त पूरी तरह भुला दिया गया। एक आधुनिक खगोलविद् ने पुनः उसे जीवित किया। इस प्रकार गणितज्ञ आपस में ही असहमत रहे हैं जबकि वे सभी बुद्धिसंगत तर्कों पर भरोसा करते थे।

4. इसी प्रकार, वे एक बार किसी चीज को बौद्धिक तर्कों से प्रमाणित करते थे और दूसरी बार फिर बुद्धिसंगत तर्कों से ही उसे अप्रमाणित कर देते थे। इस तरह, कोई दार्शनिक किसी दृष्टिकोण का कुछ समय तक दृढ़ता से समर्थन करता और उसके समर्थन में अनेक प्रमाण तथा तर्क प्रस्तुत करता था और बाद में वह अपना विचार बदल देता और बुद्धिजन्य तर्कों से अपने पूर्व दृष्टिकोण का खण्डन करता था।

5. अतः यह सुस्पष्ट है कि बुद्धि का मापदण्ड अपूर्ण है, जैसाकि प्राचीन दार्शनिकों के बीच मौजूद असहमतियों से और उनमें सुसंगति के अभाव तथा अपने ही विचारों को बदलने की उनकी प्रवृत्ति से सिद्ध होता है। कारण कि, बुद्धि का मापदण्ड अगर परिपूर्ण होता, तो सभी अपने विचारों में एक और अपने अभिमतों में सहमत रहे होते।

6. तीसरी कसौटी है पारम्परिक कथन का मापदण्ड, अर्थात् पवित्र धर्मग्रन्थों का मूलपाठ, जब यह कहा जाता है कि “ईश्वर ने तौरेत में ऐसा कहा है,” या “ईश्वर ने गॉस्‍पल में ऐसा कहा।” यह मापदण्ड भी परिपूर्ण नहीं है, क्योंकि पारम्परिक कथनों को मन-बुद्धि द्वारा समझा जाना आवश्यक है। बुद्धि जब स्वयं गलती कर सकती है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि वह पूर्ण सत्य को प्राप्त होगी और पारम्परिक कथनों का अर्थ समझने और निष्कर्ष निकालने में भूल नहीं करेगी? कारण कि, वह त्रुटि के अधीन है और निश्चित परिणाम तक नहीं ले जा सकती। यह धर्म का नेतृत्व करने वालों का मानक होता है। धर्मपुस्तक के मूलपाठ के अध्ययन से वे जो कुछ समझ पाते हैं वह वही होता है जिसका बोध उनकी बुद्धि कर सकती है। यह आवश्यक नहीं है कि उन्होंने जो समझ लिया है वह उस विषय का सत्य ही हो, क्योंकि बुद्धि तुला के समान है और मूलपाठों के अर्थ उसमें तौली जाने वाली वस्तुओं के समान होते हैं। अगर तुला सच्ची नहीं है तो भार का निश्चय कैसे किया जा सकता है।

7. अतः यह जान लो कि लोगों के पास जो कुछ है जिस पर वे विश्वास करते हैं और जिसे सच मानते हैं उसमें त्रुटि भी हो सकती है। क्योंकि किसी चीज को सिद्ध करने या असिद्ध करने में यदि इन्द्रियों के साक्ष्य का प्रमाण लिया जाता है तो यह मापदण्ड अपूर्ण है और यदि बुद्धि सम्मत प्रमाण प्रस्तुत किया जाये तब भी वही सत्य है और इसी तरह पारम्परिक कथनों का प्रमाण भी अधूरा है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मनुष्य के पास ज्ञान का ऐसा कोई मापदण्ड नहीं है जिस पर भरोसा किया जा सके।

8. लेकिन ‘पावन चेतना’ का अनुग्रह वह सच्चा मापदण्ड है जिसके सम्बन्ध में कोई संदेह या अनिश्चय नहीं है। यह अनुग्रह पावन चेतना की सम्पुष्टियों में होता है जो मनुष्य को कृपापूर्वक प्रदत्त हैं और जिनके माध्यम से आस्था की उपलब्धि होती है।

**84**

**सत्कर्म और उनकी आध्यात्मिक पूर्वापेक्षाएँ**

1. प्रश्न: कुछ लोग हैं जो सत्कर्म करते हैं, जो सारी मानवजाति के शुभचिन्तक होते हैं, जिनका चरित्र प्रशंसनीय है, जो सभी जनों के प्रति प्रेम तथा सौजन्यता प्रदर्शित करते हैं, निर्धनों की देख-रेख करते हैं और विश्व शान्ति के लिए काम करते हैं। इन लोगों को दैवीय शिक्षा की क्या आवश्यकता है, जिसके सम्बन्ध में उनकी मान्यता होती है कि वे उस शिक्षा से पूर्णतया विलग रह सकते हैं? ऐसे लोगों की स्थिति कैसी होती है?

2. उत्तर: जान लो कि ऐसे आचरण, शब्द तथा कर्म स्तुत्य और मान्य होने चाहिए। वे मानव जगत की गौरव वृद्धि में सहायक होते हैं। लेकिन मात्र ये कार्य पर्याप्त नहीं हैं ये सर्वाधिक सौन्दर्य मण्डित शरीर की तरह है जिसमें चेतना नहीं है। यह नहीं, बल्कि जो चीज शाश्वत जीवन, शाश्वत सम्मान, सार्वभौम ज्ञानसम्पन्न और सच्ची सफलता तथा मुक्ति की दिशा में ले जाती है, वह प्रथम और प्रमुख, ईश्वर का ज्ञान है। यह स्पष्ट है कि यह ज्ञान दूसरे प्रत्येक ज्ञान से श्रेष्ठ है और मानव जगत का महानतम सद्गुण है। कारण कि, वस्तुओं की वास्तविकता की समझ अस्तित्व क्षेत्र में एक भौतिक लाभ प्रदान करके बहिरंग सभ्यता का उन्नयन ही करती है, किन्तु, ईश्वर का ज्ञान आध्यात्मिक प्रगति और मनोहरता का, वास्तविक दृष्टि एवं अन्तर्दृष्टि का, मानवता की उन्नति तथा दैवीय सभ्यता के आविर्भाव का, नैतिक गुणों के परिष्करण और अन्तःकरण के प्रकाशित होने का हेतु है।

3. दूसरा स्थान ईश्वर-प्रेम का है। इस प्रेम की ज्योति, ईश्वर के ज्ञान के जरिए हृदय रूपी दीपक में प्रज्‍वलित की जाती है और उसकी विस्तारित किरणें सारे जगत को प्रकाशित करती हैं और मनुष्य को दिव्य जगत का जीवन प्रदान करती हैं। और सत्य तो यह है कि मानव अस्तित्व का फल ही ईश-प्रेम है, वह जीवन की चेतना और चिरस्थायी अनुग्रह है। यदि ईश-प्रेम न हो तो यह सापेक्ष जगत अंधकार में डूब जाएगा। ईश्वर का प्रेम न हो तो मानव-हृदय जीवन रहित और अन्तःकरण की स्फुरणाओं से वंचित हो जाए। ईश्वर-प्रेम न हो तो मानव जगत की पूर्णताएँ पूरी तरह विलुप्त हो जाएँ। ईश-प्रेम न हो तो मानव हृदयों के बीच कोई वास्तविक जुड़ाव नहीं हो सकता। यदि ईश-प्रेम न हो तो आध्यात्मिक सम्मिलन समाप्त हो जाए। ईश-प्रेम न हो तो मानवजाति के एकत्व का प्रकाश बुझ जाए। ईश-प्रेम न हो तो पूर्व और पश्चिम दो प्रेमियों की भाँति आपस में गले न लगें। अगर ईश-प्रेम न हो तो कलह और विभाजन का साहचर्य में रूपान्तरण न हो। ईश-प्रेम न हो तो अलगाव एकता के आगे हार न माने। ईश-प्रेम न हो तो अजनबी मित्र न बनें। मानव जगत में प्रेम वस्तुतः ईश-प्रेम की एक किरण और इसके अनुग्रह की कृपादृष्टि का प्रतिबिम्बन है।

4. यह स्पष्ट है कि मानव वास्तविकताएँ एक दूसरे से भिन्न हैं। अभिमत और बोध वैविध्यपूर्ण हैं और विचारों, मतों, बोधों और भावनाओं का व्यक्तियों के बीच यह अन्तर अत्यधिक आवश्यक अपेक्षा है। कारण कि, सृष्टि में श्रेणी की भिन्नताएं अस्तित्व की एक अनिवार्य अपेक्षा है जो अगणित स्वरूपों में प्रकट होती है। अतः हमें एक सार्वभौम शक्ति की आवश्यकता है जो सभी के विचारों, मतों तथा भावनाओं पर नियंत्रण रख सके और जो इन विभाजनों को निरस्त कर सभी आत्माओं को मानवजाति के एकत्व के सिद्धान्त के प्रभाव के अन्तर्गत ला सके। और यह स्पष्ट तथा व्यक्त है कि मानव जगत में यह महानतम शक्ति ईश्वर का प्रेम ही है। यह प्रेम विविध जनों को एकत्व के मण्डप तले एकत्र करता है और परस्पर विरोधी और संघर्षरत जनसमुदायों एवं राष्ट्रों के बीच प्रेम तथा साहचर्य उत्पन्न करता है।

5. देखो कि कितने अधिक भिन्न-भिन्न प्रकार के राष्ट्र, जातियाँ, कबीलों तथा जनजातियों के लोग थे जो ईसामसीह के आगमन के बाद ईश-प्रेम की शक्ति से उसके-शब्द की छत्रछाया में एकत्र हुए, विचार करो कि एक हजार बरस के भेदभाव और विभाजन कैसे पूरी तरह समाप्त हो गए, कैसे राष्ट्र तथा जाति की श्रेष्ठता के मोह का मूलोच्छेदन हो गया, कैसे आत्माओं तथा भावनाओं की एकता उपलब्ध हुई, और कैसे सभी लोग सच्चे मन तथा उत्साह के साथ ईसाई बन गए।

6. मानवता का तीसरा सद्गुण है अच्छी नियत। यह गुण सभी उत्तम कार्यों की नींव है। कुछ सत्यान्वेषी नियत को कार्य से श्रेष्ठ मानते हैं, क्योंकि कोई उत्तम आश्य समग्र रूप से प्रकाश है जो दुर्भावना, षडयन्त्र-रचना तथा छल-छद्म की तिलभर मात्रा से भी पूर्णतया निर्मल एवं मुक्त होता है। बात यह है कि, कोई व्यक्ति ऐसा कार्य कर सकता है जो धार्मिक व नेक प्रतीत होता है, लेकिन वह वास्तव में स्वार्थ से प्रेरित हो सकता है। उदाहरण के लिए, कोई कसाई भेड़ को पालता और उसकी सुरक्षा करता है, लेकिन उस कसाई का यह सत्कर्म लाभ उठाने की आशा से प्रेरित होता है। इस तमाम देख-रेख का अंतिम परिणाम बेचारी भेड़ का वध होगा। ऐसे कितने ही नेक और धार्मिक कार्य होते हैं, जो वास्तव में स्वार्थभाव से ही प्रेरित होते हैं। लेकिन अकलुषित आश्य या शुद्ध नीयत ऐसे दोषों से मुक्त है।

7. संक्षेप में, ईश्वर का ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद ही सत्कर्म सम्पूर्ण और आदर्श बनते हैं: ईश्वरीय ज्ञान प्राप्ति के साथ यह भी आवश्यक है कि ईश-प्रेम भी व्यक्त हुआ हो और शुभ उद्देश्य तथा आध्यात्मिक आकर्षणों की उपलब्धि भी की गई हो। ऐसा न होने पर, सत्कर्म प्रशंसनीय होते हुए भी, यदि वे ईश्वर के ज्ञान से, ईश्वर के प्रेम से और सच्ची नीयत से नहीं उत्पन्न हुए हैं तो वे अधूरे ही रहते हैं। उदाहरण के लिए, मानव अस्तित्व को सम्पूर्ण बनाने के लिए उसमें सभी पूर्णताओं का समावेश होना आवश्यक है। दृष्टि शक्ति अत्यधिक महत्व एवं मूल्य की वस्तु है लेकिन उसे श्रवण शक्ति की सहायता मिलनी आवश्यक है। श्रवण शक्ति बहुत महत्वपूर्ण है, किन्तु वाक्शक्ति का सहयोग इसके लिए जरूरी होता है। वाक्शक्ति बहुत महत्वपूर्ण है, पर विचार शक्ति का सहयोग उसे अवश्य मिलना चाहिए। और मनुष्य की अन्य शक्तियों तथा अंगों-उपांगों के बारे में भी यही सत्य है। जब ये सारी शक्तियाँ, इन्द्रियाँ, अंग और अवयव आपस में मिल कर कार्य करते हैं, तभी पूर्णता के आदर्श की सिद्धि होती है।

8. आज हमें संसार में ऐसी आत्माएँ मिलती हैं जो सच्चे मन से सर्वजन की भलाई की कामना करती हैं, जो गरीबों की मदद करने और पीड़ितों को आवश्यकता के वक्त में सहायता देने के लिए अपनी शक्ति भर सब कुछ करती हैं, और जो विश्व शान्ति तथा कल्याण के प्रति समर्पित हैं। फिर भी, उस दृष्टि-बिन्दु से वे कितनी ही पूर्ण और आदर्श हों, किन्तु वे ईश्वर के ज्ञान तथा प्रेम से वंचित रहती हैं तो इसी कारण अपूर्ण और सदोष हैं।

9. शासन कला पर प्लेटो के एक लेख की समीक्षा करते हुए चिकित्साशास्त्री गेलेन ने लिखा है कि धार्मिक मान्यताओं का वास्तविक सभ्यता पर प्रगाढ़ प्रभाव पड़ता है। इसका प्रमाण यह है: अधिकांश व्यक्ति तर्कसंगत दलीलों के लम्बे सम्बन्धों को ग्रहण नहीं कर सकते और इसलिए उनके लिए परलोक के पारितोषिकों एवं शक्तियों का उद्घोष करते प्रतीकात्मक संकेतार्थो की आवश्यकता होती है। इसके प्रमाणस्वरूप हम आज देखते हैं कि ईसाई जनसमुदाय जो परलोक के पुरस्कारों तथा दण्डों में विश्वास करता है, वह ऐसे उत्तम कर्म करके दिखलाता है जो किसी सच्चे दार्शनिक के कर्मों जैसे ही होते हैं इस प्रकार हम सब साफ-साफ देखते हैं कि उनको मृत्यु का कोई भय नहीं होता। न्याय तथा समता के लिए अपनी उत्कट लालसा के प्रताप से उनको उसी प्रकार सम्मानित किया जाना चाहिए मानों वे सच्चे दार्शनिक हों।163

10. अब ज़रा सघनता से निरीक्षण कीजिए कि गेलेन के लिए ईसाई आस्थावानों की निष्कपटता, आत्मत्याग, आध्यात्मिक भावनाएँ, शुद्ध मनोभाव कितने महत्वपूर्ण रहे हैं। गेलेने दार्शनिक और चिकित्सक थे और स्वयं ईसाई नहीं थे। फिर भी उन्होंने इन लोगों के नैतिक गुणों एवं आदर्शों को प्रमाणित किया और उनको सच्चा दार्शनिक कहा। इस प्रकार के सद्गुण योग्यताएँ मात्र सत्कर्मों के माध्यम से उपलब्ध नहीं हो सकते। अगर सद्गुण का तात्पर्य केवल इतना ही हो कि कुछ अच्छा प्राप्त और प्रदत्त हो जाए, तो हम इस जलते दीपक की प्रशंसा क्यों न करें जो कमरे को प्रकाशित कर रहा है, क्योंकि उसका प्रकाश एक अच्छी वस्तु है? सूरज धरती की सभी चीजों का पालन-पोषण करके उनकी संवृद्धि और विकास अपनी ऊष्मा और प्रकाश के द्वारा करता है - इससे बढ़कर भली बात और क्या हो सकती है? तथापि, यह भलाई चूंकि उत्तम प्रेरणाओं से और ईश्वर के प्रेम तथा ज्ञान से प्रवाहमान नहीं होती है, अतः वह तनिक भी प्रभावित नहीं करती है। लेकिन जब कोई व्यक्ति किसी को एक गिलास पानी प्रस्तुत करता है, तो उसके प्रति आभार और सराहना प्रदर्शित किया जाता है। कोई विचारहीन व्यक्ति कह सकता है कि सूरज जो सारे संसार को प्रकाश देता है और इतना महान अनुग्रह प्रत्यक्ष रूप से करता है, उसकी तो प्रशंसा तथा गुणगान अवश्य ही किया जाना चाहिए। कारण कि, पानी जैसी साधारण भेंट के लिए हम किसी आदमी की प्रशंसा क्यों करें, और सूर्य को धन्यवाद अर्पित क्यों न करें? लेकिन यदि हम सत्य की दृष्टि से ध्यान पूर्वक देखें, तो हमें दिखाई देगा कि इस व्यक्ति द्वारा प्रदत्त साधारण सी देन अन्तःकरण की स्फुरणों से निकलती है और इसीलिए वह प्रशंसनीय है। लेकिन सूर्य के प्रकाश और ऊष्मा का कारण यह नहीं है और इसलिए वे हमारी प्रशंसा तथा आभार के पात्र नहीं हैं। इसी प्रकार, जो लोग सत्कर्म सम्पन्न करते हैं उनका गुणगान होना ही चाहिए। लेकिन उनके कर्म यदि ईश्वर के ज्ञान तथा प्रेम से प्रवाहित नहीं होते हैं तो निश्चय ही वे अपूर्ण और सदोष हैं।

11. इससे पृथक यदि आप इस विषय पर निष्पक्षता से विचार करें तो आप देखेंगे कि ईश्वर के प्रति अनास्थावान् जनों के ऐसे सत्कर्मों का मूल भी दैवीय शिक्षाओं में ही होता है। अर्थात् पूर्ववर्ती ईशदूतों ने लोगों को उनको सम्पन्न करने का उपदेश दिया था, उनके लाभ समझाए थे और उनके सकारात्मक प्रभावों का प्रतिपादन किया था। उस समय ये शिक्षाएँ मानवजाति के बीच फैलीं और क्रमशः अनास्थावान आत्माओं तक भी पहुँची और उनके हृदयों को इन पूर्णताओं एवं आदर्शों की ओर प्रवृत्त किया। जब उन्होंने इन कार्यों को प्रशंसनीय और मनुष्यों में उल्लास तथा आनन्द का संचार करने वाला पाया, तब वे भी उन्हीं के अनुसार चलने लगे। इस प्रकार ये कार्य भी दैवीय शिक्षाओं से प्रादुर्भूत होते हैं। लेकिन इसे देखने के लिए विरोध और वाद-विवाद की नहीं, बल्कि निष्पक्षता की कुछ भावना आवश्यक है।

12. स्तुति हो प्रभु की ! आप ने फारस का भ्रमण किया है। आप ने स्वयं स्नेहमयी सौजन्यता देखी है जिसे फारसवासी सम्पूर्ण मानवजाति के प्रति दर्शाने लगे हैं और इसका हेतु बहाउल्लाह के निर्मल-पावन समीरण है।। इसके पहले, किसी अन्य धर्म के अनुयायी से संयोगवश मिलने पर वे उसके प्रति कठोर हो उठते थे, घोर शत्रुता, घृणा और दुर्भावना दिखलाते थे और उसे अशुद्ध एवं अपवित्र तक मानते थे। वे गॉस्‍पल और तौरेत को आग के हवाले करके अपने हाथ धोते थे, मानो इन पुस्तकों को छूने से वे मैले हो गये हों। लेकिन अब अधिकांश वही लोग अवसर की आवश्यकता के अनुसार अपनी सभाओं तथा सम्मेलनों में इन दोनों ग्रंथों से पाठ और उसका अर्थ करते हैं और उनके अन्तरार्थों तथा रहस्यों का प्रतिपादन करते हुए उन पर प्रकाश डालते हैं। अपने वैरियों के प्रति वे सज्जनता दर्शाते हैं और खूँखार भेड़ियों के साथ होती सौम्यता का बर्ताव करते हैं जैसा वे ईश-प्रेम के हरे-भरे मैदानों में सुन्दर बारहसिंहों के साथ करते। उनका आचरण और चरित्र आप ने देखा है और फारसवासियों के पूर्वकालीन नैतिक गुणों के बारे में भी सुन रखा है। नैतिक गुणों का यह रूपान्तरण और वाणी तथा व्यवहार का यह परिष्करण क्या ईश-प्रेम के साधन के अतिरिक्त भी किसी तरह सम्भव हो सकता है। नहीं, ईश्वर की सौगन्ध! यदि हम सहज ज्ञान और विद्या का आश्रय लेकर इन नैतिक सिद्धान्तों और तौर-तरीकों का प्रसार करें, तो एक हजार वर्ष तक प्रयास करते रहने पर भी जनसमूहों के बीच कोई कार्यसिद्धि उपलब्ध नहीं होगी।

13. इस अवसर पर, ईश्वर-प्रेम को धन्यवाद बड़ी ही सुगमता के साथ इस ईश-प्रेम की उपलब्धि की गई है। अतः हे बुद्धिमानी जनों, इससे सीख लो !

**टिप्‍पणियां**

**प्राक्‍कथन**

उदाहरण के लिए देखें, ‘सलैक्शन्सन फ्राम द राइटिंग्ज ऑफ अब्दुल बहा, 30.2 ; ‘द प्रोमल्गेशन ऑफ यूनीवर्सल पीस: टाक्स डिलीवर्ड बाइ अब्दुल बहा ड्यूरिंग हिज विजिट्स टु द यूनाइटेड स्टेट्स एण्ड कनाडा इन 1912अनुवाद

1. उदाहरण के लिए देखें, ‘सलैक्शन्सन फ्राम द राइटिंग्ज ऑफ अब्दुल बहा, 30.2; ‘द प्रोमल्गेशन ऑफ यूनीवर्सल पीस: टाक्स डिलीवर्ड बाइ अब्दुल बहा ड्यूरिंग हिज विजिट्स टु द यूनाइटेड स्टेट्स एण्ड कनाडा इन 1912, अनुवाद - हावर्ड मैकनट (विलमेट, द्वितीय, बहाई पब्लिशिंग ट्रस्ट, 2012, पष्. 427; पेरिस टाक्स: एड्रेसेज़ गिवेन बाइ अब्दुल बहा इन 1911, 2.1 और 28.6

2. अध्याय 46, अनुच्छेद 7

3. शोग़ी एफ़ैन्दी, गाड पासेज बाइ, (विलमेट, द्वितीय बहाई पब्लिशिंग ट्रस्ट, 1974-2012 का प्रकाशन), पृ. 410

4. आस्ट्रेलिया के बहाइयों को शोग़ी एफ़ेंदी द्वारा लिखे गए एक पत्र दि. 13 मार्च 1923 से।

5. शोग़ी एफ़ैन्दी की ओर से एक अनुयायी को लिखे गए पत्र दि. 14 नवम्बर 1940 से।

**भाग-1**

**मानवजाति के विकासक्रम पर ईशदूतों का प्रभाव**

1. जेनेसिस 1:26

2. जॉन 6:42

3. जुरजी जैदान, ‘उमय्यदस और अब्बासिदस’: जुरजी जैदान के इस्लामी संस्कृति के इतिहास का चौथा भाग, अनुवाद: डी.एस.मार्गोलियूथ (लंदन: डार्फ पब्लिशर्स, 1987), पृ. 125-31

4. उमर

5. कोपरेनियूस

6. कुरआन 36:38

7. कुरआन 36:40

8. गैलीलियो

9. अब्दुल बहा द्वारा बाब का सन्दर्भ उनकी उपाधि ‘हज़रत-ए-आला’ अर्थात हुजूर परमोदात्त से देते हैं, लेकिन यहाँ उनके उस नाम का उल्लेख किया जाएगा जिससे वह पश्चिम में प्रसिद्ध हैं।

10. यहाँ अब्दुल बहा बहाउल्लाह का सन्दर्भ उनकी उपाधि ‘जमाल-ए-मुबारक’ (मंगलमय सौन्दर्य) कहकर देते हैं। बहाउल्लाह को ‘जमाल-ए-क़ेदम’ (पुरातन सौन्दर्य) और ‘कलम-ए-आला’ (परमोच्च की लेखनी) भी कहा जाता है। लेकिन पुस्तक में उनको सर्वत्र बहाउल्लाह ही कहा जाएगा क्‍योंकि पश्चिम में वह इसी नाम से सुविज्ञात हैं।

11. पहले बहाउल्लाह का निर्वासन तेहरान से बगदाद के लिए, फिर कान्स्टैन्टीनोपल (इस्ताम्बुल) के लिए हुआ। और इसके बाद एड्रियानोपल (एडरनी) 1868 में वह अक्का के ‘परम महान कारागार’ में कैद किए गये। तद्नन्तर उसी परिक्षेत्र में 1892 में उनका देहावसान हुआ।

12. इराक के दो नगर जिनमें शिया सम्प्रदाय के प्रथम एवं तृतीय इमामों के मकबरे हैं जो तीर्थयात्रा के महत्वपूर्ण केन्द्र हैं।

13. एड्रियानोपल में प्रकटित बहाउल्लाह की नेपोलियन तृतीय को प्रथम पाती (देखों ‘एपीस्ल टु द सन ऑफ द वुल्फ’, अनुवाद: शोग़ी एफ़ैन्दी (विलमेट, बहाई पब्लिशिंग ट्रस्ट, 1998, 2001 प्रकाशन, पृ. 45), जिसे बहाउल्लाह ने “सुदूरवर्ती कारागार” कहा था।

14. मिलान करें: सूरा-ए-हैकल (मंदिर की सूरा), अनुच्छेद 138

15. सीरिया में फ्रांसीसी वाणिज्यदूत का पुत्र जो नबील-ए-आजम के अनुसार बहाउल्लाह का अनुयायी था। देखें, एच.एम. बाल्यूजी, ‘बहाउल्लाह: द किंग आफ ग्लोरी’ (आक्सफोर्ड: जार्ज रोनाल्ड, 1980), पृ. 320

16. मिलान करें, सूरा-ए-हैकल, अनुच्छेद 221

17. “या बहाउल-अब्हा”, (उस सर्वमहिम या परम महिमामय) ईश्वर के महानतम नाम का आह्वान।

18. बहाउल्लाह

19. मिलान करें, किताब-ए-ईकान (सम्पूर्ण आस्था की पुस्तक), अनुच्छेद 213

20. देखें, इसी पुस्तक में, अध्याय 8-9

21. देखें, डेनियल: 9:24

22. तुलना करें, नम्बर्स; 14:34, इजकील 4:6

23. अर्थात्, मुहम्मद की पत्नी और उनका भतीजा वर्क़ा-इब्न-ए-नौफल

24. मुहम्मद ने अपना सार्वजनिक ईशदूत कार्य हिजरा से दस वर्ष पहले आरम्भ कर दिया था, अतः यह तिथि हि. वर्ष 1280 या ईसाई वर्ष 1863 से मेल खाती है।

25. रिवीलेशन, 11:3

26. कुरआन, 48:8

27. रिवीलेशन, 11:4

28. रिवीलेशन, 11:5

29. रिवीलेशन, 11:6

30 रिवीलेशन, 11:6

31. रिवीलेशन, 11:6

32. रिवीलेशन, 11:7

33. रिवीलेशन, 11:7

34. मिलान करें रिवीलेशन, 11:7

35. रिवीलेशन, 11:8

36. रिवीलेशन, 11:9

37. रिवीलेशन, 11:10

38. रिवीलेशन, 11:11

39. रिवीलेशन, 11:12

40. बाब और कुद्दूस

41. रिवीलेशन, 11:12

42. रिवीलेशन, 11:13

43. रिवीलेशन, 11:13

44. रिवीलेशन, 11:14

45. इजकील, 30:1-3

46. रिवीलेशन, 11:15

47. रिवीलेशन, 11:16-17

48. चार तथा बीस अग्रजों के सम्बन्ध में: मास्टर ने एक पाती में कहा है कि ये अग्रज हैं बाब, अठारह जीविताक्षर और पांच अन्य जो भविष्य में ज्ञात होंगे।” (शोग़ी एफ़ैन्दी की ओर से एक अनुयायी को लिखे गए पत्र दि. 22 जुलाई 1943 से)। एक पाती में अब्दुल बहा ने शेष पांच में एक की पहचान हाज़ी मिर्जा मुहम्मद-तकी अफनान, वकीलुद्दौला के रूप में दी।

49. रिवीलेशन, 11:18

50. रिवीलेशन, 11:18

51. रिवीलेशन, 11:18

52. रिवीलेशन, 11:18

53. रिवीलेशन, 11:19

54. रिवीलेशन, 11:19

55. रिवीलेशन, 11:19

56. रिवीलेशन, 11:19

57. इस बिन्दु पर अनुच्छेद का अनुवाद शोग़ी एफ़ैन्दी के इस लेखांश के संशोधन का अनुवर्ती है जैसाकि वह ‘द वल्र्ड आर्डर ऑफ बहाउल्लाह: सलैक्टेड लैटर्स’ में उद्धृत है (विलमेट, बहाई पब्लिशिंग ट्रस्ट, 1991,2012 प्रकाशन), पृ. 204-5 और ‘द प्रामिज्ड डे इज कम’, अनुच्छेद 297। ध्यान दें कि ‘नहाल’ शब्द जो अंग्रेजी में ‘रॉड’ (दण्ड या डण्डा) के सदृश है और अनुच्छेद 1-2 में इसी अर्थ में अनुवादित है, इस अनुच्छेद में ‘शाखा’ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। दोनों स्थानों पर बहाउल्लाह का सन्दर्भ है।

58. रिवीलेशन 21:1-3

59. रिवीलेशन 21:2

60. रिवीलेशन 12:2

61. रिवीलेशन 12:3-4

62. रिवीलेशन 12:4

63. रिवीलेशन 12:5

64. रिवीलेशन 12:5

65. रिवीलेशन 12:6

66. रिवीलेशन 12.6

67. रिवीलेशन 12.6

68. यहाँ “परमानन्द” अर्थ में अनुवादित शब्द ‘सआदत’ के अन्य अर्थ हैं सम्पन्नता, खुशी, और कुशलता।

**भाग 2**

**कुछ ईसाई विषय**

69. तुलना करें, मैथ्यू 3:16-17, मार्क (मरकुस) 1:10-11, लूका 3:22

70. तुलना करें, एक्सोडस 13:21-2

71. तुलना करें, जॉन 10:38

72. नसिरूद्दीन शाह को बहाउल्लाह की पाती से, सूरा-ए-हैकल में, अनुच्छेद 192

73. कुरआन 19:17, मिलान करें लूका 1:26-8

74. कुरआन 36:36

75. तुलना करें, कुरआन 13:3

76. जॉन 1:12-13

77. जेनेसिस 2:7

78. तुलना करें, मैथ्यू 3:11, मार्क 1:8, लूका 3:16, जॉन 1:33

79. तुलना करें, एक्ट्स 15:20

80. अब्दुल बहा यहाँ उष्णता तथा शीत से सम्बन्धित मतों का उल्लेख करते हैं जिनकी परम्परागत इस्लामी चिकित्साशास्त्र में महत्वपूर्ण भूमिका थी।

81. जॉन, 6:51

82. मैथ्यू, 26:26

83. मैथ्यू, 8:22, जॉन 3:6

84 तुलना करें - मैथ्यू, 13:14-15, जॉन 12:39-40

85. तुलना करें - मैथ्यू, 24:29-30

86. देखें किताब-ए-ईकान, अनुच्छेद 27-42 और 66-87

87. तुलना करें, जॉन 3:13

88. मसीख (भीमकाय प्राणी), मसीह का अपभ्रंश।

89. तुलना करें, 1 थिस्सलुनीकिया 5:2, 2 पीटर 3:10

90. जॉन 17:5

91. तुलना करें, जॉन 6:50-1

92. तुलना करें, जेनेसिस 2:16-17

93. तुलना करें, जेनेसिस 3:5

94. तुलना करें, जनेसिस 3:11-15, 22

95. बहाउल्लाह

96. तुलना करें, जॉन 6:51

97. जैसे, यहूदी और ईसाई

98. मैथ्यू, 8:22

99. मैथ्यू, 12:31-2

100. मैथ्यू, 22:14

101. कुरआन, 2:105 और 3:74

102. मैथ्यू, 22:14

103. देखें उदाहरण के लिए, किताब-ए-ईकान, अनुच्छेद 156-79

104. जॉन 1:19-21

105. अर्थात्, जॉन की व्यक्तिमत्ता

106. तुलना करें मैथ्यू 23:34-6

107. मैथ्यू, 16:18

108. पीटर को प्रदत्त नाम साइमन था लेकिन ईसा ने उनको ‘सेफास’ कहा जो यूनानी शब्दों ‘पेट्रोस’ या ‘पेट्रा’ अर्थात् ‘चट्टान’ के सदृश है।

109. तुलना करें, मैथ्यू, 16:14-18

**भाग 3**

**ईश्वरावतारों की शक्तियाँ एवं दशाएँ**

110. अब्दुल बहा के वर्गीकरण में अन्यत्र खनिज चेतना भी सम्मिलित है, उदाहरण के लिए, अध्याय 64। ‘सलेक्शन्स फ्रॉम दि राइटिंग्ज ऑफ अब्दुल बहा’, अनुभाग 30, और ‘दि प्रोमल्गेशन ऑफ यूनीवर्सल पीस: टॉक्स डिलीवर्ड बाइ अब्दुल बहा ड्यूरिंग हिज विजिट्स टु दि यूनाइटेड स्टेट्स एण्ड कनाडा इन 1912’, अनुवाद: हावर्ड मैकनट (विलमेट, द्वितीय बहाई पब्लिशिंग ट्रस्ट, 2012), पृ. 95, 264-5, 336, 360, और 377-8।

111. इमाम अली कथित एक पारम्परिक कथन से।

112. कुरआन 6:103

113. इमाम अली कथित एक पारम्परिक कथन से।

114. कुरआन 59:2

115. तुलना करें, जॉन 14:11 और 17:21

116. अब्दुल बहा यहाँ बहाउल्लाह की धर्मप्रकाशना से सम्बन्धित एक प्रश्न की प्रत्याशा करते हैं जो अध्याय 16 तथा 39 में विस्तार से लिया गया है।

117. तुलना करें, ‘बहाउल्लाह के पावन लेखों से चयन से, 41 और सूरा-ए-हैकल, अनुच्छेद 192

118. जॉन 1:1

119. मैथ्यू 6:9, लूका 11:2

120. देखें, उदाहरण के लिए, अध्याय 14

121. जॉन 1:1

122. मिलान करें, ‘एक्सोडस’, 20:4-5 ड्यूटरोनॉमी, 5:8-9

123. तुलना करें, ‘नम्बर्स’: 13-14

124. कुरआन 48:1-2

125. मैथ्यू, 19:16-17

126. किताब-ए-अक़दस (परम पावन पुस्तक), अनुच्छेद. 47

**भाग 4**

**मनुष्य का उद्गम, शक्तियाँ तथा दशाएँ**

127. यहाँ और अगले अध्यायों में ‘नव’ शब्द का अनुवाद ‘प्रजाति’ किया गया है जिसके प्रकार, किस्म, वर्ग सहित अनेक अर्थ होते हैं। इस शब्द का प्रयोग अब्दुल बहा आधुनिक जैविकीय अर्थ में नहीं, बल्कि परिवर्तनरहित आदि स्वरूपों में कर रहे हैं।

128. एक पाती में बहाउल्लाह इन शब्दों को हरमीज़ का बताते हैं।

129. देखें, उदाहरण के लिए, अध्याय 2 और 80

130. कुरआन 23:14 और फारसी निगूढ़ वचन सं. 9

131. जेनेसिस 1:26

132. जैसाकि अगले अध्याय में देखेंगे, अब्दुल बहा ‘निस्सरण द्वारा प्रकटन’ और ‘निस्सरण द्वारा प्रसरण’ शब्दों का प्रयोग आपस में अदल-बदल कर करते हैं।

133. देखें, अध्याय 80

134. तुलना करें, जेनेसिस 2:7

135. जॉन 1:1

136. जॉन 1:1

137. देखें, उदाहरण के लिए, जॉन 14:10-11 और 17:21

138. देखें, अध्याय 36

139. देखें, जेनेसिस 9:22-7

140. अर्थात् वे लोग अपने चरित्र के लिए जिम्मेदार नहीं ठहराए जा सकते।

141. तुलना करें, बहाउल्लाह के पावन लेखों से चयन 41 और सूरा-ए-हैकल, अनुच्छेद.192

142. तुलना करें, रिवीलेशन 22:13

143. देखें अध्याय 48

144. तुलना करें, जॉन 3:5

145. तुलना करें, जॉन 1:13

146. कुरआन, 23:14

147. यहाँ अब्दुल बहा लौरा क्लिफोर्ड बार्ने को सीधे सम्बोधित कर रहे हैं जिनके पिता की मृत्य 1902 में हो गई थी।

148. मिर्जा याह्या, बहाउल्लाह का सौतेला भाई और उनका दुर्दमनीय शत्रु।

149. “ईश्वर द्वारा अपने सेवकों के लिए निर्धारित प्रथम कर्त्‍तव्‍य यह है कि वे उसे पहचानें जो उसके प्राकट्य का उद्गम स्थल और उसके विधानों का स्रोत है जो उसके धर्म के साम्राज्य और इस सृजन के संसार दोनों में ही ईश्वर का प्रतिनिधित्व करता है। जिस किसी ने इस कर्त्‍तव्‍य का निर्वाह किया है, उसने सभी अच्छाइयों को पा लिया है और जो इस कर्त्‍तव्‍य से वंचित रह गया वह भटका हुआ है, चाहे वह सभी सद्कार्यों का प्रणेता ही क्यों न हो।” (किताब-ए-अक़दस, अनुच्छेद 1)

150. इस विषय की पूरी चर्चा के लिए देखें, अध्याय 84

151. रोमियो 9:21

152. देखें अध्याय 32, 62 और 63

**भाग 5**

**मिश्रित विषय**

153. तुलना करें, मैथ्यू, 5:39

154. भोजन की मेज पर बहाई बैठक

155. मैथ्यू, 8:22

156. मिलान करें, अरस्तू, ‘फिजिक्स 194 बी 16-195 ए आई

157. ज़क्कूम वृक्ष, कुरआन में उल्लिखित 17:60, 37:62-6, 44: 43-6, और 56:52-3

158. तुलना करें, कुरआन 37:180

159. कुरआन, 59:2

160. इस विषय की अधिक चर्चा के लिए देखें, अध्याय 33

161. जैसा कि अब्दुल बहा समझाते हैं यह विचार प्राचीन मूलोद्गम का है। इस्लामी विचारधारा में इसका इतिहास इब्नुल अरबी (1165-1240) के साथ आरम्भ होता है। “इब्नुल-अरबी कट्टर अद्वैतवादी हैं और उनके सिद्धान्त को दिया गया नाम (वहद्तुल-वजूद अर्थात अस्तित्व की एकता) उसको ठीक-ठीक सूचित करता है। वह मानते हैं कि सभी वस्तुएँ ईश्वर के ज्ञान में विचारों के रूप में पहले से विद्यमान होती है। और वहीं से वे निकलती तथा वहीं अन्ततः वापस चली जाती है।” आर. ए. निकोलसन, ‘मिस्टीसिज्म’, ‘द लीगेसी ऑफ इस्लाम’, सर थॉमस आर्नोल्ड और अल्फ्रेड गेलूम (आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, 1931) पृष्‍ठ.224

162. तुलना करें, एन्नीड 5.2.1: “वह एक सब कुछ है, उनमें से मात्र एक भी नहीं...।” (आर्म्‍सट्रांग का अनुवाद)। तुलना करें प्लोटीनस प्लेटो, ‘परमैनीड्स’ 160 बी2-3: “इस प्रकार, अगर कोई ‘एक’ है, तो वही एक स्वयं अपने और दूसरों के सन्दर्भ में समान रूप से, सब कुछ और कुछ भी नहीं दोनों है।” (कॉनफोर्ड का अनुवाद)। इस्लामी दर्शनिकों के पारम्परिक कथन में प्लोटीनस के कुछ लेख अरस्तू के लेख माने जाते हैं।

163. इब्न अबी उसेबी, ‘ओमूनुल-अम्बा फ़ी तबक़ातिल अतिब्बा’ (कैरो, 1882),  
1:76-7

**संदर्भ**

**कुछ प्रश्न: अब्दुल बहा द्वारा दिये गये उत्तर के संदर्भ विभिन्न चैप्टर और पैराग्राफ नम्बर के अनुसार दिये गये है, प्रस्तावना और लेखक की भूमिका रोमन नम्बर में दी गई पृष्ठ-संख्या के अनुसार है।**

आरून, (हारून) को ईश्वर की भर्त्‍सना, 44:4, 44:8-10  
अब्दुल बहा, xi-xii, xiii, xiv-xv, xvi, xix,xx

आबेल, (हाबील) 64:4

इब्राहीम 4, 30:10, 18:2

- की संतति, 4:4, 57:6

- शिक्षक के रूप में, 4:4, 4:6

- पवित्र भूमि में निर्वासन, 4:2-5

- अवतार होने के प्रमाण 4:1

- का धर्म, 11:7, 43:5

- का चिह्न, 14:13

अबू सुफयान, 13:6

आदम, 11:7

- से आरम्भ चक्र, 41:5

- की संतति, 30:8, 30-11

- माता-पिता का अभाव, 18:2-5

- से विरासत में प्राप्त मनुष्य की भौतिक प्रकृति, 29:2, 29:4, 29:7-8

- का पाप, 29:9, 30

एड्रियानोपल, 4:5, 9:4,टि 11, 9:5, 9:13, 9:10-टि.13

अफनान, हाजी मिर्जा मुहम्मद-तकी, वकीलुद्दौला, 11:36 टि.48

अफ्रीका, की आदिम जातियों में नरभक्षण, 3:3, 29:5, 77:13

अक्का, 4:5, 9:4, 9:5, 9:13-16, 10:2, 48:6-7

अली, इमाम, 11:12-23, 11:26-30, 37:2 टि.111, 37:8 टि.113: इमाम भी देखें

अल्फा और ओमेगा (जॉन की धर्मप्रकाशना), 58:5, 80:7

हेर-फेर, देखें, परिवर्तन/ (नों )

मित्रता, देखें साहचर्य, एकता

राजक्षमा, देखें क्षमा

पुरातन सौन्दर्य, देखें, बहाउल्लाह

देवदूत, 11:1, 11:3, 11:35

क्रोध, 11:45, 57:10

पशु जगत, 15:3-6, 32:2, 46:6, 49:3, 73:6, 78:3, 82:17

- प्रकृति बन्दी स्वरूप, 48:9-10

- में श्रेणियाँ तथा स्थान, 32:6, 62:1  
- से भिन्न मनुष्य, xiv-xv, 3:3-4, 3:6, 29:5-6, 47:10-11, 48, 49:4, 55:5

- अस्तित्व में, 17:4, 49:3, 57:4, 82:11

- समझदारी की अयोग्यता, 59:6

- प्रशिक्षण की आवश्यकता, 3:1, 3:3, 57:8

- की पूर्णताएँ, 64:1, 70:5

- की इन्द्रियाँ, 48:2, 48:4, 48:5-7, 55:4, 58:2

- की चेतना, 36:2, 36:3, 48:11, 55:2, 55:4

मानवीयकरण वादी, 37:5

एण्टिओक में पीटर का मकबरा, 34:4

ईश्वर का प्रेरित, देखें, मुहम्मद

ईसा प्रेरित, 10:3, 11:36, 18:3-4, 23:6, 45:10, 60:3, देखें जॉन (प्रेरित) भी, जौन की कल्पनाएँ। पीटर (प्रेरित)

पर पवित्र चेतना का अवतरण, 24, 25:2-3

निस्सरण

द्वारा प्रकटन, 53:3, 53:5, 54:2, 54:4, 82:16-18

साकार प्रकटन, 53:3-4, 54:2-3, 54:5-7, 82:16-17

अरब जनजातियाँ, मुहम्मद की शिक्षा, 7:3-8, 7:11, 7:13-16, 11:14, 11:18-19, 13:11-12

अरब का प्रायद्वीप, 7:11, 7:16, 11:14, 13:10-12

आरोहण चाप, 81:6, 81:9

अवरोहण चाप, 81:6, 81:9

तर्क, ‘प्रमाण’ भी देखें

- बुद्धिसंगत प्रमाण, 3:2, 3:17-18, 10:41.3, 50:1, 50:6, 60:7, 61:4, 83:3-5, 83:7

- पारम्परिक प्रमाण, 3:17, 10, 83:6

अरस्तू, 5:5, 82:2

ईश्वर की वसीयत की नौका, 11:44

आरटैक्सरक्सेज की भविष्यवाणियाँ, 10:11, 10:12, 10:16

कलाएँ, 3:4, 3:6, 7:16, 48:4, 58:3 शिल्प भी देखें।

एशिया, 4:4, 20:5

दैवीय सहायता, 70:6-8

असीरियाई साम्राज्य, 6:2

ज्योतिषी, 69:3

खगोल और खगोल विज्ञान, 7:14, 14:12-13, 35:6, 83:3, सौर-प्रणाली भी देखें।

परमाणु, 1:2, 47:6, 50:2

प्रायश्चित, 29

प्रवृत्तियाँ, 33:6-9

-दैवीय, 11:7, 11:35, 81:12

- मानवीय, 16.:3, 74:2

- ज्ञान की, 45:2, 59:3-4

- प्रकृति की, 19:6

शरद ऋतु, 14: 9

बाब, 8

- का आगमन, 10:15-17, 10:20, 11:6, 13:12-13, 43:5

- के अनुयायी के रूप में बहाउल्लाह, 9:3

- इब्राहीम की वंश परम्परा में, 4:4, 57:6

- का धर्म विधान, 11:7, 11:28-34

- की शहादत, 11:32-3

- अवतार पद के प्रमाण, 8:3

- से सम्बन्धित भविष्यवाणियाँ, 11:6, 11:28, 11:34, 13:5-13

- की उपाधियाँ, 8:1 टि. 9, 13:5

बाबियों का उत्पीड़न, 9:3

बगदाद में बहाउल्लाह का निर्वासन, 4:5, 9:4 टि 11, 9:5-6  
बहाई धर्म, xi-xix-xx, 9:13, 9:15, 10:2, 11:7

बहाउल्लाह, 9

- का आगमन, 10:15, 10:18-22, 12:6, 43:5

- बाब की उद्घोषणा, 8:2

- के प्रियजन, 11:36-7

- की संविदा 11:44-5

- इब्राहीम की वंश परम्परा में, 57:6

- का धर्मविधान, 11:35, 11:42, 12:4-8, 19:8

- का निष्कासन, 4:5, 9:4-6, 9:13-16, 10:2

- बाब के अनुयायी के रूप में, 9:3

- की महानता, 9:13, 9:20, 9:21, 10:1, 37:13

- का कारावास, 4:5, 9:4, 9:13-16, 10:2

- से अग्रसारित ज्ञान 9:5-6, 9:11

- के नियम, 12:4

- की परम महान भ्रमातीतता, 45

- का स्वर्गारोहण, 9:4 टि. 11

- द्वारा स्थापित शान्ति, 12:4, 12:7

- और चमत्कार सम्पादन, 9:6-9, 9:19, 9:22, 10:3-5

- का उत्पीड़न, 9:4, 9:12-16, 9:23

- अवतार होने के प्रमाण, 9:5-10, 9:17-18, 9:22, 10

- से सम्बन्धित भविष्यवाणियाँ, 9:15, 10, 11:34-45, 12

- द्वारा ला गया पुनर्नवीकरा, 36:9

- की धर्मप्रकाशना, 10:22, 11:34-45, 16:8, 37:11, 38:8 टि. 116

- जेसी का दण्ड उनके लिए लागू होता है, 12:1-2, 12:7

- की उपाधियाँ, 9:1 टि 10, 9:25 टि 17

- द्वारा फारसवासियों का रूपान्तरण, 84:12

- द्वारा स्थापित एकता, 12:6

- सार्वभौम अवतार के रूप में, 30:7, 41:5

- के लेख, संविदा की पुस्तक, 11:44-5, राजाओं एवं शासकों को पत्र, 9:16-18, 9:22, 16:8, 39:6, 58.5 निगूढ़ वचन, 47:9

किताब-ए-अक़दस (परम पवित्र पुस्तक), 12:4, 45:1, 65

किताब-ए-ईक़ान (निश्चय की पुस्तक), 26:1, 26:6, 33:2, 33:10, 81:15

सूरा-ए-हैकल (मंदिर की सूरा) 9:16-18, 9:22, 16:8, 39:6, 58:5

तुला (तराजू), 60:7, 83:6

बपतिस्मा, 19, 20, 58:5

बर्बरा संत, 34:8  
बार्ने, लौरा किल फोर्ड, xi-xii, xv-xvi,xix-xx. 62:6 टि 14: 7

बेस्ट (जॉन की धर्मप्रकाशना)- 11:20-1

प्राणी, देखें ‘सार’, अस्तित्व

आस्था, देखें विश्वास और निष्ठा

बाइबिल, गॉस्‍पल व तौरेत भी देखें

- में प्रत्यागमन की अवधारणा, 81:13-14

- में दिन का अर्थ है वर्ष, 10:12, 10:20, 11:5, 11:23, 13:12

- से अनुवाक्य -

एक्ट्स, 15:20, 20:2

डेनियल, 8, 10:17

डेनियल 8:13, 10:16

डेनियल 9:25, 10:13-4

डेनियल, 12:6, 10:19

डेनियल, 12:11-12, 10:21

ड्यूटरोनॉमी, 3:26, 44:9

ड्यूटरोनॉमी, 5:8-9, 43:9

एक्सइस (निर्गमन) 13:21-22, 16:6

एक्सइस 20:4-5, 43:9

इजकील, 4:6, 10:12, 11:5

इजकील, 30:1-3, 11:34

इसरा (एज्रा) 1:10.11

इसरा (एज्रा), 6:10.11

इसरा (एज्रा) 7-10.11

कुरिन्थन्स, 15:22, 29:1, 29:4

थिस्सलुनीकिगंस, 5:2, 26:5

जेनेसिस, 1:26, 3:7, 3:11, 49:8

जेनेसिस, 2:7, 18:4, 54:1

जेनेसिस, 2:16-17, 30:2

जेनेसिस, 3:5, 30:2

जेनेसिस, 3:11-15, 22, 30:2

इसाइया,11:12

इसाइया 11:1-9, 12:1

इसाइया 43:1, 44:7

इसाइया 48:12, 44:7

जॉन, 1:1, 39:7, 42:3, 54:5

जॉन, 1-12-13, 18:3, 18:4

जॉन, 1:13, 60:3

जॉन, 1:19-21, 33:3

जॉन, 1:33, 19:5

जॉन, 3:5, 60:2

जॉन, 3:6, 22:6

जॉन, 3:13, 23:3, 26:2

जॉन, 6:26, 21:3

जॉन, 6:33, 21:3

जॉन, 6:35, 21:5

जॉन, 6:38, 23:3

जॉन, 6:42, 6:1, 21:3, 23:3

जॉन, 6:50, 29:12

जॉन, 6:51, 21:1, 30:9

जॉन, 6:63, 21:4

जॉन, 10:38, 16:7

जॉन, 12:39-40, 22:7

जॉन, 14:10-11, 54:7

जॉन, 14:11, 38:8

जॉन, 16:12, 25:7-8

जॉन, 17:5, 28:1

जॉन, 17:21, 38:8, 54:7

लूका, 1:26-8, 17:3

लूका, 3:16, 19:5

लूका, 3:22, 16:6

लूका, 11:2, 39:7

मार्क, (मरकुस) 1:8, 19:5

मार्क, 1:10-11, 16:6

मार्क, 9:11, 33:4

मैथ्यू (मत्ती) 3:11, 19:5

मैथ्यू, 3:13-15, 19:1

मैथ्यू, 3:16-17, 16:6

मैथ्यू, 5:39, 77:7

मैथ्यू, 6:9, 39:7

मैथ्यु, 8:22, 22:6, 30:12, 79:4

मैथ्यू, 12:31-2, 31:1

मैथ्यू, 13:14-15, 22:7

मैथ्यू, 16:18, 34:1

मैथ्यू, 17:13, 33:4

मैथ्यू, 19:16-17, 44:12

मैथ्यू, 22:14, 32

मैथ्यू, 23:34-6, 33:7

मैथ्यू, 24:3, 10:17

मैथ्यू, 24:29-30, 26:1

मैथ्यू, 26:26, 21:9

नेहम्याह, 2, 10:11

नम्बर्स (गिनती), 13-14, 44.4

नम्बर्स, 14:34, 10:12

नम्बर्स, 20-13, 44.8

नम्बर्स, 20:23-4, 44:8

रेवीलेशन, 11:11

रेवीलेशन, 11:1-2, 11:1-3

रेवीलेशन, 11:3, 11.12

रेवीलेशन, 11:4, 11:13

रेवीलेशन, 11:5, 11:15

रेवीलेशन, 11:6, 11:16, 11:17, 11:18

रेवीलेशन, 11:7, 11:19, 11:20, 11:21

रेवीलेशन, 11:8, 11:22

रेवीलेशन, 11:9, 11:23

रेवीलेशन, 11:10, 11:26

रेवीलेशन, 11:11, 11:28

रेवीलेशन, 11:12, 11:30, 11:31

रेवीलेशन, 11:13, 11:32, 11:33

रेवीलेशन, 11:14, 11:34

रेवीलेशन, 11:15, 11:35

रेवीलेशन, 11:16-17, 11:36

रेवीलेशन, 11:18, 11:38-41

रेवीलेशन, 11:19, 11:42-5

रेवीलेशन, 12:13

रेवीलेशन, 12:3-4, 13:6

रेवीलेशन, 12:4, 13:7

रेवीलेशन, 12:5, 13:8-9

रेवीलेशन, 12:6, 13:10-12

रेवीलेशन, 21, 13:1-4

रेवीलेशन, 22:13, 58:5

रोमियो, 9:21, 70:5

रोमियो, 14.14, 20:2

2 पीटर (पतरस), 3.10, 26:5

तीतुस, 1:15, 20:2

तीतुस में उल्लिखित संकल्पनाएँ, 71:9

ईश-निंदा, 31

मंगलमय सौन्दर्य, देखें, बहाउल्लाह

अंधापन, 3:8, 31:4, 50:3, 74:4

रक्त, 11:17, 20:2, 21:2, 30:9

मानव शरीर, 29:5, 36:3, 67:3 और भी देखें

मानव जगत, मानव मस्तिष्क, मानव चेतना, मानव सौन्दर्य और पूर्णता में, 32:4, 46:2-3, 46:6-7, 47:9-11

मानव शरीर का उपचार, 72:4, 73:3-5

निद्रावस्था में मानव शरीर, 2:5, 16:8, 61:2-3, 71:8

चेतना का मानव शरीर से सम्बन्ध, 39:6, 52, 61:4-6, 66, 67:5, 80:4, 81:11

मानव शरीर को घेरे देश-काल, 61:1-2,

राष्ट्र, सजा के लिए उत्तरदायित्व, 76:6, 77:2-6, 77:10-11, 77:14

पुस्तक (कों), देखें बाइबिल, धर्मग्रन्थ।

पुस्तक के लोग, देखें ईसाई धर्म और ईसाई, यहूदी

पुनः जन्म का वास्तविक अर्थ, 60:3

ब्रम्हा के चमत्कार, 10:3, 22:4

मानव मस्तिष्क, देखें मानव मन

शाखा, 12:1, 12:7-8

रोटी और शराब, 21

बुद्धा, 43:8, 43:11

कैफास, 64:4

केन, 64:4

खलीफा, 7:9, 11:20, 11:22, 13:6-7, 77:9

केनान, 57:7

केण्डलिस्टिक्स (जॉन की धर्मप्रकाशना) 11:13, 11:29

नरभक्षण, 3:3, 29:5, 77:13

मानव क्षमताएँ, 57:3, 57:9-12, 81:10

कैटाफेगो, सीजर, 9:16

कैथोलिक धर्म का बपतिस्मा अनुष्ठान, 20:5

ईश्वर का धर्म, देखें बहाई धर्म

सेफास, देखें पीटर (प्रेरित)

निश्चय, देखें बहाउल्लाह के लेख, किताब-ए-ईकान, विश्वास एवं निष्ठा

चाल्डियन्स, इजराइलियों के बन्धन में, 6:2

परिवर्तन, विकासक्रम भी देखें,

-समझदारी में 83:3-5

- भाग्य का, 68:2-3

- मानवों में, 57:9

- अवतार लाते हैं, 3:14, 11:10, 20:3-4, 20:6-8, 43:8-9, 43:12,

- भौतिक जगत में, 2:7, 20:2

- आध्यात्मिक यथार्थ अपरिवर्तनशील, 11:7, 11:11, 11:42, 16:10, 38:8, 54:7, 58:5

मानव चरित्र, 57

बच्चे, 7:3-8, 20:5, 57:4-5, 62:6, 66:7-8, 78:8

चयनित जन, 11:36, 71:4

मसीह, देखें ईसामसीह

ईसाई धर्म और ईसाई, 12:3, 30:10, 84:9-10

- बहाउल्लाह की शिक्षायें, 9:6

- बपतिस्मा अनुष्ठान, 20:5

- का धर्मविधान, 11:8, 12:8, 34:3

- का मुहम्मद का प्रतिपादन, 7:9

- अननुसरित मूल सिद्धान्त, 43:9, 43:12,

- का विस्तार 9:25

- धर्मयाजकों द्वारा मुहम्मद की कथाएँ, 7:1-2, 7:10

सभ्यता

- अरब जनजातियों की, 7:3-8, 7:11, 7:13-16, 11:14, 11:18-19

- शिक्षा के माध्यम से, 3:4, 3:6, 57:8

- प्रकृति के नियम से प्रचालित, 78:2

- ईश्वरावतारों द्वारा स्थापित, 34:10, 49:8-9

- की सच्ची प्रगति, 77:13, 84:2, 84:9

धर्मयाजक, देखें धर्मतत्वज्ञ

आज्ञाएँ, देखें नियम

सामान्य संभाग, 56:2-4 देखें मनुष्य की शक्तियाँ भी।

करूणा, 57:10, 76:4, 78:9 देखें निर्धनों की देख-रेख भी।

संयोजन, 1:1, 53:7 देखें तत्वों का संयोजन और सम्मिश्रण

परिज्ञान (समझ, बोध), देखें ज्ञान, समझदारी

प्रत्यवाद, 40:3, 48:6, 71:3

ऊर्ध्‍वस्थ देवदूत, 3:11

रूपान्तरण की दशाएँ, 20:6-7

कन्फ्यूशियस, 43:8, 43:11

अन्तःकरण, 75:1, 84:10

संज्ञा (चेतना, बोध) गअ, 1:3, 1:5, 61:3

कान्स्टैन्टाइन, सम्राट, 3:13

कान्स्टैन्टीनोपल, 4:5, 9:5, 9:13

चिन्तन (मनन), 37:5, 71:3, 80:7

कोपर निकास, 7:14 टि 5

बहाउल्लाह की संविदा, 11:44-5

शिल्प, 1:4, 3:4, 36:4, 48:4, 71:6 कलाएँ भी देखें।

सृष्टि, देखें तत्व, उनका संयोजन और सम्मिश्रण, सृष्टिकर्ता के रूप में ईश्वर, सापेक्ष जगत

- की परिपूर्णता, 46:3, 47:8

- में श्रेणियाँ, 32:2, 32:5-6, 59:6, 62:1, 84:4

- दैवीय, 39:1, 47:5

- का अस्तित्व, 47:2, 79:3, 80:7

- में सहज अच्छाई, 57:10-11, 74:6

- ईश्वर और सृष्टि के बीच पावन चेतना की मध्यस्थता, 36:7

- मनुष्य की, 18:4, 64:4

- सामग्री, 42:2, 74:1

- सृष्टि के रहस्य प्रकटित, 12:4-5

- में व्यवस्था, 47:5-8

- की पूर्णताएँ, 15:2, 62:1

- में बुद्धिसंगत आत्मा, 58:3

- का पुनर्नवीकरण, 14:2, 14:6

- ईश्वर के चिह्नों के रूप में, 27:5, 64:4

- आध्यात्मिक, 74:1

- की सूफी अवधारणा, 82:17

- की दुर्बलता, 2:3, 27:4

अपराधियों की सजा, 76:6, 77

चक्रों की स्थापना, 14, 36:7, 41 देखें धर्मविधान, अवतार भी,

साइरस की राजाज्ञा, 10:11

डेनिएल की भविष्यवाणियाँ, 10, 10:17, 13:13, बाइबिल के अनुवाक्यों में भी देखें।

डेरिएस, की राजाज्ञा, 10:11

अंधकार, 16:5, 18:2, 74:6

डेविड, 43:5

सैयद दाउदी, 9:19

ईश्वर का दिवस, 11:35

निर्णय का दिवस, 11:39, 26

मृतकगण, 11:21-9, 11:39, 14:7, 22:6-7, 30:12, 60:4, 79:4

बधिरता, 50:3, 74:4

मृत्यु, 1:1, 2:5, 29:8-9, 30:12, 53:7, 74:4, 74:6, 84:9

मरणोपरान्त आत्मा की प्रगति, 62, 64, 66

विघटन, 1:1, 53:7

सत्कर्म, 30:12, 65, 66:6, 70:4, 76:1, 78:13 84 नीतिशास्त्र, नैतिक गुण भी देखें।

श्रेणियाँ, देखें पशु जगत, ईश्वरीय जगत, मानव जगत, मानव अस्तित्व, खनिज जगत की श्रेणियाँ, वनस्पति जगत।

- सृजित वस्तुओं की, 32:2, 32:5-6, 46:3, 59:6, 62:1-2, 84:4

- का अस्तित्व, 37:2, 46:2, 52:2, 53:7, 57:4, 60:4, 62:1, 64:3, 81:10

- ईश्वर श्रेणियों से परे है, 27:3-4

- मनुष्य की, 47:9, 51:3, 57:3, 58:2, 64:2

- पूर्णताओं की, 64:2, 64:5, 66:4

- सेवाभाव की, 62:3

- चेतना की, 16:4, 81:10,

भ्रान्ति (भ्रम) 71:3, 71:8, 71:9

नियति, 35:1 ‘भाग्य’ भी देखें।

अनासक्ति, 67:7

खोज, 3:4, 3:6, 3:10, 36:4 देखें ‘अविष्कार’ भी।

- आध्यात्मिक अनावरण की मानव शक्ति 48:4, 48:6-7, 58:3-4

- वैज्ञानिक खोजें, 71:3

- आध्यात्मिक खोजें, 67:2, 71:4

रोग, देखें बीमारियाँ।

धर्मविधान, की अवतारों द्वारा स्थापना,

11:10, 43:3, 43:5 देखें ‘चक्र’ भी।

मानव स्वभाव, देखें मानव ‘चरित्र’

धर्मतत्वज्ञ, 7:1-2, 7:10, 7:14, 8:1, 9:2, 9:3, 9:6-14, 9:17, 9:22, 11:8

दिव्यता, 47:2, 59:7, 62:1 देखें, सार, दैवीय, ईश्वर, यथार्थ भी।

- की दैवीय पूर्णताएँ, 50:1, 59:8

फाख्ता, के रूप में पवित्र चेतना का अवतरण, 16:6, 38:9

ड्रेगन (जॉन की धर्मप्रकाशना), 13:5-7

स्वप्न, 61:2, 71:3, 71:4, 71:8

द्रूज, के विश्वास, 81:13

कर्ण, देखें पृथ्वी श्रवणेन्द्रिय

- का सृजन, 17:6-7, 51:5

- की वर्क, 48:6-7

- के चक्र, 41:2-3

- का अस्तित्व, 38:5, 47:7

- नवीन, 13:1, 13:2

- सूर्य द्वारा पोषित, 50:2, 53-2

- की पूर्णताएँ 15:2

- का नवीकरण, 16:9

शीराज में भूकम्प, 11:32-3

अदिर्न, देखें एड्रियानोपल

शिक्षा

- से अर्जित चरित्र, 57:2, 57:8

- अपराध और दण्ड से सम्बन्धित 77:3, 77:7, 77:11-13

- मानव, 3:6, 3:8-10, 3:15

- भौतिक, 3:5, 3:8-10, 3:15

- की आवश्यकता, 3, 64:4

- आध्यात्मिक, 3:7, 3:8-9, 3:11, 3:15, 29:5

- दुर्जनों की शिक्षा, 11:18-19

सच्चे शिक्षक

-इब्राहीम, 4:4, 4:6

- बाब, 8:2-3

- बहाउल्लाह, 9:25-6

- ईसा, 3:17, 6:5, 29:10

- अवतारों के रूप में, 3:16-17, 11:37, 39:1, 45:8, 64:2, 64:4-5

- की मानव आवश्यकता, 3

- मुहम्मद, 7:3-8, 7:11, 7:13-16, 11:18-19, 13:11-12

मिस्र, 11:22, 13:6

अग्रज, चार तथा बीस (जॉन की धर्मप्रकाशना) 11:36-7

का तत्व, संयोजन और सम्मिश्रण, 36:1-3, 39:2, 46:7, 47:4-8, 48:2, 53:7, 55:4, 82:11

इलियास (एलिजा)

- ईसा के रूपान्तरण पर प्रकटन, 71:7, 71:9

- द्वारा प्राप्त प्रेरणा, 37:11

- की वापसी, 10:8, 34:2

- बपतिस्मादाता जॉन के रूप में, 33:3-6, 33:9, 81:14

निस्सरण, प्रकटन द्वारा, 53:3, 53:5, 54:2, 54.4 82:16-18

मानव भ्रूण, विकास की अवस्थाएँ, 47:7-11, 49:6-8, 51:2-4

समानता, 78:3, 78:5-7

संतुलन, 48:2, 73:3-5

समदृष्टि, 12:4, 70:3, 78:2, 84:9

सारतत्व, 33:6, 82:8, 82:17

- दैवीय, 27:5, 27:7, 27:8, 37:2-7, 54:4-7, 82:5-6, 82:16

- मानव प्रजाति का, 47: 10-11, 49:2, 49:4, 49:8, 50:1

- में भ्रमातीतता, 45:2-5

- का ज्ञान, 45:2, 59:3-7

- अवतार का, 16:10, 39:3, 40:6, 81:14

- का रूपान्तरण, 47:10-11, 81:8

ईथर, 16:3, 37:12, 48:12

नीतिशास्त्र, 5:5 देखें ‘नैतिक गुण’ भी।

यूखानिस्त (परम प्रसाद), 21

यूरोप, 4:4, 7:1, 20:7

ईव, (हव्वा) 30:2, 30:4-6, 30:8, 30:11

अशुभ, 57:9-12, 74 देखें ‘शुभ-अशुभ का ज्ञान’ भी।  
विकासक्रम, xiv-xv,46, 47, 48:3, 49, 51:4

अस्तित्व, 1:5, 2:4, 3:10, 15:1, 32:2, 46:6, 47, 63:1, 77:8, 79, 82, 84:4 भी। देखें ‘पशु जगत’, ‘सारतत्व’, मानव जगत, खनिज जगत, अनस्तित्व, पूर्वाभाव, वनस्पति जगत, सापेक्षजगत।

- आकस्मिक, 82:8-9, 82:11-12

- के कारण, 47:4, 80:3

- सामान्य, 82:7-8, 82:12

- सृष्टि का, 47:2, 79:3, 80:7

- की श्रेणियाँ, 37:2, 46:2, 52:2, 53:7, 57:4, 60:4, 62:1, 64:3, 81:10

- में बुराई सहजात नहीं, 57:11, 74:6

- का विकासक्रम, 51:4

- मानव अस्तित्व, 1:6, 48, 49, 57:4, 67:3, 67:9 80:5-6

- गतिशील, 63:1-2, 69:3

- आवश्यक, 50

- एक शिक्षक की आवश्यकता, 3

- अनादि, 47:1, 47:3

- की पूर्णताएँ, 46:2-8, 50:3-4, 62

- सकारात्मक, 74:3, 74:5-7

- की सापेक्ष प्रकृति, 80:5-7

- का पुनर्नवीकरण, 81:8

- आध्यात्मिक, 16:4, 22:7

- सच्चा, 22:7, 82:3, 82:12, 82:16

- की एकता, 82

- का जगत, 38:5, 42:2, 47:6, 79:2, 80:6

नेत्र, 37:12, 49:5, 61:4, 74:2, 83:2, देखें दृष्टि-इन्द्रिय भी।

इजकील, 37:13, 43:5

औचित्य, देखें ‘समदृष्टि’

विश्वासपात्रता और निष्ठा, 32:5, 67:7 देखें आस्था की चेतना भी।

- ईश्वर में, 67:8

- की कमी, 32:7, 84:11

- और कार्य, 65

मिथ्यात्व, 60:3, 64:4, 71:3, 75:1, 76:3

परिवार, 57:5, 57:6, 62:6

उपवास, 11:24-5

भाग्य, 68 देखें ‘पूर्व नियति’।

परमानन्द, 6:3, 15, 16:4, 78:4

साहचर्य, 3:13-14, 11:37, 12:3, 12:6, 84:4 एकता भी देखें

अलंकार, गपगए 16:4-9, 24:2, 34:3

आग, 1:3, 16:6, 19:6

प्रथम प्रतिभा, 53:5-6, 58:4

फूल, 54:3, 62:2, 63:1, 67:4 देखें ‘पौधे’ भी।

अनुयायी और प्रचारक, 43:4, 43:5-6 देखें ‘ईशदूतपद और ईशदूत’ भी

भोजन, 21:6, 73:2, 73:5, 73:7

क्षमा

- पर ईसा की शिक्षाएँ, 76:1, 77:10

- ईश्वर की, 31:5, 54, 62:3-7, 65:3, 76:4-6, 77:8

- मानव, 77:2, 77:5-6

- के लिए प्रार्थनाएँ, 62:3-7

रूप, देखें बुद्धिसंगत यथार्थ, इन्द्रियगोचर यथार्थ, व्यभिचार, 20:2

धर्मों के संस्थापक, देखें ईश्वरावतार

स्वतंत्र इच्छा, 35, 70

ईश्वर का मित्र, देखें ‘इब्राहीम’

फल, 3:2, 14:3, 73:2, 73:7 देखें बीज, वृक्ष, फल का

गैलन, 5:5, 84:9-10

गैलीलियो, 7:15

द्वार, देखें बाब

ईश्वर, देखें ईश्वर की कृपा, पावन चेतना, ईश्वरावतार, यथार्थ, धर्मतत्वज्ञान, त्रित्व भी।

- सहायता, 70:6-8

- के गुण, 3:11, 7:13, 37:2, 37:5-8, 47:2, 50:3, 59:7, 60:3, 81:12

- में विश्वास, 65:2-4, 67:8

- के अनुग्रह, 3:11, 34:10, 59:9-10, 60:4, 65:3, 66:6, 84:3

- से ईसा का सम्बन्ध, 12:2, 16:7, 27:7, 38:8-9, 54:7

- सृष्टा के रूप में, 2:1, 2:6-7, 18:4, 36:7, 52:3, 53, 80:7, 82:17

- का शाश्वत्व, 47:3

- का अस्तित्व, 50, 79:2-3, 80:6-7

- के अस्तित्व के प्रमाण, 2, 20:8, 46:6, 81:5-6

- से क्षमा, 31:5, 62:3-7, 65:3, 76:4-6, 77:8

- से मार्गदर्शन, 11:13, 11:28-29, 45:3-4

- से मानव चेतना का प्रसरण, 53:1-5, 54, 82:18

- के प्रति उदासीनता, 75:1

- का न्याय, 76, 77:8

- का राज्य (जगत), 30:12, 33:3, 60:2, 65:4, 67, 82:17

- के बारे में ज्ञान, 11:24, 12:3-4, 19:6-8, 37:7, 45:2, 59, 82:6, 84:2-3, 84:7-12

- द्वारा अधिकृत ज्ञान, 35:1-4, 82:5-6, 82:13-14

- के नियम, 11:7, 11:10, 13:2, 20, 34:3, 47:9, 51:3-5

- का प्रेम, 11:20, 11:24, 19:6-8, 24:3-4, 44:5, 67:7, 84:3-5, 84:7-13

- की समानता और छवि में मनुष्य, 3:7, 3:11, 49:8, 64:4

- से अवतारों का सम्बन्ध, 37, 44

- की दया,, 76, 77:8

- के नाम, 3:11, 37:5-8, 47:2, 50:3, 81:12

- की निकटता, 62:4

- की एकमेवता, 4:1-3, 5:3, 27:10, 43:8, 43:11, 81:6

- की पूर्णताएँ, 2:3, 2:6, 7:13, 27:4, 35:2, 37:6-7, 62:1

-की पूर्णताओं की प्रकाशक पवित्र चेतना, 31:2, 54:5,

- मानव का भाग लेना, 50-1-4, 82:18

- की पूर्णताएँ ईश्वरावतारों में, 37:5

- आग के स्तम्भ स्वरूप, 16:6

- की शक्ति, 2:3, 3:12-13, 3:18, 4:1, 6:5, 9:13, 11:15, 15:8, 36:6, 45:2, 70:5, 70:8

- का पूर्व अस्तित्व, 53.5-6, 80, 82.13-14, 82.16

-की स्वीकारोक्ति, 65:2-4

- के चिह्न, 27.5, 37.3,38.5, 50.3,64.4

- का प्रभुत्व, 1.5, 1.7, 11.37, 36.9, 70.8

- की चेतना, 12:1

- से दूरी, 60:3, 65:3, 66:1-4, 67:8, 67:10, 75:2

- की इच्छा और उद्देश्य, 32:5, 70:5

- का विवेक, 11:13, 20:8, 47:5, 47:8

- के लोक, 60:2, 81:12, 82:17

अच्छाई (साधुता), 30:5-6, 57:10-11, 74 देखें ‘ज्ञान’ भी शुभ और अशुभ का।

गॉस्‍पल, 83:6, 84:12 देखें बाइबिल में गॉस्‍पल के अनुवाक्य।

- में बाब के सम्बन्ध में भविष्यवाणी, 10:17

- में उल्लिखित चमत्कार, 10:3, 10:5, 71:7

- का बचाव (रक्षा) मुहम्मद द्वारा 7:12, 11:12

- अवतार-द्वय से सम्बन्धित भविष्यवाणियाँ, 10:8

सरकारें, 3:6, 3:13-14, 7:16, 78:10-12, देखें, ‘राष्ट्र, दण्ड का दायित्व भी।

कृपा, 36:3, 82:17, 84:3

- ईसा की, 21:3-4, 21:7-8, 21:10, 29:12

- ईश्वर की, 19:6-7, 21:2-4, 25:2, 25:3, 27:8, 29:3, 30:9, 32:5, 36:6, 37:11, 58:4, 60:3, 62:2, 62:7, 66:6, 67:3, 80:7, 81:8, 81:10

- दैवीय, 11:16, 40:6

- पावन चेतना की, 19:6-7, 27:8, 29:2, 31:2, 31:5, 67:4, 83:8

- अवतारों की, 38:4, 39:4, 42:3, 43:3, 45:3

गुरूत्वाकर्षण, 48:12

यूनान, 6:2, 43:11

- के दार्शनिक, 5:3, 5:5, 82:2

लोभ, 29:5-6, 57:10, 78:1, 78:11

शोक (विषाद), देखें ‘दुख’

सम्वर्धन, की शक्ति, 37:13, 64:1, 82:17

मार्गदर्शन, 11:13, 29:12, 34:10, 39:1, 43:4, 45:4

हाजरा, 4:4

सुख, देखें ‘परमानन्द’

समरसता (सामंजस्य), देखें ‘एकता’

हसन ‘अमू’, मुल्ला, 9:6, 9:10

उपचार और स्वास्थ्य, 2:5, 10:7, 72, 73 देखें रूग्णता (बीमारी), औषधि, चिकित्सक भी

श्रवणेन्द्रिय, 48:5, 50:3, 56:1, 56:4, 61:1, 83:2, 84:7

हृदय, 42:3, 57:8, 67:56

आकाश, 3:11, 11:30, 11:42-3, 13:2, 21:3, 23:4-5, 26:1-3, 67, 81:3

नरक, 29:9, 30:10, 62:2, 81:3

हरमीज, 46: 2 टि. 128

हिन्दू, और ब्रम्हा के चमत्कार, 10:3

हिपोक्रेटीज, 5:5

पवित्रता, 36:7, 37:2, 67:7, 82:18 देखें निर्मलीकरण/निर्मलता भी।

पवित्र नगर

- भौतिक नियम के रूप में, 11:11

- धर्म के रूप में, 13:1, 13:3-4

पवित्र भूमि

- को इब्राहीम का निष्कासन, 4:2-5

- में बहाउल्लाह का प्राकट्य, 4:5, 9:15

- में यहूदियों की वापसी, 12:7-8

परम पावन गर्भगृह, 11:3-8, 11:11, 11:42

पावन चेतना, 2:8, 25, 36:7-8, 55:2, देखें, ईश्वर, त्रित्व भी।

- की निदा, 31

- की श्वांस, 3:11, 18:4, 29:3, 36:6, 67:3

- से ईसा का जन्म, 6:1, 17, 18:5, 29:4

- का अवतरण, 16:6, 24, 25:2-3, 38:9, 58:5

- की कृपा, 19:6-7, 27:8, 29:2, 31:2, 31:5, 67:4, 83:8

- का प्रकट स्वरूप, 36:8, 38:4, 54:5-6

- की शक्ति, 24:3, 36:9, 72:7

मानव जगत, 34:10, 49:4, 78:4, 84:4 देखें मानव शरीर, मनुष्य, मानव चेतना भीं

- में श्रेणियाँ, 32:7, 70:5, 81:10

- अस्तित्व में, 1:6, 49, 79:2

- में क्षमाशीलता, 77:2, 77:5-6

- में गति, 16:8, 70:6

- में पूर्णताएँ, 32:2, 84:7

- में सच्चा सुख, 15:3, 15:7-9

इब्न-ए-नौफल, वराकी, 10:22

इब्नुल-अरबी, 82:1 टि 161

प्रतिमाएँ, देखें मूर्तिपूजा

अज्ञान, 2:4, 34:11, 64:4, 74:3, 75:1, 77:13 देखें ज्ञान भीं

- अंधकार का प्रतीक, 16:5, 18:2

- अपूर्णता के स्वरूप में, 37:7

बीमारी, 2:5, 61:5, देखें उपचार और स्वास्थ्य, औषधि

- पशुओं में, 73:6

- के कारण, 73:2-4, 74:4

भ्रान्ति (माया), 71:5, 71:8

मूर्तिपूजा, 37:10, 43:8, 43:9, 43:11

कल्पना, 25:3, 56.2, 56:3, 56:4, 71:2, 71:3, 71:8

इमाम, 9:6 टि 12, 11:36, 13:4, 37:2 टि 111, 37 8 टि 113

अपूर्णता, देखें दुर्बलता भीं

- सापेक्ष जगत में 2:3, 27:4, 46:3-4

- मानव, 32:4, 64:2

- अज्ञान के रूप में, 37:7

- के स्रोत के स्वरूप भौतिक प्रकृति, 29:2-3, 29:6, 29:8

- का सार, 81:8

- संताप के रूप में, 75:1

आय (आमदनी), देखें ‘सम्पदा’, और निर्धनता के बीच विषमता।

उद्योग, 3:6

असमानता, 78:2 देखें ‘समानता’ भी।

भ्रमातीतता, 45

भ्रूण हत्या, 7:3

अधर्म (अत्याचार), 70:3-4, 75:1, 76:3, 77:10 देखें ‘बुराई’, ‘पाप’ भी।

अन्याय, 70:3, 70:7, 78:4 देखें ‘न्याय’ भी।

प्रेरणा, देखें दैवीय प्रकाशना, समझ, संकल्पना भी।

प्रतिभा, प्रथम, 53:5-6, 58:4

बुद्धिमत्ता, 3:10, 48:2, 57:3, 83:3-5 देखें मानव मन भी।

बुद्धिसंगत यथार्थ, 16, 25:3-5, 48:4, 74:1-3, 82:6

अभिप्राय (नीयत), उत्तम, 84:6, 84:10 देखें सत्कर्म भी।

मध्यस्थता, 62:4-7

व्याख्या (प्रतिपादन), 11:7, 13:13-14, 16:9, 26:1, 30:4

आविष्कार, 7:15, 17:5, 48:4, 58:3, 71:3, 71:6 देखें ‘खोज’।

ईरान, देखें फारस और फारसी

इस्हाक, 57:6

ईसाइया (यशायाह), 22:7, 37:11, 43:5 बाइबिल में भी देखें, मसीह के सम्बन्ध में भविष्यवाणियों के अनुवाक्य, 26:4

- की संकल्पनाएँ, 71:2, 71:9

इस्माइल, 4:4, 57:6

इस्लाम, देखें मुहम्मद भी।

- मुसलमानों का पतन, 11:26, 11:28

- का धर्मविधान, 11:5-6, 11:25, 13:4-7

- अवतारद्वय सम्बन्धी भविष्यवाणियाँ 10:8

- में अपरम्परागत औषधि, 20:4 टि 80

इजरायल और इजरायली, देखें यहूदी भी।

- का ईसाकृत नवीकरण, 6:2-3

- इब्राहीम की वंशपरम्परा में, 4:4, 57:6

- को ईश्वर की भत्र्सनाएँ, 44:4, 44:7-10

- का अन्तःजमावड़ा, 12:7-8

- के रूप में मूसा, 5:2-3, 6:2

- के ईशदूत, 37:11, 37:13

- द्वारा ईसा की अस्वीकृति, 6:4

- की बारह जनजातियाँ, 11:36

इस्ताम्बुल, देखें कान्स्टैंन्टीनोपल

जैकब, 4:4, 44:7

जेरेमिया, 34:2, 37:11, 43:5, 71:2

जेरूसलम (येरूशलम)

- की विजय, 11:4-6

- का कट्टर प्रतिधर्माध्यक्ष, 7:9

- का पुनर्निर्माण, 10:10-11, 10:14, 10:16, 11:6

- नवधर्म के रूप में, 11:22, 13:1, 13:3-4

- का मंदिर, 11:3-8, 11:11, 11:42

जेसी का दण्ड, बहाउल्लाह के रूप में, 12:1-2, 12:7

ईसामसीह, 6, 21:6, 30:9, 36:8, 60:6, 64:3, 76:4 देखें त्रित्व भी, ईश-शब्द

- का अवतरण, 10.10-15, 10:16, 11:8, 20:5, 26:2-4, 43:5, 84:5

- का स्वर्गारोहण, 10:14, 23:7

- का बपतिस्मा, 16:6, 19:1-5, 38:9, 58:5

- का जन्म, 17

- की (ईश) निदा, 4:1

- रोटी और मदिरा के प्रतीक, 21

- के प्रियजन, 11:36, 11:37

- इब्राहीम की वंशपरम्परा में, 4:4, 57:6

- का देवत्व (ईश्वरत्व), 21:6-7

- शिक्षक के रूप में, 3:17, 6:5, 29:10

- के धर्मविधान का अन्त, 11:8

- की क्षमाशीलता, 76:1, 77:10

- का पिता ईश्वर का सम्बन्ध, 12:2, 16:7, 27:7, 38:8-9, 54:7

- की भव्यता, 21:3-4, 21:7, 21:10, 29:12

- की महानता, 18

- का पावन चेतना से सम्बन्ध, 17, 25:8, 29:4

- की मानवता, 21:3, 21:6-7, 64:4

- यहूदी नहीं पहचान सके, 13:14, 14:15, 26:4, 28:4-5

- की शहादत, 10:5, 10:10, 10:12, 10:14, 11:22, 21:6, 22:5, 28:4, 35:5

- के चमत्कार, 10:3, 22

- दर्पण के रूप में, 27:6-7, 54:5-7

- का ध्येय, 29:10

- द्वारा मूसाई धर्मविधान का निरसन, 6:2-3, 20:2-3, 20:5

- का परम महान भ्रमातीतता, 45:10

- द्वारा स्थापित एकता, 3:13-14, 12:3

- की पूर्णताएँ, 21:2, 21.4, 21:10, 29:12, 31:2, 37:13, 54:5

- की तुलना में पोप का आचरण, 34:5-10

- का पूर्वाभाव (पूर्वास्तित्व), 28

- की अवतार-स्थिति के प्रमाण, 22:3-5, 24:3

- से सम्बन्धित भविष्यवाणियाँ 13:14, 26:4

- की वास्तविकता, 25:2, 27:5, 27:8, 29:7, 30:7, 39:4, 63:2

- का धर्म, 11:7, 11:8, 11:12

- का पुनरूत्थान, 23

- की वापसी, 10:8, 26

- का बलिदान, 29:3, 29:10-13, 30:9, 30:11

- का चिह्न, 14:13, 38:7

- की चेतना, 21:3-5, 21:7, 27:8, 29:7

- की आध्यात्मिकता, 24:3-4, 29:2

- का स्थान, 30:7, 38:8-9

- की शिक्षाएँ, 21:4, 21:7

- का रूपान्तरण, 33:4, 71:7, 71:9

- की सत्यता, 22.5

- द्वारा स्थापित एकता, 3:13-14, 12:3

- के सद्गुण, 37:13

यहूदी, देखें इजरायल और अजरायली भीं

- की बहाउल्लाह की शिक्षाएँ 9:6

- मूसाई धर्मविधान का अन्त 11:8

- ईसामसीह को पहचानने की असफलता, 13:14, 14:15, 26:4, 28:4-5

- को प्रदत्त नियम, 30:10, 76.2

- के प्रति मुहम्मद का बर्ताव, 7:9

- की फारसी बन्दी स्थिति, 6:2, 10:11-12

- पवित्र भूमि में वापसी, 12:7-8

जॉन (यूहन्ना, प्रेरित), की संकल्पनाएँ, 11,13, 71:2, 71:9

जॉन बपतिस्मादाता, 19:4, 20:5

- इलियास/एलिजा की वापसी के रूप में, 33:3-6, 33:9, 81:14

यूसुफ (ईसा के पिता), 12:2

यूसुफ (ओल्ड टेस्टामेण्ट), 4:4, 11:36, 30:10

जोशुआ, 11:12, 11:17-18, 44:10

न्याय, देखें ‘अन्याय’ भी।

- के साथ कार्य करना, 57:10, 64:4, 70:3-4, 70:7, 84:9

- बहाउल्लाह लाए, 12:4

- राष्ट्र (राज्य) का, 77:10-14

- ईश्वर का, 76, 77:8

- के विरोध में कृपा, 32:5, 62:7

- के नियम, 29:5

- और हड़तालें, 78:2, 78:3, 78:9

- करबला, ईराक, 9.6

- खादीजा, 10:22

सौजन्यता, देखें करूण, प्रेमल सौजन्यता, जगत (राज्य), देखें पशु जगत, श्रेणियाँ, ईश्वरीय जगत, स्वर्ग, मानव जगत, खनिज जगत, वनस्पति जगत,

ज्ञान, 56:2, 56:4, 59:6, 83 देखें, ईश्वर का ज्ञान, अज्ञान भी।

- की प्राप्ति, 25:4, 32:5, 37:2, 57:10

- प्रवृत्तियों का ज्ञान, 59:3-4

- बाब का ज्ञान, 8:1-3

- बहाउल्लाह का ज्ञान, 9:11, 64:4

- वैचारिक ज्ञान, 40:2-3, 48:6, 71:3

- दैवीय ज्ञान, 40:6, 82:5-6

- से पृथ्वी को भरना, 12:4-5

- मौलिक ज्ञान, 35:2

- का विस्तार और सीमाएँ, 3:10, 58, 59:5, 59:6, 59:7

- औपचारिक, 40:2

- शुभ और अशुभ का, 30:2, 70:3, 70:5-7

- मानव ज्ञान, 16:1-3, 40:2-5, 83:7

- अंतर्ज्ञान (सहज बोध) 40:2, 40:4

- अवतारों का, 40, 59:9

- मुहम्मद का, 7:13

- के उद्देश्य, 82:6, 82:3

- पूर्णता के रूप में, 37:7

- पूर्व-अस्तित्व (पूर्वास्तित्व) का, 82:5-6, 82:14

- के संस्थापक के रूप में धर्म, 34:10-11  
- की खोज, xvi-xvii, 10:7

- इन्द्रियसुलभ, 16:2, 16:4-8

- सच, 14:12

- का प्रतीक जल, 19:6, 19:7

कोशेर (स्वच्छ) नियम, 76:2

दीपक, 66:3, 68:2-3

- से प्रकाश का सम्बन्ध, 25:6, 25:8, 33:9, 36:2, 37:12, 39:4, 44:5, 46:7

- की तुलना में चेतना, 55:4, 55:6

अंतिम ब्यालु (रात्रि-भोजन), 21:8-10

नियम (विधान)

- का निरसन, 20:2-3, 20:5, 20:6-8

- बहाउल्लाह के, 12:4

- ईश्वरावतार द्वारा लाए गए, 11:37

- यूरोपीय, 20:7

- ईश्वर के, 11:7, 13:2, 20, 34:3, 47:9, 51:3

- भौतिक, 2:5, 11:11, 11:12

- मूसाई, 6:2-3, 11:12, 20:2-3, 20:5, 20:8, 43:5, 43:9, 76:2

- गति के, 1:2, 81:9, 83:2

- प्रकृति के, 1, 22:1, 47:5-6, 51:3, 78:2

- दण्ड सम्बन्धी, 77

- धार्मिक, 76:2, 76:3, 76:4

- आध्यात्मिक, 11:11

- दस आज्ञाएँ, 43:9

विद्या, देखें ‘ज्ञान’

जीविताक्षर, 11:36 टि. 48

जीवन, 1:1, 19:7, 30:12, 42:2, 67:3, 74:6 देखें ‘सृष्टि भी, - के तत्व, संयोजन एवं सम्मिश्रण, प्रकृति।

- शाश्वत, 22:6-7, 30:9, 30:12, 60:4, 67, 84:2-3

- की प्राप्ति, 21:2, 21:5, 21:7, 21:10, 29:12

- बुद्धिसंगत आत्मा का, 36:6, 38:8

प्रकाश, 16:5, 31:3-7, 48:12, 74:6, देखें दीपक, से प्रकाश का सम्बन्ध।

- सूर्य का, 28:2, 37:12, 39:3, 39:6, 42:2, 53:2-3, 84:10

देवदूतों का प्रभु (स्वामी), से सम्बन्धित भविष्यवाणियाँ, 10:8 देखें बहाउल्लाह भीं

तकदीर (भाग्य), 4:2

प्रेम, 16:3, 32:5, 48:4, देखें ईश्वर का प्रेम भी।

- बहाउल्लाह का, 12:4, 12:6

- अवतारों का, 11:37, 42:3

प्रेमल सौजन्यता, 43:12, 84:12

मिथ्याभाषण, 57:12, 64:4, 75:1, 76:3

जादूगर, 10:3-4

उदारता, 77:2, 77:10

मेहदी, के सम्बन्ध में भविष्ववाणियाँ, 10:8

मनुष्य, देखें ‘मानव शरीर’ भी, भ्रूण, मानव विकास की अवस्थाएँ, मानव जगत, मानव मन, इन्द्रियाँ, मानव चेतना

- का स्वर्गारोहण, 64:7

- की वृत्तिया, 40:7, 47:9, 64:4, 74:3

- की तुलना में संसार की काया, 20:4

- जीवन की रचना नहीं कर सकता, 47:5

- की क्षमताएँ, 57:3, 57:9-12, 81:10

- का चरित्र, 57

- की समग्रता, 46:3-8, 47:9-11, 48:2

- का ईश्वर-बोध, 59

- सृजन, 18:4, 64:4  
- पशुओं से भिन्न, xiv-xv, 3:3-4, 3:6, 29:5-6, 47:10-11, 48, 49:4, 55:5  
- का विकास क्रम, xiv-xv, 46,47

- का अस्तित्व, 1:6, 48,49, 57:4, 67:3, 67:9, 80:5-6

- की श्रेणियाँ, 47:9, 51:3, 57:3, 58:2, 64:2

- ईश्वर की साम्यता तथा छवि में, 3:7, 3:11, 49:8, 64:4

- का ज्ञान, 16:1-3, 40:2-5, 83:7

- में उत्कर्ष के प्रति प्रेम, 48:8

- प्रकृति पर आधिपत्य, 1:4, 48:9-10

- की प्रकृति (स्वभाव), 29:2-8, 46

- शिक्षक की आवश्यकता, 3, 64:4

- की मौलिकता, 47:10-11, 58

- की उत्पत्ति, 17:7, 38:5-6, 80:4

- की पूर्णताएँ, 38:6, 49:8, 60:3-4, 62:2, 64:1-7, 70:5, 74:3

- पूर्णताओं की प्राप्ति, 7:16, 81:4  
- की शक्तियाँ, xv, 3:18, 30:12, 48:2, 48:5-7, 48:11, 56

-की वास्तविकता, 54:4, 57:10, 63:3, 71:6, 81:12, 82:17, 84:4

- के प्रकट रूपों की वास्तविकता, 15:8, 50:4, 81:10

- निर्मलीकरण की वास्तविकता, 19:6, 30:9

- इन्द्रियों की वास्तविकता, 61:1, 67:6

- आत्मा के रूप में मनुष्य की वास्तविकता, 38:3

- का स्थान, 64

- में अवशिष्ट अंग-अवयव, 47:11, 49:3-6

- की दुर्बलताएँ, 2:3

- की इच्छा, 1:3

प्राकट्य (साक्षात), प्रकटन (व्यक्त) द्वारा, 53:3-4, 54:2-3, 54:5-7, 82:16-17

ईश्वरावतार, देखें सच्चे शिक्षक, चमत्कार, भविष्यवाणियाँ, ईशदूतपद और ईशदूत, दैवीय धर्मप्रकाशना, और वैयक्तिक प्राकट्य भी।

- का आविर्भाव, 11:35, 13:5-13, 14:7, 27:4, 82:6

- द्वारा आनीत परिवर्तन, 3:14, 11:10, 20:3-4, 20:6-8, 43:8-9, 43:12

- द्वारा आनीत सभ्यता, 49-8-9

- की सूर्य से तुलना, 42:2, 43:3

- के चक्र 41:3-4

- द्वारा स्थापित धर्मविधान, 11:10, 43:3, 43:5

- से स्वयं को दूर रखना, 31:3-7

- द्वारा अपरिवर्तित धर्म का मर्म, 11:7-9, 11:12, 11:24, 11:42-43

- का ईश्वर से सम्बन्ध, 37, 44

- की महिमा, 38:4, 39:4, 42:3, 43:3, 45:3

- का मार्गदर्शन, 39:1, 43:4

- खोखले नरकुल (बांसुरी) के रूप में 11:2

- का ज्ञान, 40, 59:9

- का प्रेम, 11, 37, 42:3

- द्वारा परिष्कृत नैतिक गुण, 6:2-3, 7:11-12, 8:1-2, 9:1, 11:26, 43:5, 43:8

- की परम महान भ्रमातीतता 45

- की पूर्णताएँ, 18:6, 38:1, 42, 45:5

- परिपूर्ण मानव के रूप में, 11:1-2, 27:5, 44:12, 50:5, 59:8

- की शक्तियाँ, 11:37, 22:2, 22:8, 42, 58:5

- के प्रमाण, 3:17, 20:4, 22:3-5, 24:3, 41:4

- से निस्‍सृत किरणें, 25:2

- की वास्तविकताएँ, 61:10, 39:3, 39:4-6, 45:5

- का पुनरूत्थान, 23:2

- की वापसी, 33, 81:14

- की सम्प्रभुता, 11:37

- के स्थान, 30:7, 31:2, 38, 39

- सांसारिक स्थान (दैहिक), 58:5

- दैवीय स्थान, 38:1, 38:4, 38:8, 39:1, 39:4, 39:6, 58:5

- भौतिक स्थान, 38:1, 38:2, 38:8, 39:1

- बुद्धिसंगत आत्मा के स्थान, 38:1, 38:3, 38:8, 39:1, 39:6, 58:5

- द्वारा आनीत एकता 11:37

- सावैभौम, 30:7, 41:4, 59:8

- का विवेक, 45:5-6

मानवजाति, देखें ‘मनुष्य’

शहादत, 61:3 देखें बाब की शहादत, ईसामसीह की शहादत,

मरवान, 13:6

मेरी, (ईसा की माता), 17:3

गणितज्ञ और गणित, 7:14, 7:15, 7:16, 35:6, 82:4, 83:3

द्रव्य (उपादान), 47:4, 47:8, 53:7, 82:12

वयस्कता की अवस्थाएँ, 51:2-3 देखें ‘मानव भ्रूण, विकास की अवस्थायें भी।

मैक्स वेल, में बोलर्स गप

- दवाईयाँ 73:2, 73:7 देखें, उपाचार तथा स्वास्थ भी, रोग, वैद्य

- इस्लामी परम्परागत उपचार, 20 4 टि. 80

स्मृति, 56:2, 56:4, 74:3

- पशुओं में, 48:5

दया, 76, 77:8

ईश्वर के संदेशवाहक, देखें ‘ईश्वरावतार’

मसीह, - से सम्बन्धित भविष्यवाणियां, 10:8, 26:4

रूपक, 10:4-9, 24:2, 34:3

सूक्ष्म कण, 72:3

मानव मन, 39:6, 51, 52:3, 61:4, 82:12 देखें, खोजें, खोज करने की मानवशक्ति, विचार शक्ति, विचार भी।

- द्वारा ज्ञान प्राप्ति, 2:4, 32:5, 37:2, 57:10

- बुद्धिगम्य यथार्थ के रूप में, 48:4, 74:2

- अवतारों का मन का प्रबोधन, 42:3, 42:5

- के जरिए बोध, 40:5, 59:4, 74:1, 74:2

- की पूर्णताएँ, 64:1

- द्वारा देश-काल के पार जाना, 67:1-2

- की शक्ति, 16:3, 56:6, 83:3

खनिज जगत, 3:1, 40:7, 51:3, 59:6, 82:17

- में श्रेणियाँ तथा स्थान, 32:5, 32:6, 62:1-2, 63:3

- का अस्तित्व, 32:2, 57:4, 67:3, 67:9, 79:2, 80::5-6

- में सुख-शान्ति, 15:2, 15:6

- की पूर्णताएँ, 46:6, 64:1

चमत्कार, 22

- बहाउल्लाह और, 9:6-9, 9:19, 9:22, 10:3-5

- ब्रम्ह् के, 10:3

- ईसा के, 10:3, 22

दर्पण, 27:6-7, 36:3, 61:5-6, 66:3, 79:3 देखें सूर्य, से दर्पण का सम्बन्ध भी।

संयमन (आत्मसंयम), 78:5-7

चन्द्रमा, 13:4, 35:6, 63:3

- का प्रकाश, 28:2, 39:3

- से प्रचारकों एवं अनुयायियों की तुलना, 43:4

नैतिक गुण, देखें सत्कर्म, नीतिशास्त्र भी।

- अफ्रीका में, 3:3, 29:5, 77:13

- अवनति, 77:11-12

- का अवतारों द्वारा सुधार, 6:2-3, 7:11-12, 8:1-2, 9:1, 11:26, 43:5, 43:8,

- का वशीकरण, 84:2, 84:10 मूसा, 5, 11:12, 14:13, 30:10, 39:4, 64:4 देखें नियम मूसा के भी

- ईसा के रूपान्तरण पर प्रकटन, 71:7, 71:9

- के प्रियजन, 11:36

- इब्राहीम की वंशपरम्परा में, 4:4, 57:6

- का धर्म विधान, 11:7, 11:8

- शिक्षक रूप में, 3:17

- को ईश्वर की भर्त्‍सना, 44:4, 44:8-10

- के चमत्कार, 22:4

- की मुहम्मद से तुलना, 11:17

परम महान प्रकाशपुंज, देखें बहाउल्लाह

परम महान नाम, देखें बहाउल्लाह

परम महान कारागार, 9:4, 9:15, 10:2 देखें, अक्का भी।

परम पवित्र पुस्तक, देखें बहाउल्लाह, के लेख, किताब-ए-अक़दस।

गति,

- अस्तित्व की, 63:1-2, 69:3

- मानवीयय, 16:8, 70:6

- के नियम, 1:2, 81:9, 83:2

- आत्माओं की, 44:5

- आध्यात्मिक चक्रों की, 14:7, 14:12

कार्मेल पर्वत, पर बहाउल्लाह का आगमन, 9:15

मुआविया, 13:6

मुहम्मद, 7 देखें, सच्चे शिक्षक, के रूप में मुहम्मद, इस्लाम, मुसलमान, भी

- का आगमन, 11:34

- द्वारा अरब जनजातियों को सभ्य बनाया गया, 7:3-8, 7:11, 7:13-16, 11:14, 11:18-19, 13:11-12

- के प्रियजन, 11:36

- इब्राहीम की वंशपरम्परा में, 4:4, 57:6

- का धर्मविधान, 11:5-6, 11:12-28, 43:5

- का प्रवास, 10:18, 10:20, 10:22 टि 24

- को ईश्वर की भर्त्‍सना, 44:11

- के नियम और शिक्षाएँ, 10:22, 11:16

- के सैनिक अभियान, 7:2, 7:7-9

- का उत्पीड़न, 7:2, 7:7

- अवतार पद का प्रमाण, 7:2

- के सम्बन्ध में भविष्वाणियाँ, 11:5-7, 11:34, 13:4

- का धर्म, 11:7, 11:8, 11:12-28, 13:4-7

- की कथाएँ, 7:1-2, 7:10

- द्वारा ईसाइयों से बर्ताव, 7:9

मुहम्मद-तक़ी अफनान, हाजी मिर्जा (वकीलुद्दौला), 11:36 टि. 48

हत्या, के विरूद्ध नियम, 76:3

मुसलमान, देखें ‘अरब जनजातियाँ’, ‘मुहम्मद की शिक्षा, इस्लाम की, ‘मुहम्मद’ भी।

- की बहाउल्लाह की शिक्षा, 9:6

- का तिथि-पत्रक (कलैण्डर) 10:20, 13:13, ईश्वरीय भर्त्‍सना 44:1 14:11

- का उत्पीड़न, 7:2, 7:7

मुतवक्किल, 77:9

रहस्य, देखें ‘खोजें’ भी

- दैवीय, 42:3, 55:5, 81:15

- मनुष्य में प्राप्य, 64:4

नजफ, ईराक, 9:6

नाजरान, 7:9

नेपोलियन, को बहाउल्लाह की पाती, 9:16

नसिरूद्दीन शाह, को बहाउल्लाह की पाती, 9:17, 9:22, 16:8

प्रकृति, 1, देखें ‘पशु जगत’, ‘मानव जगत’, ‘खनिज जगत’, ‘वनस्पति जगत’ भी।

- की प्रवृत्तियाँ (गुण), 16:3, 19:6

- सहज, 57:4, 57:9-12

- का विधान, 78:2

- पर मनुष्य का प्रभुत्व, 1:4, 48:9-10

- में पूर्णताएँ, 15:8

नव (प्रजाति), 46: 1 टि 127

आवश्यक सम्बन्ध, 40:8-9

नोह (नूह), 11:7, 30:10, 57:7

अनस्तित्व, 2:4, 60:5, 63:1, 79:2 देखें ‘अस्तित्व’ भी।

- सम्पूर्ण, 47:3, 53:7

- के रूप में बुराई, 74:3-4, 74:6-7

- की सापेक्ष प्रकृति, 80:5-7

नुसरीर्यो, के विश्वास, 81:13

जैतून वृक्ष (जॉन की धर्मप्रकाशना), 11:13

(वह) एक, 82:2 टि162, 82:4

एकमेवता, देखें ईश्वर, की एकमेवता, एकता

दमन, 76:6, 77:10, 78:4

- सापेक्ष जगत में, 2:5

- प्राकृतिक, 1, 22:1-2, 47:5-6, 51:3, 51:5, 52:5, 81:10

- सामाजिक, 3:6, 3:9

- सार्वभौम, 47:9, 42:11

मूल पाप, 29:9, 30 ‘देखें ‘पाप’ भी।

मौलिकता, 47:10-11, 49:2-8, 50

उत्पत्ति (उद्गमन), 17:7, 38:5-6, 53:5, 80, 82:12-14

परम्परानिष्ठ (सनातनी, कट्टर) ईसाई, बपतिस्मा अनुष्ठान, 20:5

ओटोमन साम्राज्य, का प्रतीक चन्द्रमा, 43:4

फलस्तीन, 12:8

पोप का पद, 34, 43:12

बैकुण्ठ (स्वर्ग), 11:35, 42:5, 60:2, 60:3 देखें ‘स्वर्ग’ भी

- आदम और हौवा स्वर्ग से निष्कासित, 30:4, 30:6

माता-पिता, 57:5, 62:6 देखें ‘परिवार’ भी

पॉल (प्रेरिती), 20:2, 29:8

शान्ति, 11:37, 78:4

- बहाउल्लाह द्वारा लाई गई 12:4, 12:7

- ईसा द्वारा लाई गई 3:13-14, 12:3

परमो़च्च की लेखनी, देखें बहाउल्लाह

पेन्तकोश्त (पंचाशती), देखें पावन चेतना, का अवतरण

बोध, 56:1, 61:3, 71:7, 74:1-2

पूर्णताएँ, देखें ‘ईश्वर; की पूर्णताएँ, ‘मनुष्य’ की पूर्णताएँ,

- की प्राप्ति, 32:5, 47:9, 52:2-3, 81:4, 81:11

- बहाउल्लाह की, 9:5

- ईसा की, 21:2, 21:4, 21:10, 29:12, 31:2, 37:13, 54:5

- सृष्टि की, 15:2, 62:1

- की श्रेणियाँ, 64:2, 64:5, 66:4

- दिव्य (दैवीय), 3:7, 18:2, 18:6, 30:7, 31:3, 36:7, 39:1, 59:8, 64:5

- मानव, 32:4, 46:2-3, 46:6, 47:9-11

- अवतारों की, 18:6 31:2-3, 37:11, 38:1, 42, 45:5

- भैतिक, 1, 77:13

- पूर्ववर्ती, 82:14

- की वापसी, 33:9, 81:8, 81:14

- आध्यात्मिक, 29:2, 77:13

- विश्व ब्रहमाण्ड की, 32:2-5

परिपूर्ण मानव, ईश्वरावतारों के रूप में, 11:1-2, 27:5, 44:12, 50:5, 59:8

फारस और फारसी

- का बहाउल्लाह कृत रूपान्तरण, 9:13, 9:24, 84:12

- में यहूदियों का बंदीकरण, 6:2, 10:11-12

- का राज्य, 13:6

- का धार्मिक उन्माद, 8:1, 9:1

- का प्रतीक चिह्न सूर्य, 13:4

पीटर (प्रेरिती), 9:25, 20:2, 34, 62:3, 63:2

फराहो, 11:17, 64:4

फरीसी, 13:14

दार्शनिक और दर्शन, 59:7, 83:4, 84:9-10

- प्राचीन, 5:3, 5:5, 53:5, 81:13, 82:2, 83:2-5

- आध्यात्मिक, 17:2, 17:5-7, 48:4, 76:3

- यूरोपीय, 46:8, 49:3, 83:2

- भौतिक, 17:2, 17:4-6, 48:2-3, 48:8, 48:11, 50:6

- सभी चीजों के एक कारण पर, 82:13, 82:16

चिकित्सक, देखें ‘उपाचार और स्वास्थ्य’, ‘औषधि’ भी।

- गालोन, 5:5, 84:9, 84:10

- हियेक्रेटीज, 5:5

- मरीजों के प्रति झूठे, 57:12

- ईश्वरावतारों के रूप में, 45:6

- के रूप में ईशदूत, 20:4, 40:8

- आध्यात्मिक, 10:7, 72:6

तीर्थयात्री, पशचिमी गप

हैजा (जॉन की धर्मप्रकाशना), 11:18

ग्रह, 1:2, 42:2

पौधे, 17:4, 32:5, 82:17, देखें “फूल”, ‘वृक्ष, ‘वनस्पति जगत’ भी।

- का अस्तित्व, 49:3, 57:4

- द्वारा उपचार, 73:5, 73:7

- की पूर्णताएँ, 70:5

प्लेटो, 5:5, 7:14, 83:3, 84:9

प्लूटिनस, 82: 2 टि 162

ध्रुव तारा, 48:6-7

बहुविवाह, 7:1, 7:4-5

निर्धनों, की देखरेख, 76:1, 78:12

पोप, देखें ‘पोप का पद’

निर्धनता, 2:4, 74:4, 74:6, 82:14

- सम्पदा और निर्धनता के बीच असमानता, 78:2-8, 78:12

शक्ति (याँ), 37:7, 71:3, देखें ईश्वर की शक्ति भी।

- असाधारण, 5:5-6

- सम्वर्धन की,, 37:13, 64:1

- पावन चेतना की, 24:3, 36:9, 72:7

- मनुष्य की, 3:18, 30:12, 48:2, 48:5-7, 48:11, 56

- ईश्वरावतारों की, 11. 37, 22:2, 22:8, 42, 58:5

- भौतिक, 18:3, 56:1

- आसुरी, 64:2, 64:4

- आध्यात्मिक, 36:4, 56:2, 72:5, 73:1

- दोनों गवाहों की, 11:17-19, 11:21

- ब्रह्माण्डीय, 84:4

प्रार्थना(एँ), 11:24-25, 62:3-7, 66:6

पूर्वनियति (प्रारब्ध), 35, देखें ‘भाग्य’ भी।

पूर्व-अस्तित्व (पूर्वास्तित्व), 80, देखें ‘अस्तित्व’ भी।

- ईसा का, 28

- सारभूत (मौलिक), 28:2, 80:2-4

- ईश्वर का, 53:5-6, 82:13

- का ज्ञान, 35:4-5, 82:5-6, 82:13-14

- पार्थिव (ऐहिक), 28:3, 80:2, 80:3

पुरोहित (धर्मयाचक), देखें, ‘धर्मतत्वज्ञ’ भी।

आदि बिन्दु, देखें ‘बाब’

आदि इच्छा, 53:5-6 देखें ‘इच्छा’ भी।

लाभ की भागीदारी, 78:5-8

प्रगति, 63

- मानव, 3:6, 64:6

- पर अवतारों का प्रभाव, 42:5

- मरणोपरान्त आत्मा की 62, 64, 66

प्रतिज्ञापित (वचनदत्त) ईशदूत, से सम्बन्धित भविष्यवाणियाँ, 13:5-9, 25:7-8, 35:3 देखें ‘ईश्वरावतार’ भीं

प्रचारक तथा अनुयायी, 43:4-6

प्रमाण, देखें तर्क, ‘ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण’, ईश्वरावतारों के प्रमाण’ भी, और वैयक्तिक प्राकट्यों के अन्तर्गत।

- बुद्धिसंगत, 10, 60:5, 60:7, 81:5, 83:7

- परम्परागत, 83:7

भविष्यवाणियाँ

- बाब के सम्बन्ध में, 11:6, 11:34, 13:5-13

- बहाउल्लाह के सम्बन्ध में, 9:15, 10, 11:34-35, 12

- ‘बुक आफ रिवीलेशन’ से, 11

- ईसा के सम्बन्ध में, 13:14, 26:4

- डेनियल की, 10:10-17, 10:19, 13:13

- मसीह के सम्बन्ध में, 10:8,, 26:4

- मुहम्मद के सम्बन्ध में, 11:5-7, 11:34, 13:4

- वचनदत्त ईशदूत के सम्बन्ध में, 13:5-7, 25:7-8, 35:3

- ‘राजाओं को पाती’ में, 9:18

-अवतारद्वय के सम्बन्ध में, 10:8-22

ईशदूतपद और ईशदूत, 43, देखें ईश्वरावतार भी और वैयक्तिक ईशदूत।

- की उद्घोषणाएँ, 35:3, 35:5

- के चक्र, 14:7-15

-इब्राहीम की वंशपरम्परा में, 4:4, 57:6

- शिक्षक के रूप में, 64:5

- की ईश्वर द्वारा भर्त्‍सना, 44

- सत्कर्मों पर, 84:11

- स्वाधीन, 43:2, 43:3,43:5-6

- इजरायल के, 37:11, 37:13

- के कथित चमत्कार, 10:5, 22

- सभी चीजों का एक कारण पर, 82:13

- की पूर्णताएँ, 31:2, 62:1

- वैद्यों के रूप में, 20:4, 40:8

- की शक्ति, 58:4

- की वापसी, 33, 81:14-15

- का स्थान, 27:8, 38:8

- की संकल्पनाएँ, 71:4

- ईश्वरीय लोकों पर, 82:17

टोलेमी, 7:14, 7:15, 81:13, 83:3

दण्ड,

- ईश्वर से दूरी रखने के रूप में, 67:8, 67:10, 75:2

- की राष्ट्र का दायित्व, 76:6, 77:2-3, 77:6, 77:10-11, 77:14

- शारीरिक, 75:2

- आध्यात्मिक, 60:3, 81:3, 84:9

- अंतिम, 62:2, 60:4

शुद्धिकरण, 19:6, 30:7, 67:7

- पश्चाताप के जरिए, 19:3-4, 20:5

पाइथागोरस, 7:14

गुण देखें ‘प्रवृत्तियाँ’ सद्गुण

कुद्दूस, 11:28-31

कुरआन, 7:11, 7:13, 7:15

- का धर्मविधान, 11:5-6, 11:23, 11:25

- से अनुवाक्य, 2:105, 32:1 3:74, 32:1, 6:103, 37:4, 17:60, 81:8, 19:17, 17:3, 23:14, 47:9, 60:4, 36:36, 17:4, 36:38, 7:14, 36:40, 7:14, 37:62-6, 81:12, 44:43-6, 81:8, 48:1-2, 44:11, 48:8, 11:12, 56:52-3, 81:8, 59:2, 37:10, 81:13

यथार्थ (वास्तविकता) देखें ‘परिवर्तन’, आध्यात्मिक यथार्थ अपरिवर्तनशील’, ‘बुद्धिगम्य यथार्थ’, ‘मनुष्य का यथार्थ’, ‘इन्द्रिगम्य यथार्थ’ भी।

- ईसा के, 25:2, 27:5-8, 27:8, 29:4, 29:7, 30:7 39:4, 63:2

- प्रासंगिक, 62:2

- की श्रेणियाँ, 82:17-18

- के अनुसंधान (खोज), 48:4, 58:4

- दैवीय, 27:2-8, 29:3, 37, 43:3, 54:2-7, 55:5, 59:4, 59:8-9, 82

- वैयक्तिक, 39:6, 82

- अवतारों के, 16:10, 39:3, 39:4-6, 45:5

- की प्रगति, 54:3, 62:3

- की खोज, गग

- आध्यात्मिक, 18:3

- असंयोजित, 82:2, 82:6

- ब्रम्हाण्डीय, 59:8

तर्क बुद्धि (विवेक, युक्ति) xiv, 36:4, 60:7, 76:2-3, 83:3-6, 84:7 देखें ‘मानव मन’ भी।

‘राड’ (नरकुल) (जॉन का धर्मप्रकाशना), ’पूर्ण मानव’ के रूप में, 11:1-2

पुनर्जन्म,xiii, 81

सम्बन्ध, अनिवार्य, 40:8-9

धर्म देखें ’ईश्वरावतारों, द्वारा स्थापित धर्म विधान, और वैयकितक धर्म भी।

- दुल्हन के रूप में, 13:1, 13:4

- प्रत्येक धर्म के चयनित जन, 11:36

- के चक्र, 14:7-12, 43:9-12

- का ह्रास, 11:22-6

- के नींवाधार, 11:24, 60:2

- ईश्वर का, 11:7-10  
- विज्ञान और धर्म का समन्वय xiv

- पवित्र नगर के रूप में, 13:1, 13:3-4

- सभ्यता पर प्रभाव, 84:9

- अवतारों की धर्म-स्थापना, 40:8-9, 43:3, 43:3, 43:5, 43:9

- भौतिक पहलुओं का परिवर्तन, 11:10, 13:2

- आवश्यक सम्बन्धों के रूप में, 40:8

- नव जेरूसलम के रूप में, 13:1, 13:3-4

- सत्य के उन्नायक रूप में, 34:10

- आध्यात्मिक नींवाधार अपरिवर्तित, 11:7-9, 11:12, 11:28, 11:42-43

पश्चाताप, का बपतिस्मा, 19:3-4, 20-5

प्रतिकार, देखें ‘प्रतिशोध’

प्रत्यागमन (वापसी), देखें ‘पुनर्जन्म’ भी।

- ईसा का, 16:8, 26

- भौतिक जगत में, 14:6, 14:11

- ईशदूतों का, 33, 81:14-15

धर्मप्रकाशना, दिव्य, 3:18, 11:2, 35:3, 35:5, 37:11, 37:13, देखें बहाउल्लाह, की धर्मप्रकाशना, ईश-शब्द, और बाइबिल में, उसके अनुवाक्य

प्रतिशोध, 43:12, 76:5-6, 72:2, 77:5-7

पुरस्कार, 60:2-4, 81:3, 84:9

सदाचार (धर्मपरायणता), 29:5 देखें ‘सत्कर्म’ भी।

दण्ड (डण्डा),11:2

- जेसी (ईसाइया) का 12:1-2, 12:7

रोम, 5:5, 6:2, 13:6, 34:4, 34:9

रूमेलिया, देखें ‘एड्रियानोपल’

सआदत (परमानन्द), 15: 2 एन 68

(टाट) सैकक्लाथ (जॉन की धर्मप्रकाशना) 11:12

मुक्ति, 10:7, 65, 84:2

सैमुएल, 37:13

निर्मलीकरण/निर्मलता, 19:6, 30:7, 67:7, 82:16, 82:18  
विज्ञान, xiv , 34:10-11, 48:4, 57:10, 58:3, 71:6

देखें, ‘खोजें’, ‘विकासक्रम’, ‘औषधि’ भी।

धर्मग्रन्थ 10, 30:5, 43:3, 83:6, देखें, ‘बाइबिल’, ‘कुरआन’ भी।

ऋतुएँ, 14:1-11, देखें शरद, बसंत, ग्रीष्म, शीतऋतु भी।

बीज, 14:3, 29:11, 37:13, 53:4, 82:16

- से वृक्षों तथा फूलों का प्रसरण, 47:7, 51:3-4, 54:3

अन्वेषी, 10:7, 14:12, 22:4, 84:6

आत्मबलिदान (आत्मत्याग), 67:7

संवेदनाएं, 62:2, 64:1, 82:17

इन्द्रियाँ, 67:6, 71:7

- पशुओं में, 48:2, 48:4-7, 55:4, 58:2

- के द्वारा समझ, 16:2, 61:1, 83:2, 83:7

- के जरिए बोध, 67:5, 74:1-2

- की शक्ति, 36:2, 48:11, 59:6

इन्द्रिगम्य/गोचर यथार्थ, 3:10, 16, 25:3, 74:4, 83:2

- की खोजें, 48:6-7

- का बोध, 36:2, 74:1, 74:2

सप्र, और आदम तथा हौवा का पाप, 30:2, 30:6, 30:8, 30:11

सेवाभाव, 62:1-3  
शोग़ी एफ़ैन्दी, xv-xvi, xvi-xvii

दृष्टि, की इन्द्रिय, 56:1, 61:1 देखें दृष्टिहीनता, नेत्र

- पशुओं में, 48:5

- की शक्ति, 3:8, 56:1, 56:3, 56:4, 59:6, 84:7

साइमन, देखें पीटर (प्रेरिती)

पाप, 29, 30 देखें ‘बुराई’, ‘अन्याय’ भी।

निद्रा, 16:8-10, 38:8, 39:6, 58:5, 61:2-3, 71:8

गंध, की इन्द्रिय, 16:2, 16:3, 48:5, 56:1, 56:4, 73:2, 73:6, 83:2

सुकरात, 5:3

सॉडम, 11::22

सौर प्रणाली, 7:14-15, 42:2, 48:7, 83:3

सोलोमन, 11:4, 43:5

‘सम आन्सर्ड क्वैश्चन्स’

- का अब्दुल बहा द्वारा पुनरीक्षण, ii:xiii  
- के प्रथम संस्करण, xii-xvi  
- फारसी मूलपाठ, xii,xix,xx  
- शोगी एफैन्दी, की मंजूरी, xvi-xvii  
- की विषय-वस्तु, xii-xiii  
- के अनुवाद, xii, xv-xvi, xvii, xix  
ईश्वर का पुत्र, देखें ईसामसीह  
कुतर्की (वाक्छली), 79:1

दुख, 16:4, 39:6, 48:4

आत्मा, 55, 58:3, 60:4, 71:7 देखें ईश्वरावतारों, का स्थान, बुद्धिसंगत आत्मा, मानव चेतना भी।

- की वृत्तिया (गुण), 57:9, 59:7-8

- की दृष्टि हीनता, 31:3-6

- अन्य आत्माओं का उपचार, 72:5-6

- दिवंगत के लिये प्रार्थनाएँ, 62/3-4, 62:6-7, 66:6

- मरणोपरान्त प्रगति, 62,64,66

- आवरित, 65:3, 67:10

प्रजाति, देखें ‘पशु जगत’ का विकासक्रम और रूपान्तरण भी 50:1-4, 64:1

- की मौलिकता, 47:11, 49:2-8

- का संगठन, 38:5-6

- की वापसी और पुनरावृत्ति, 81:7

- शब्द का प्रयोग, 14, 46 1 एन 127

वाणी (वाक) 61:1, 84:7

चेतना(एँ), 55, देखें ‘पावन चेतना’ भी।

- पशु, 36:2, 36:3, 48:11, 55:2, 55:4

- द्वारा बपतिस्मा, 19:5-7

- से वार्तालाप, 71

- की श्रेणियाँ, 16:4, 81:10

- की शिक्षा, 57:8

- दिव्य, 36:6

- के प्रकार, 36, 55:2

- खनिज, 36, 1 एन 110

- वनस्पति, 36:1, 37:13

चेतना, मानव, 20, 36:3’5, 40:5, 51 देखें ‘आत्मा’ भी।

- से शरीर का सम्बन्ध, 52, 80:4, 81:11

- का बन्धन, 30:6, 30:8-9

- का सारभूत पूर्व-अस्तित्व, 80:4

- की अनश्वरता, 5:3, 60, 61

- का जीवन, 67:3-5

- का अवतारों का प्रबोधन, 42:3, 42:5

- का प्रारम्भन, 38:5-6

- की पूर्णताएँ, 52:3, 52:5

- की शक्ति, 30:12, 48:6-7, 48:11, 55:5-6

- ईश्वर से प्रसरण, 53:1-5, 54, 82:18

- की प्रगति, 63:2

- की वास्तविकता, 16:3, 16:4, 48:4

- ईश्वर के चिह्न रूप में, 37:13, 38:5-6

- निद्रा में, 61:2-3

- द्वारा देश-काल का अतिक्रमण, 67:2, 67:5

- की विधियों को समझना, 61:1

चेतना, आस्था की, 36:6, 55:2, 55:5, देखें ‘विश्वास और निष्ठा’ भी।

चेतना, ईश्वर की, देखें ईसामसीह की चेतना।

आध्यात्मिक उद्घाटन, 71

भव्यता (दीप्ति, महिमा, गौरव), अलौकिक, जैसे अवतारों का स्थान, 38:1, 38:4, 38:8

बसन्तकाल

- भौतिक, 14:2, 14:6, 16:9, 36:7, 42:4, 67:4

- आध्यात्मिक, 14:7-8, 14:11, 36:8-9, 42:5, 43:5

सितारे, 1:2, 23:5, 26:1, 25:5, 37:12, 69

प्रतिमाओं की पूजा, 43:8, 43:9, 43:11

दृढ़ता, 67:7

हड़ताल, 78

तत्व , 82:8-12

सूडान के लोग, 3:3

कष्ट , 75

सूफी, 82:1-7, 82:12, 82:15, 82:16, 82:17

ग्रीष्म, 14:3, 14:8-9, 42:4

सूर्य, 13:4, 35:6, 36:3, 63:3, 84:10

- के चक्र, 14:12-13, 14:15, 42:4

- द्वारा पृथ्वी का पालन, 53:2

- फारस का प्रतीक रूप, 13:4

- का अस्तित्व, 26:5, 46:5

- का प्रकाश, 28:2, 37:12, 39:3, 39:6, 42:2, 53:2-3, 84:10

- की अवतारों से तुलना, 42:5, 43:3

- से दर्पण का सम्बन्ध, 24:2, 25:4-5, 27:4-6, 36:7, 37:5, 39:4, 54:5-6, 55:5, 61:6, 67:5, 81:11

- का पूर्ण संघटन, 1:2, 18:2

- की तुलना में ईशदूतकर्म, 38:7

- की किरणें, 31:2, 36:7, 45:2, 49:5, 50:2-3, 52:3, 52:5-6, 55:6, 80:4, 82:16-18

- की वास्तविकता, 59:4, 59:8

- जीवन स्रोत के रूप में, 42:2, 53:2

वसीयत की पाती, देखें ‘बहाउल्लाह के लेख’, ‘संविदा की पुस्तक’।

स्वाद, की इन्द्रिय, 56:1, 56:4, 83:2

- पशुओं में, 48:5, 73:6

शिक्षाएं, दैवीय

- बहाउल्लाह की, 9:13

- ईसा की, 21:4, 21:7

- का विस्तार, 13:2, 42:5

- में प्राप्य सच्चा सुख, 15:8, 84:11

- की अपरिवर्तनीय प्रकृति, 11:42-43

टेलीग्राफ (तार), 1:4, 17:5, 48:4 देखें ‘आविष्कार’ भी।

मंदिर (येरूसलम), 11:3-8, 11:11, 11:42

दस आज्ञाएँ, 43:9

परीक्षाएँ, देखें ‘शहादतें’, यंत्रण

चोरी, के विरूद्ध नियम, 11:18, 76:3

ब्रम्हविद्यावादी, 81:9, 82:1-7, 82:12, 82:15

वस्तुएँ (चीजें),

- की खोज, 58:4

- की उत्कृष्टता या निम्नता, 76:2-3

- का अस्तित्व, 80:3, 80-7

- की अपूर्णता, 38:6

- का ज्ञान, 45:2, 59:3-4, 82:5-6

- अविद्यमान, 60:5

- सभी की प्रगति, 63

- की वास्तविकताएँ, 3:10, 20:2, 22:1, 35:4, 40:8, 71:6, 84:2

विचार, 20:7, 56:2, 56:3, 56:4 देखें ‘मानव मन’ भी

- का अवतारों द्वारा प्रबोधन, 42:3, 42:5

तेहरान, से बहाउल्लाह का निष्कासन, 9:5

समय (काल), 39:7, 47, 67:1-2, देखें ‘पूर्व-अस्तित्व’ भी।

तौरेत, 54:1, 83:6, 84:12 देखें बाइबिल में भी, अनुवाक्य निम्नांकित से-

- में भविष्वाणी युगल अवतार की, 10:16-22

- में आज्ञाएं एवं नियम, 11:12, 20:5, 20:8, 43:9, 76:2

- में वर्ष का अर्थ दिन, 10:12, 10:16

- का मुहम्मद द्वारा बचाव (अनुरक्षण), 7:12

- ईसा के सम्बन्ध में भविष्यवाणियाँ, 13:14

- वचनदत्त ईशदूत के सम्बन्ध में भविष्यवाणियाँ, 35:3

- युगल अवतार के सम्बन्ध में भविष्यवाणियाँ, 10:8

- में आदम और हौवा का पाप, 30

यंत्रण (यातना), 75

स्पर्श, की इन्द्रिय, 56:1, 83:2

पारम्परिक कथन, 10:3, 14:9, 20:4 एन 80

- समझ की कसौटी के रूप में, 83:6-7

- इमाम अली के, 37:2, 37:8

- से प्रमाण, 10:6, 10:8-22

महिमानवीयकरण का दिवस, 33:4, 71:7, 71:9

रूपान्तरण, 53:7, 81:8, 84:12, देखें ‘परिवर्तन’ भी।

प्रवास (प्रवजन), 81:3, 81:5, 81:11

विश्वासघात (कपट), 64:4, 75:1, 76:3

वृक्ष, देखें ‘बीज’ भी, वनस्पति जगत

- का सौन्दर्य एवं पूर्णता, 32:3

- का फल, 49:4, 50:5, 51:3-4, 52:4, 55:6

- शुभ और अशुभ का, 30

- समझने की अयोग्यता, 50:6

- बीज से वृक्ष तक की प्रक्रिया, 51:3-4, 54:3, 82:16

- से ईशदूतों की तुलना, 44:5

- की वापसी और पुनरावर्तन, 81:7, 81:8

- की तुलना धर्मो से, 43:10

जैकूम का वृक्ष, 81:8 एन 157

“ट्रैफा” (अस्वच्छ), 76:2

विश्व न्यायाधिकरण, 12:4

त्रित्व (त्रियेक परमेश्वर), 16:7, 27, देखें ‘ईश्वर’, पावन चेतना, ईसामसीह भी।

विश्वासपात्रता, 64:4

सत्य और सत्यपरायणता, 64:4, 67:7

- ईसा की, 22:5

- के केन्द्रों के रूप में अवतार, 40:8-9, 42:3, 45:5

- के प्रोत्साहक के रूप में धर्म, 34:10

- की खोज, 10:7, 14:12, 14:14

- आध्यात्मिक, 11:7, 25:7-8

युगल अवतार, के सम्बन्ध में भविष्यवाणियाँ, 10:8-22 देखें ‘बाब’, ‘बहाउल्लाह’ भी।

उम्य्यद, 11:20, 11:22, 13:6-7

समझदारी, देखें ‘ज्ञान’ भीं

- की पशुओं की शक्तियाँ, 48:2

- की कमी, 1: 74:3

- आध्यात्मिक, 61:1, 71:6, 71:7

एकता, 27:8, 47:3 देखें ‘ईश्वर का एकत्व’ भी

- बहाउल्लाह द्वारा आनीत, 12:4, 12:6-7

- ईसा द्वारा आनीत, 3:13-14, 12:3

- अस्तित्व की, 82

- अवतारों की, 11:37

- आत्माओं की, 71:7

विश्व न्याय मंदिर, 14, 45:4

विश्व न्यायाधिकरण, 12:4

विश्व-ब्रह्माण्ड

- का अस्तित्व, 80:6, 81:12, 81:13

- असीम, 81:12, 81:13

- के रहस्य, 3:10, 34:11, 64:4

- में व्यवस्था, 32:2-7

- का मूलोद्गम, 17

वैध, 13:6

वनस्पति जगत, 64:1, 82:11 देखें ‘फूल’, पौधै, बीज, वृक्ष भी

- में श्रेणियाँ तथा स्थान, 32:6, 40:7, 62:1-2

- में सुख-शान्ति, 15:3, 15:6

- में परिष्कार (जुताई आदि) की आवश्यकता, 3:1, 3:2

- की पूर्णताएँ, 32:2, 32:3, 46:6, 51:4, 82:16

- की चेतना, 55:2, 55:3

- में रूपान्तरण, 49:3-4, 49:7

प्रतिशोध, देखें ‘बदला (प्रतिशोध) भी।

अवशेषी अंग और अवयव, 47:11, 49:3-6

दुर्गुण (दुराचार, भ्रष्टता), 36:5, 57:12, 60:3, 64:4

हिंसा, के विरूद्ध ईसा की शिक्षाएँ 43:12, देखें ‘प्रतिशोध’ भी।

सद्गुण

- की प्राप्ति, 3:4, 15:7, 36:5, 81:11

- ईसा के, 37:13

- मानव, 11:7-9, 11:19, 11:24-25, 60:3, 66:4, 74:2

- अवतारों के, 38:1

- आध्यात्मिक, 11:7, 29:3, 84:2-3, 84:6, 84:10

- में सच्चा सुख है, 15:7

संकल्पना(एँ)

- बाइबिल में, 71:2, 71:9

- भौतिक, 37:12, 50:3, 61:2, 83:2

- आध्यात्मिक 2:8, 61:2, 71

सजगता (सचेतना) 16:8, 38:3, 61:2, 61:4, 71:4

युद्ध

- अरब जनजातियों में, 7:4, 7:6

- जानवरों द्वारा (‘बाइ वीस्ट’) (जॉन की धर्मप्रकाशन) 11:20-1

- ईसामसीह के बीच, 43:12

- फ्रांस और जर्मनी के बीच, 9:16

- का मुस्लिम विधान, 7:9

- वर्जित होगा, 12:4

पानी (जल) 1:3, 11:17, 19:5-7, 20:5, 73:7

दुर्बलता(एँ), 2:3, 37:7, 57:5, 74:4, 82:14 देखें ‘अपूर्णता’ भी

सम्पदा (धन-दौलत, 2:4, 75:6, 62:4, 62:5, 74:6, 82:14

- निर्धनता और सम्पदा में असमानता, 78:2-8, 78-12

मानव कल्याण, 3:6, 78:12

इच्छा, 1:3, 32:5

- स्वतंत्र, 35, 70

- आदि, 53:5

सदी ऋतु (शीत, शिशिर), 14:5, 14:10

विवेक

- ईश्वर का, 11:13, 20:8, 47:5, 47:8

- मानव, 49:5

- अवतारों का, 45:5-6

साक्षी (गवाह), दो (जॉन की प्रकाशना), 11 विषाद (शोक, व्यथा) (‘वूज’, जॉन की धर्म प्रकाशना), 11:34

सूर्य से वस्त्रावेष्ठित स्त्री (‘वुममन क्लेद्ड विद सन): जॉन की धर्मप्रकाशना), 13:4-12

अरब जनजातियों द्वारा महिलाओं से बर्ताव, 7:3-7

ईश-शब्द, देखें ‘ईसामसीह’ भी,

- दैवीय धर्मप्रकाशना अवतारों का शब्द हैं, 44:5

- का साक्षात स्वरूप, 54:5-7

- से विरासत में प्राप्त मनुष्य की आध्यात्मिक प्रवृत्ति (स्वभाव), 29:2, 29:7, 30:9

- का पूर्व-अस्तित्व (पूर्वास्तित्व), 28:3, 28:4, 80:7

- से प्रकटीकरण (प्रकाशन), 37:11

- का स्थान, 30:7, 38:4, 38:7, 38:9

कार्य और कार्यकर्ता, 76:1, 78:1, 78:4-11

कार्य और आस्था, 65 देखें ‘सत्कर्म’ भी।

सापेक्ष जगत, 2:3-6, 3:11, 11:10, 20:2, 20:4, 29:5 देखें, ‘सृष्टि’, ‘अस्तित्व’ भी।

- से आसक्ति, 30:6, 30:8-9, 30-12

- में चक्र, 14:1-6

- में श्रेणियाँ तथा स्थान, 32:6, 46:3

- का अस्तित्व, 38:5, 42:2, 47:6, 79:2, 80:6

- में ईश्वरीय ज्ञान, 35:4

- में अपूर्णता, 2:3, 27:4, 37:7

मिर्जा याह्या, 64:4

यजीद, 13:6

जैकूम का वृक्ष, 81: 8 एन 157

राशि, 14:12-13 देखें ‘सौर प्रणाली’ भी।

पारसी धर्म, युगल अवतार के सम्बन्ध में भविष्वाणियाँ, 10:8